त्रैमासिक • जुलाई–सितम्बर 1999 • पन्द्रह रुपये

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

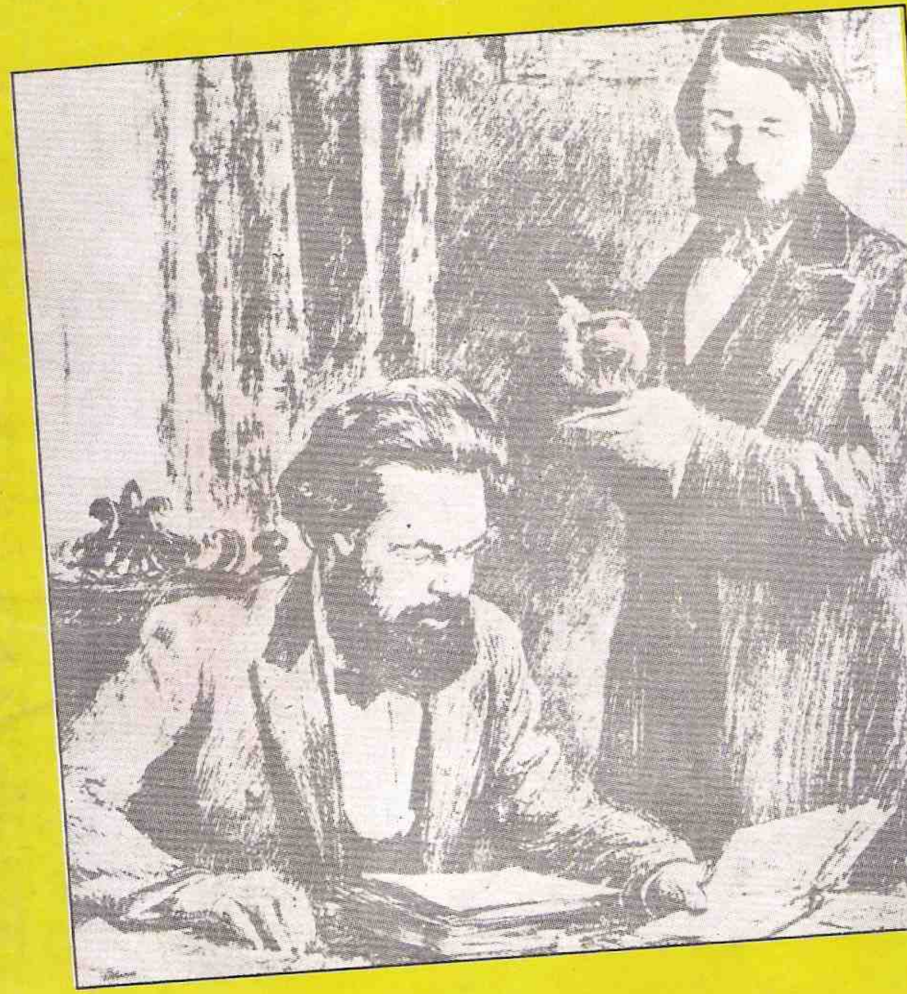

इस अंक में विशेष

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन के 150वें वर्ष पर

कम्युनिस्ट लीग (1847-1852) का इतिहास

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति

थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र

कृषि पर साम्राज्यवादी जकड़ का विस्तृत विश्लेषण

तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा

स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र

भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज

पॉल राबसन : जिनकी आवाज को दबाया नहीं जा सका

क्रान्तिकारी चीन में स्त्री मुक्ति के ठोस कदम

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त

राजनीतिक टिप्पणियां

दायित्वबोध

हिन्दी में अपने ढंग की अकेली पत्रिका

जिसका हर अंक संग्रहणीय है

पिछले अंकों में प्रकाशित कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण सामग्री

वर्ष 3 अंक 1-2
नवम्बर '95- फरवरी '96

साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है (भूमंडलीकृत पूंजीवाद के चरित्र और उसके अन्तर्निहित संकट का विस्तृत विश्लेषण) • *लेनिन का ऐतिहासिक लेख :* सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति • *माओ त्से-तुङ का लेख :* जनवादी केन्द्रीयता का सवाल • आइजेंस्ताइन और *'पूंजी'* पर फिल्म बनाने की योजना • शिखर पर रुदन : आत्म-विश्लेषण और आत्म आलोचना से आत्म-भर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा • माओ और सुरजीत पातर की कविताएं • पूंजीवाद के असाध्य रोग

वर्ष 3 अंक 3-4-5,
मार्च-अगस्त 1996

रेमण्ड लोट्टा का महत्वपूर्ण लेख : माओवादी नियोजन का सिद्धान्त और व्यवहार : एक स्वप्नदर्शी और व्यावहारिक समाजवाद के पक्ष में • भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष • आज के दौर में नारीवादी लेखन : कुछ अहम सवाल, कुछ बुनियादी समस्याएं • *हावर्ड फास्ट के विश्वविख्यात उपन्यास* 'दि अमेरिकन' के अंश • साम्राज्यवाद की अपरिवर्तनीय प्रकृति

वर्ष 3 अंक 6,
सितम्बर-अक्टूबर 1998

मार्क्स और पर्यावरण • क्रान्ति का विज्ञान • विज्ञान, कला और अधिरचना—*एमिल बर्न्स* श्रम की लूट पर टिकी व्यवस्था में 'बचपन बचाया' नहीं जा सकता • ताचाई की कहानी • कम्प्यूटर एवं पूंजीवाद : प्रौद्योगिकी का त्रासद दुरुपयोग • 'जनवाद' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व

वर्ष 4 अंक 1-2
नवम्बर '96-फरवरी '97

समाजवाद के सिद्धान्त और प्रयोग, समस्याओं और चुनौतियों पर *विशेष सामग्री* माओ के अमर अवदान और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की युगान्तरकारी शिक्षाएं • स्तालिन : एक मूल्यांकन • स्तालिन के समय में सोवियत समाजवाद • रूसी क्रान्ति का मूलभूत अभिप्राय—*रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग* • सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति क्या, क्यों और किस प्रकार • सोलहसूत्रीय सर्कुलर • सांस्कृतिक क्रान्ति के सैद्धान्तिक आधार के बारे में—*जार्ज थामसन* • कला में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और यथार्थवाद पर मार्क्स-एंगेल्स • पाब्लो नेरुदा और माओ त्से-तुङ की कविताएं

वर्ष 4 अंक 3-4
मार्च-जून 1997

मजदूर आन्दोलन पर कुछ सवाल • पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएं • सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे • मुक्त बाजार की नारकीय गुलामी भोगती स्त्रियां • सूचना क्रान्ति का सच • भाषा की साम्प्रदायिकता और आतंकवाद

वर्ष 4 अंक 5-6
जुलाई-अक्टूबर 1997

एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी • *रेमण्ड लोट्टा का लेख :* माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य • *चाङ चुन-चियाओ का ऐतिहासिक लेख:* बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में • *सेर्गेई आइज़ेंस्ताइन का विचारोत्तेजक लेख :* कला का मनोविज्ञान • मार्क्सवाद के विरोध में ''नव'' दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक

वर्ष 5 अंक 1-2
नवम्बर '97-फरवरी '98

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के जन्मशती वर्ष पर विशेष : ब्रेख्त की अट्ठाइस कविताएं • *मोहन थपलियाल का लेख :* दुख के कारणों की तलाश का कवि • बेहतर है, विकल्प की बात करें • स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों का असली चरित्र • मदर टेरेसा और उनके उत्तराधिकारियों का ''मिशन'': सेवा का सच • हॉब्सबॉम की शताब्दी समीक्षा • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज • माओ त्से-तुङ की कविताएं

वर्ष 5 अंक 3-4
मार्च-जून 1998

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस में प्रस्तुत रिपोर्ट • 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की 150वीं वर्षगांठ पर विशेष लेख • ग्राम्शी का लेख 'बुद्धिजीवी' • शहीदेआजम भगतसिंह की जेल नोटबुक पर दो लेख • पूंजीवाद की पूंजीवादी समालोचना के निहितार्थ • मदर टेरेसा : मिथक और यथार्थ • शशि प्रकाश की पच्चीस कविताएं

वर्ष 5 अंक 5-6 वर्ष 6 अंक 1
जुलाई-दिसम्बर 1999

ब्रेष्ट, लोर्का और रॉबसन की जन्मशती के अवसर पर विशेष सामग्री : बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थिएटर • लोर्का की कविताएं • लोर्का पर नेरूदा की कविता • रॉबसन पर नाजिम हिकमत की कविता • पीकस्किल में पॉल रॉबसन • एजाज अहमद का लेख उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त और 'उत्तर'-अवस्था • गैर सरकारी संगठनों का असली मिशन • भूमण्डलीकरण और सामाजिक विज्ञान • *जार्ज थामसन का लेख :* माओकालीन चीन में मार्क्सवाद • हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ, जार्ज वेयेर्थ और पाब्लो नेरूदा की कविताएं।

पत्रिका के पुराने अंकों के लिए लिखें :

प्रसार व्यवस्थापक
दायित्वबोध
3/274, विश्वास खण्ड,
गोमतीनगर,
लखनऊ-226010

प्रत्येक अंक का मूल्य : पन्द्रह रुपए

दायित्वबोध के सभी पाठकों-सहयोगियों-प्रशंसकों से एक अपील

मित्रो, 'दायित्वबोध' लगातार आर्थिक कठिनाइयों से जूझ रहा है। अत्यंत महत्वपूर्ण और जरूरी सामग्री तैयार होते हुए भी हमें संसाधनों के अभाव में इसके अंक बार-बार स्थगित करने पड़े हैं और अपने पाठकों की शिकायतें सुननी पड़ रही हैं। पिछले छह वर्षों के सफर में 'दायित्वबोध' अपने पाठकों-सहयोगियों-प्रशंसकों की मदद से ही अनेक बाधाओं-चुनौतियों का सामना करते हुए आगे बढ़ता रहा है। आपके सक्रिय सहयोग पर दृढ़ विश्वास के दम पर हमने एक बार फिर इसे नियमित करने का संकल्प बांधा है।

'दायित्वबोध' के लिए नये वार्षिक/आजीवन सदस्य बनाएं • इसके लिए विज्ञापन जुटाएं • इसका एक स्थायी कोष बनाने के लिए सहयोग जुटाएं।

विज्ञापन दरें

चौथा कवर (रंगीन) : रु.10000.00 • (सादा) : रु. 5000.00
• भीतरी कवर (रंगीन) : रु. 8000.00 • (सादा) : रु. 4000.00
• सम्पूर्ण पृष्ठ : रु. 3000.00 • आधा पृष्ठ : रु. 1600.00
• चौथाई पृष्ठ : रु. 800.00 • पैनल : रु. 500.00
• क्लासीफाइड : रु. 250.00

➤ चेक/ड्राफ्ट ''दायित्वबोध'' के नाम से दें। ➤ विज्ञापन सामग्री आदि कृपया इस पते पर भेजें : 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010 अथवा हमारे इन प्रतिनिधियों को दे सकते हैं : सत्यम वर्मा, वरिष्ठ उपसम्पादक, यूनीवार्ता, 9, रफी मार्ग, नई दिल्ली-110001 • अरविंद सिंह, संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर-273001 • डी.के. सचान, कृषि विज्ञान केंद्र, विकास भवन, कलक्ट्रेट, गाजियाबाद • ललित सती, भारतीय जीवन बीमा निगम कार्यालय, रुद्रपुर, ऊधमसिंहनगर

46

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति

थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र

(A Short Organum for the Theater)

तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा

10

भूपेश कुमार सिंह / प्यारेलाल

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तीसरी दुनिया के पिछड़े, उत्तर- औपनिवेशिक देशों में कृषि-अनुसंधान का जो ढांचा खड़ा किया गया है, वह वास्तव में साम्राज्यवादी देशों द्वारा थोपा गया मॉडल है और अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के हितपोषण के लिए निर्धारित-अनुकूलित है। विश्व पूंजीवादी तंत्र के अन्तर्गत साम्राज्यवाद के 'जूनियर पार्टनर' के रूप में काम करने की भारतीय शासक पूंजीपति वर्ग की आवश्यकता और बाध्यता उसे ज्यादा से ज्यादा विवश करती रही है कि वह न केवल कृषि क्षेत्र को राष्ट्रपारीय निगमों का 'मुक्त चरागाह' बना दे, बल्कि शुरू से ही वह कृषि के ''विकास'' के लिए पश्चिम का मुंह जोहने के लिए मजबूर रहा है और यहां तक कि कृषि के पूंजीवादी विकास की नीतियां तय करने का काम भी इसने साम्राज्यवादी एजेंसियों के दिशा-निर्देशों के हिसाब से ही किया है।

इस अंक में

आपकी बात

अपनी बात

स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र..........5

विशेष लेख

तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा
—*भूपेश कुमार सिंह / प्यारेलाल*..........10

भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न—*सर्वहारा चेतना केन्द्र*..........27

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन के 150वें वर्ष के अवसर पर कम्युनिस्ट लीग (1847-1852) का इतिहास—*डी. र्याज़ानोफ़*..........35

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के चुने हुए दस्तावेज
पूंजीवादी पथगामी पार्टी के भीतर बैठा बुर्जुआ वर्ग है—*फांग कांग*..43

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति
थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र..........46

पॉल रॉबसन के जन्मशती वर्ष के अवसर पर
पॉल रॉबसन और दु बोइस : जिनकी आवाज को दबाया नहीं जा सका —*चार्ल्स डब्ल्यू. चेङ*..........58

माओवादी चीन में बच्चों की सामूहिक देखभाल ने औरतों को किस तरह आजाद किया! —*ली ओनेस्टो*..........61

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (सत्रहवीं किस्त)
राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने में हमें आधार के रूप में कृषि पर और नेतृत्वकारी उपादान के रूप में उद्योग पर भरोसा करना चाहिए........65

टिप्पणियां

बीमा विधेयक : राजनीतिक उठापटक से पैदा अनिश्चितता के बावजूद साम्राज्यवादी डाकुओं के ध्वजपोत को हरी झंडी मिलना तय ❍ भारतीय पूंजीवादी राजनीति : दलदल में फंसा हाथी ❍ वाजपेयी सरकार के तेरह महीने : जो जख्म मिले हैं उनकी टीस लम्बे समय तक महसूस होती रहेगी ❍ यूगोस्लाविया पर नाटो की बमबारी : रक्तपिपासु साम्राज्यवाद की ''मानवतावादी'' जंग ❍ 'आपरेशन एलाइड फोर्स' की ''चूकें'' और पश्चिमी मीडिया के झूठ..........75-85

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन के 150वें वर्ष के अवसर पर

कम्युनिस्ट लीग (1847-1852) का इतिहास

महान अक्टूबर क्रान्ति के बाद समाजवादी सोवियत संघ में स्थापित 'मार्क्स-एंगेल्स संस्थान' के निदेशक और मार्क्सवाद के अधिकारी विद्वानों में से एक

डी. र्याज़ानोफ़ की कलम से

35

भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न

सर्वहारा चेतना केन्द्र
बिहार

27

माओवादी चीन में बच्चों की सामूहिक देखभाल ने औरतों को किस तरह आजाद किया!

• ली ओनेस्टो

61

पॉल रॉबसन के जन्मशती वर्ष के अवसर पर

पॉल रॉबसन और दु बोइस : जिनकी आवाज को दबाया नहीं जा सका

चार्ल्स डब्ल्यू. चेङ

58

आज मानव हमारी समाज-व्यवस्था के भरभराकर ढह जाने के साथ उत्पन्न होने वाली बाह्य वस्तुगत विभीषिकाओं के खिलाफ, बेकारी और कृषि के ह्रास के खिलाफ, मशीन के प्रभुत्व के खिलाफ लड़ने को बाध्य है। साथ ही उसे अपने मस्तिष्क के अंदर इन सब चीजों के मनोगत प्रतिबिम्ब के खिलाफ भी लड़ना है। उसे लड़ना है दुनिया को बदलने के लिए, सभ्यता को बचाने के लिए। और, साथ ही उसे मानव आत्मा में पूंजीवादी अराजकता को खत्म करने के लिए भी लड़ना है।

—राल्फ फाक्स

(उपन्यास और लोकजीवन)

दायित्वबोध

वर्ष-6 अंक 2; जुलाई-सितम्बर 1999

प्रधान सम्पादक : **विश्वनाथ मिश्र**
सहायक सम्पादक : **अरविन्द सिंह**
संयुक्त सम्पादक : **ओमप्रकाश सिन्हा**
सत्यम वर्मा

सज्जा : **रामबाबू**

आवरण का चित्र : मार्क्स-एंगेल्स का एक जर्मन चित्रकार का बनाया स्केच

सम्पादकीय कार्यालय :
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010 फोन : 308896

एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 60 रुपये
आजीवन : 1000 रुपये

●

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णत: अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

कम्पोजिंग : **कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010**

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम. आई.जी. 134, राप्तीनगर फेज-एक, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित

आपकी बात

- 'दायित्वबोध' का जुलाई-दिसम्बर 1998 का अंक देखा। अंक बहुत अच्छा निकला है। सामग्री की दृष्टि से बहुत समृद्ध। ब्रेष्ट-लोर्का-रॉबसन पर विशेष सामग्री बहुत ही उत्तम है।

'दायित्वबोध' जैसी पत्रिका की एक लम्बे अरसे से अत्यधिक आवश्यकता थी। अच्छा यह है कि धीरे-धीरे पत्रिका अब अपना एक ठोस आकार—एक निश्चित चेहरा पा गई है। क्रान्ति के अपरिहार्य सत्य के विश्वास को, अन्तरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य के चिन्तन और मंथन से पुन: विकसित करने की चेष्टा अवश्य ही नयी ऊर्जा उत्पन्न करेगी।

— सुधांशु कुमार मालवीय
28, अमरनाथ झा मार्ग, इलाहाबाद

- 'दायित्वबोध' जुलाई-दिसम्बर '98 मिला। आपकी बात में श्री सुरेन्द्र कुमार, दिल्ली के विचार पढ़कर उद्वेलित हुआ। ऐसे लोगों को हम नई पीढ़ी के लिए निरन्तर अपने अनुभवों को बांटना चाहिए। समय-समय पर मार्गदर्शन, सुझावों और आशावाद से नवाजा जाना चाहिए। जहां और जब भी हम पर निराश, कुंठा का कोहरा छाने लगे ऐसे लोगों को सहयोग और स्नेह देकर उत्साह के दीपक में तेल का काम करना चाहिए। तभी और निरन्तर अंधेरे में उजाला होता जायेगा।

दूसरी ओर सबसे बड़ी बात यह है कि कोई भी आन्दोलन, कोई भी विचारधारा, कोई भी सोच तब तक सार्थक नहीं हो सकती जब तक उसमें निष्ठावान और समर्पित कार्यकर्ताओं का निरन्तर आगमन नहीं होगा। हम सबको अधिक नहीं तो कम से कम अपनी विचारधारा के अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार के लिए आप जैसे समर्पित व्यक्तियों द्वारा प्रकाशित साहित्य की प्रतिमास अधिक नहीं तो अपनी आय का 2 प्रतिशत की पुस्तकें खरीद कर अपने-अपने क्षेत्रों में उन्हें बांटना चाहिए। इससे जहां आप जैसे लोगों का उत्साहवर्द्धन होगा वहीं विचारों को प्रचारित होने में बड़े स्तर पर प्लेटफार्म बनेगा।

हमने अपनी मासिक मीटिंग में विशेष रूप से 'जनचेतना' द्वारा प्रचारित/प्रकाशित साहित्य को अधिक से अधिक और नियमित खरीद का प्रस्ताव डलवाया। हमें पूरी उम्मीद और हमारी भरपूर कोशिश होगी कि वर्ष 1999 में हम साथी सभी प्रकाशनों की 500-500 प्रतियां लोगों तक पहुंचा कर छोड़ेंगे। इसके लिए हर सम्भव प्रयास किये जायेंगे।

— सुरेश जांगिड़
'अक्षरधाम', डी.सी. निवास के सामने, कैथल-106027 (हरियाणा)

'दायित्वबोध' जुलाई-दिसम्बर '98 अंक वास्तव में संग्रहणीय बन पड़ा है। ब्रेष्ट, लोर्का और रॉबसन की जन्मशतियों पर एक साथ इतनी महत्वपूर्ण और रोचक सामग्री कहीं और देखने को नहीं मिली। स्वयंसेवी संगठनों पर दिया गया विस्तृत लेख एक बेहद जरूरी काम को पूरा करता है। एन.जी.ओ. के विरुद्ध आपका सतत् अभियान इस खतरनाक साजिश के बारे में लोगों की आंखें खोल रहा है। आप यह एक बेहद जरूरी काम पूरा कर रहे हैं। एजाज़ अहमद का लेख तमाम ''उत्तर''-सिद्धान्तों पर एक करारी चोट है। इतनी जरूरी पत्रिका का नियमित न मिलना बहुत खलता है। इस ओर विशेष ध्यान दीजिए।

—आर.के. सिंह
विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली

ब्रेष्ट, लोर्का और रॉबसन की जन्मशती पर एक साथ इतनी सारी सामग्री पाकर तबियत खुश हो गई। एजाज अहमद, सी.पी. भाम्बरी और जॉर्ज थामसन के लेख बहुत महत्वपूर्ण थे। गैर सरकारी संगठनों के असली मिशन पर पुस्तक चर्चा के माध्यम से भूपेश कुमार सिंह ने अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्यात्मक सामग्री दी है। हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ और जार्ज वेर्यर्थ की कविताएं घोषणा पत्र के 150वें वर्ष में पढ़कर बहुत अच्छा लगा।

—असलम खान
बी.एच.यू., वाराणसी

स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र

'दायित्वबोध' के पिछले कुछ अंकों में हमने स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों के विश्वव्यापी संजाल के बारे में लगातार सामग्री दी है। आज यह तथाकथित ''मुनाफा रहित थर्ड सेक्टर'' एक भूमण्डलीय मकड़जाल के समान पसर चुका है और विश्व पूंजीवाद के एक प्रभावी सुरक्षाकवच के रूप में काम कर रहा है।

तीसरी दुनिया के देशों में विकास और जनकल्याण के नाम पर गैर-सरकारी संगठन (एन.जी.ओ.) या स्वयंसेवी संगठन (वालंटरी आर्गनाइजेशंस) नाम से जानी जाने वाली संस्थाओं की गतिविधियों का इतिहास पुराना है। पर आज इनकी गतिविधियों का स्वरूप जितना व्यापक और बहुआयामी हो गया है, उतना पहले कभी नहीं था। लुटेरे साम्राज्यवादी कारपोरेशनों का हित साधने और पूंजीवाद के दामन पर लगे खून के धब्बों को ढांकने-छुपाने का काम करते हुए स्वयंसेवी संगठन व्यापक जनता में भ्रम पैदा करने के साथ ही, उसके हर विरोध को व्यवस्था की चौहद्दी में कैद करने के लिए छद्‌म व्यवस्था-विरोध का कुचक्र रच रहे हैं और क्रान्तिकारी विरोध के संगठित होने की प्रक्रिया पर प्रभावी चोट कर रहे हैं। सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों और अकादमिक गतिविधियों में ये एन.जी.ओ. गहरी पैठ बना चुके हैं। दूसरी ओर इनकी खतरनाक भूमिका के सभी आयामों को पूरी गंभीरता से समझने वाले लोग कम ही हैं। **आम जनता और बुद्धिजीवियों में ही नहीं, क्रान्तिकारी आन्दोलन के दायरे तक में इनको लेकर गलत समझदारी या भ्रम बना हुआ है।**

पिछले कुछ अंकों में दायित्वबोध में इस विषय पर दी गई सामग्री का समाहार करते हुए **हम कुछ जरूरी बिन्दुओं को रेखांकित करना जरूरी समझते हैं।** नवम्बर '97-फरवरी '98 के अंक में प्रकाशित अपने लेख में **जोन रोयलोव्स** ने **मार्क्स-एंगेल्स** का जो सटीक उद्धरण दिया है उसे यहां फिर उद्धृत करना उपयोगी है :

''बुर्जुआ वर्ग का एक हिस्सा इसलिए सामाजिक व्यथाओं को दूर करना चाहता है ताकि बुर्जुआ समाज को बरकरार रखा जा सके।

''अर्थशास्त्री, परोपकारी, मानवतावादी, श्रमजीवी वर्ग की हालत सुधारने के आकांक्षी, दीन सहायता संगठक, पशु-निर्दयता निवारण समाजों के सदस्य, दारूबंदी के दीवाने, हर कल्पनीय प्रकार के अनजान सुधारक इसी श्रेणी में आते हैं। इसके अलावा, इस तरह के समाजवाद का पूरी की पूरी पद्धतियों के रूप में विशदीकरण कर दिया गया है।''

(कार्ल मार्क्स-फ्रेडरिक एंगेल्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र)'

बुनियादी रूप से यही बात आज 150 वर्ष बाद भी एन.जी.ओ. परिघटना पर लागू होती है। पूंजीवाद अपने आंतरिक अंतरविरोधों से अपने लिए विनाशकारी जिस गति को पैदा करता रहता है उसे मंदित करने की जी तोड़ कोशिश ही इनका असल उद्‌देश्य है।

पुराने समय के मिशनरी संगठनों से लेकर आज के गांधीवादी सर्वोदयी संगठन और भूदानी संस्थाएं, जिनकी कलई 1970 के दशक में ही खुल चुकी थी, पूंजीवाद द्वारा जनता पर थोपी जा रही बदहाली और संकट को भौतिकवादी जीवन दृष्टि, तर्कपरकता और विज्ञान की देन बताते हुए ''लोक-अनुभवों'' के नाम पर पुनरुत्थानवाद और अवैज्ञानिक जीवनदृष्टि का प्रचार करते हैं। *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* की शब्दावली का प्रयोग करें तो यह उन्नीसवीं शताब्दी में पूंजीवाद की आलोचना की सामंती समाजवाद की शब्दावली और तर्कों को उधार लेते हैं।

आज भी तमाम ऐसे एन.जी.ओ. हैं जो पर्यावरण संरक्षण के नाम पर प्रकृति की ओर वापसी का नारा देते हैं। ज्यादातर एन.जी.ओ. समाज को संचालित करने वाले नियमों की सार्वभौमिकता पर सवाल उठाते हैं। इनसे जुड़े बुद्धिजीवी ''बहुलतावाद'', ''जनता की नीचे से पहलकदमी'' आदि की सैद्धान्तिक वकालत करते हैं और

व्यावहारिक स्तर पर ये एन.जी.ओ. अलग-अलग मुद्दों पर, अलग-अलग इलाकों में आंदोलनों का पुरजोर समर्थन करते हैं। कहीं पर्यावरणीय विनाश, कहीं परिस्थितिकीय असन्तुलन, कहीं यंत्रीकृत मछलीमार नौकाओं से मछुआरों की आजीविका को खतरा, तो कहीं बांध बनने से आबादी का विस्थापन—इन स्थितियों को जन्म देने वाली व्यवस्था को दरकिनार कर ये केवल स्थानीय मुद्दा-विशेष को उठाते हैं। इस मामले में सारे एन.जी.ओ. एक हैं—गांधीवादी, सर्वोदयी संस्थाओं से लेकर हाल में पनपे नये ढंग के एन.जी.ओ. तक, जिन्हें उत्तरआधुनिक या उत्तरऔपनिवेशिक एन.जी.ओ. कहा जाये तो गलत नहीं होगा।

जिस प्रकार ज्ञान पाण्डेय सरीखे सबार्ल्टन इतिहासकार अमेरिका में बैठकर यहां सबसे दलित, सबसे उत्पीड़ित की दिल की बात पहचान रहे हैं, उसी प्रकार यहां एन.जी.ओ. समाज के तृणमूल स्तर पर समस्याओं की पहचान कर रहे हैं। विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में सबाल्टर्न इतिहास दृष्टि, उत्तरआधुनिकतावाद, उत्तरऔपनिवेशिकता आदि के नाम पर जो बौद्धिक कवायदें हो रही हैं, उनके तथा स्वयंसेवी संस्थाओं की गतिविधियों के बीच के योजक सूत्रों को आसानी से पहचाना जा सकता है।

स्वत:स्फूर्त आन्दोलनों में शिरकत और कहीं-कहीं उसकी अगुवाई करके ये एन.जी.ओ. स्वत:स्फूर्तता और स्थानीयतावाद को बढ़ावा देते हैं। चाहे ट्रालर्स के विरुद्ध मछुआरों का आन्दोलन हो या सूचना के अधिकार के लिए नागरिकों का, मुद्दे को वर्तमान लुटेरी पूंजीवादी व्यवस्था के चरित्र से जोड़ने से बचते हुए बड़ी सफाई से वे आन्दोलन को इस व्यवस्था की चौहद्दियों के भीतर सीमित कर देते हैं। भ्रष्ट और जनविरोधी पूंजीवादी पार्टियों के उदाहरण के बहाने जनांदोलनों और आम आबादी को गैर राजनीतिक बनाने की कोशिश में ये लगातार जुटे रहते हैं। पिछले दिनों पार्टियों से जनता को दूर करने के एन.जी.ओ. के प्रयासों के सफल माडल के रूप में अर्जेन्टीना की अखबारों में जो चर्चा हुई, उससे भी इस परिघटना को समझा जा सकता है। कुछ सर्वेक्षणों के मुताबिक अर्जेंटीना के युवा समुदाय के सिर्फ 13 प्रतिशत अब किसी राजनीतिक संगठन से जुड़ाव महसूस करते हैं जबकि 40 प्रतिशत सामुदायिक कार्यों (यानी एन.जी.ओ. मार्का गतिविधियों) से जुड़ना चाहते हैं। निश्चित रूप से साम्राज्यवादी मीडिया ऐसे आंकड़े प्राय: बढ़ा-चढ़ाकर पेश करता है, फिर भी इनसे एन.जी.ओ. गतिविधियों की मंशा तो साफ हो ही जाती है।

जिस प्रकार ज्ञान पाण्डेय सरीखे सबार्ल्टन इतिहासकार अमेरिका में बैठकर यहां सबसे दलित, सबसे उत्पीड़ित की दिल की बात पहचान रहे हैं, उसी प्रकार यहां एन.जी.ओ. समाज के तृणमूल स्तर पर समस्याओं की पहचान कर रहे हैं। विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में सबाल्टर्न इतिहास दृष्टि, उत्तरआधुनिकतावाद, उत्तरऔपनिवेशिकता आदि के नाम पर जो बौद्धिक कवायदें हो रही हैं, उनके तथा स्वयंसेवी संस्थाओं की गतिविधियों के बीच के योजक सूत्रों को आसानी से पहचाना जा सकता है।

यह कहने की जरूरत नहीं कि पार्टी पर एन.जी.ओ. और उनके सिद्धान्तकारों के हमले का निशाना वास्तव में पूंजीवादी पार्टियां नहीं बल्कि क्रान्तिकारी पार्टियां ही होती हैं। कुछ संगठन तो पार्टी ही नहीं बल्कि एकता को ही जनसमुदायों का सबसे बड़ा दुश्मन करार देते हैं। उनकी नजर में सिर्फ सामुदायिक एक्शन ग्रुप्स ही पूरी तरह जनपक्षधर हो सकते हैं। पार्टी विरोधी यह सोच दलित और स्त्री आन्दोलन में घुसकर तो खासा नुकसान कर ही चुकी है, मजदूर आन्दोलन के भीतर भी इसने कुछ छोटे-छोटे, संदिग्ध चरित्र वाले संगठनों के माध्यम से घुसपैठ शुरू कर दी है।

उजड़ती दस्तकारी, कृषि की नष्ट होती पुरानी तकनीकों आदि पर सामन्ती समाजवाद की शैली में रुदन-क्रन्दन और टिकाऊ (Sustainable) खेती व टिकाऊ विकास के नुस्खे परोसने वाली गांधीवादी-सर्वोदयी-भूदानी संस्थाओं से लेकर पर्यावरण, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि में लगे इनके नये 'उत्तरआधुनिक' संस्करणों तक का एक ही उद्देश्य है—वर्ग अन्तरविरोधों को धूमिल करना। चूंकि क्रान्तिकारी शक्तियां भी कई बार शुरुआती दौर में सुधार की कार्रवाइयां हाथ में लेती हैं, इसलिए कुछ लोग यह भ्रम पाल लेते हैं कि एन.जी.ओ. को साझे प्लेटफार्म के तौर पर इस्तेमाल किया जा सकता है। लेकिन ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि शुरुआती स्तर की सुधार की कार्रवाइयों तक में दोनों में जमीन-आसमान का अंतर है। एन.जी.ओ. के सुधार के कामों का उद्देश्य होता है वर्ग अन्तरविरोधों को धूमिल करना व व्यवस्था-विरोधी आक्रोश को टुकड़े फेंककर ठंडा करना जबकि क्रान्तिकारी शक्तियों के सुधार के कामों का परिप्रेक्ष्य बिलकुल अलग होता है। उनका उद्देश्य इन कामों के माध्यम से जनता को इस व्यवस्था की चौहद्दियों की पहचान कराना और इन चौहद्दियों को तोड़ने के लिए उसे संगठित करने का आधार तैयार होता है। क्रान्तिकारी शक्तियों और एन.जी.ओ. के दृष्टिकोण और पद्धति में इतना फर्क होता है कि दोनों को एक-दूसरे के खिलाफ सामने आने में देर नहीं लगेगी। तीसरी दुनिया के जिन देशों में क्रान्तिकारी आन्दोलन उन्नत स्तरों पर पहुंचा वहां एन.जी.ओ. के असली उद्देश्य बिलकुल साफ सामने आ गये और वे सीधे-सीधे आंदोलन के विरोध में खड़े दिखाई दिये। लातिन अमेरिका में क्रान्तिकारी आंदोलन को कमजोर करने में ''उत्कृष्ट'' भूमिका निभाने के लिए ऐसे कुछ सुधारवादियों को नोबेल पुरस्कार तक से नवाजा जा चुका है। लेकिन हमारे यहां इस धरातल पर भ्रम पैदा करने में एन.जी.ओ. इसलिए भी सफल रहे हैं क्योंकि एन.जी.ओ. मार्का सुधार कार्यों में फौरी कामयाबी सामने दिखाई पड़ती है जबकि क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य से किये जाने वाले सुधार का कई बार तत्काल नतीजा नहीं दिखाई देता।

कोई भी क्रान्तिकारी परिवर्तन की प्रक्रिया पहले कदम से आखीर तक जनता के खून-पसीने के दम पर ही चल सकती है। साम्राज्यवादी एजेंसियों के वेतनभोगी भाड़े के टट्टू इसे नहीं कर सकते। **संसाधनों का सवाल**

कोई तकनीकी प्रश्न नहीं, एक बेहद महत्वपूर्ण और निर्णायक राजनीतिक प्रश्न है।

भूमण्डलीकरण के दौर में दुनिया भर में एन.जी.ओ. के नये अवतार के पीछे साम्राज्यवादी योजनाकारों की बहुत सोची-समझी रणनीति है। ढांचागत समायोजन कार्यक्रमों के तहत तीसरी दुनिया के देशों में राज्य के ''कल्याणकारी'' कार्यों को क्रमश: खत्म किया जा रहा है और बाजार की शक्तियों को निर्बन्ध छोड़ दिया गया है। सामाजिक सेक्टर को पूरी तरह बाजार के हवाले किया जा रहा है। तय है कि इससे भारी पैमाने पर बर्बादी और विनाश पैदा होगा और इसे यूं ही छोड़ दिया गया तो यह विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के अस्तित्व के लिए खतरनाक साबित होगा। इसलिए संभावित विस्फोटों की घेरेबन्दी के लिए एन.जी.ओ. की सुरक्षा पंक्तियों को तरह-तरह से तैनात किया जा रहा है। नये-नये 'सेफ्टी वाल्व' लगाये जा रहे हैं। ''हर चीज के लिए सरकार पर निर्भर नहीं रहना चाहिए'', ''जनता खुद पहलकदमी ले रही है'' जैसी छद्‌मभरी भाषा बोलते हुए स्वयंसेवी संस्थाएं इस काम को बखूबी अंजाम दे रही हैं। **सरकार पंचायती राज के शिगूफे जरिए सत्ता के तथाकथित विकेन्द्रीकरण के द्वारा राज्यसत्ता के बारे में भ्रम पैदा करने का जो काम कर रही है, वही काम स्वयंसेवी संस्थाएं सामाजिक क्षेत्र में कर रही हैं।**

तीसरी दुनिया में अपने लूट का कारोबार फैलाने के लिए साम्राज्यवाद को केवल बुनियादी ढांचे में ही निवेश करना जरूरी नहीं है। पिछड़े देशों में पूंजी की दो परस्पर-विरोधी गतियां एक-दूसरे के आमने-सामने खड़ी हो जाती हैं। एक ओर सामाजिक सेक्टर को बाजार की अंधी शक्तियों के हवाले करने से चिकित्सा, शिक्षा आदि बुनियादी सुविधाएं जनता से दूर हो जाती हैं। दूसरी ओर लूट के तंत्र को चलाने के लिए सिर्फ सड़क-बिजली आदि अवस्थापन सुविधाओं की बेहतरी ही काफी नहीं है, बल्कि, कम ही संख्या में सही, शिक्षित, कुशल और स्वस्थ मजदूरों की पूंजीवाद को जरूरत होती है। साथ ही, बुनियादी सुविधाओं से दूर किये जाने से आम आबादी में पैदा होने वाले आक्रोश का शमन करना भी जरूरी होता है। जिन कारणों से अमर्त्य सेन की अचानक साम्राज्यवादियों को याद आई और उन्हें नोबल पुरस्कार थमाया गया है, उन्हें इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। अमर्त्य सेन भूमण्डलीकरण के उत्कट समर्थक हैं, दुनिया भर की आम आबादी पर बेरोजगारी, भुखमरी, छंटनी-तालाबंदी, महंगाई का कहर बरपाने वाली नई आर्थिक नीतियों से उन्हें कोई शिकायत नहीं है। उनकी चिंता बस यह है कि पिछड़े मुल्कों के गरीबों के बच्चों को शिक्षा और स्वास्थ्य आदि से पूरी तरह वंचित न किया जाये। वह विकसित देशों को हिदायत भी देते हैं कि पिछड़े देशों में पूंजी लगाने के लिए उन्हें इतना तो खर्च उठाना पड़ेगा।

लेकिन एक-एक कौड़ी खसोटने में लगा आज का नव क्लासिकी पूंजीवाद इस पर खर्च करने को तैयार नहीं है। इसलिए बहुत कम खर्च पर वह इस काम को भी एन.जी.ओ. से करा रहा है। **शिक्षा-स्वास्थ्य आदि के क्षेत्र में राज्य जैसे-जैसे पीछे हट रहा है, वैसे-वैसे इन सेवाओं को एक हद तक आम जनता को उपलब्ध कराने के काम में स्वयंसेवी संस्थाओं की, स्वतंत्र और सरकार के सहयोग के बतौर, दोनों रूपों में भूमिका बढ़ती गई है।** ये संस्थाएं बेरोजगारों की भारी भीड़ में कुछ को बहुत कम वेतन पर इन कामों में लगाती हैं। साथ ही उनके कर्मचारियों को रोजगार की या अन्य किसी प्रकार की कोई सुरक्षा भी नहीं प्राप्त होती। ऊपर से वे यह भ्रम भी पाले रहते हैं कि जनता की भलाई का काम कर रहे हैं।

यह ''मुनाफारहित'' तीसरा सेक्टर धनवानों के बेरोजगार बेटों को बढ़िया रोजगार मुहैया कराने का भी अच्छा माध्यम है। ऐसे लोग प्राय: स्वयंसेवी संस्थाओं के ऊंचे पदों पर होते हैं या खुद ही तरह-तरह के एन.जी.ओ. गठित कर उसके सर्वेसर्वा होते हैं। कम लागत में ज्यादा लाभ देने के मामले में यह किसी भी व्यवसाय से बेहतर ही सिद्ध होता है और साथ-साथ सामाजिक प्रतिष्ठा भी मिलती है जो कई नई सफलताओं के द्वार खोल देती है। धनिक वर्गों के वे नौजवान जो इस व्यवस्था में कहीं घुस नहीं पाये, उनके लिए यह एक सुरक्षित रास्ता है।

लेकिन एन.जी.ओ. सेक्टर का नीचे का पूरा ताना-बाना—फुलटाइम व पार्टटाइम सर्वेयर, आफिस कर्मचारी, नर्सें, हेल्थवर्कर, चपरासी, ड्राइवर आदि-आदि शिक्षित मध्य वर्ग, निम्न मध्यवर्ग तथा गरीब घरों के नौजवान ही होते हैं जिन्हें बेरोजगारी भत्ता से भी कम देकर सत्ता अपने जरूरी काम करा रही है।

ये संस्थाएं समाज की क्रान्तिकारी सम्भावनाओं को भोथरा कर रही हैं। एन.जी.ओ. बदलाव का भ्रम खड़ाकर और उनकी सदिच्छाओं का फायदा उठाकर ''क्रान्तिकारी आन्दोलन के भरती केन्द्रों'' पर गहरी चोट करते हैं। समाज में मौजूद शोषण-उत्पीड़न को खत्म करने की दिली इच्छा रखने वाले, सक्षम सम्भावित कार्यकर्ताओं के सामने बदलाव का तुर्त-फुर्त नतीजा देने वाला, पर कम कठिनाई व जोखिम भरा रास्ता पेश कर वे आरक्षित क्रान्तिकारी सम्भावनाओं की सेंधमारी करते हैं।

लेकिन इससे भी बड़ी बात यह है कि **ये संस्थाएं समाज की क्रान्तिकारी सम्भावनाओं को भोथरा कर रही हैं।** गरीब और मेहनतकश परिवारों से आने वाले विद्रोही तेवरों और गर्म खून वाले नौजवान लड़के-लड़कियां शिक्षा के दौरान समाज के परिवर्तन के संघर्ष से जुड़ते हैं और उसे मेहनतकश अवाम से जोड़ते हैं। साथ ही मध्य वर्ग और अपवादस्वरूप उच्च मध्य वर्ग के कुछ संवेदनशील नौजवान व्यवस्था में मौजूद अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में उतरते हैं और क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी के रूप में सर्वहारा आन्दोलन में विचारधारा पहुंचाने की जरूरी शुरुआती भूमिका अदा करते हैं। **एन.जी.ओ. बदलाव का भ्रम खड़ाकर और उनकी सदिच्छाओं का फायदा उठाकर ''क्रान्तिकारी आन्दोलन के भरती केन्द्रों'' पर गहरी चोट करते हैं। समाज में मौजूद शोषण-उत्पीड़न**

को खत्म करने की दिली इच्छा रखने वाले, सक्षम सम्भावित कार्यकर्ताओं के सामने बदलाव का तुर्त-फुर्त नतीजा देने वाला, पर कम कठिनाई व जोखिम भरा रास्ता पेश कर वे आरक्षित क्रान्तिकारी सम्भावनाओं की सेंधमारी करते हैं।

एन.जी.ओ. देश के अलग-अलग हिस्सों में चल रहे तमाम स्थानीय आन्दोलनों को स्थानीयतावाद की गिरफ्त में कैद तो कर ही रहे हैं, पूरे समाज की चालक शक्ति को जनता की निगाहों से ओझल कर रहे हैं। वे इस तथ्य को ही ढंकने की कोशिश कर रहे हैं कि मूल प्रश्न राज्यसत्ता का है। जनता के अगुवा तत्वों को वे एक संश्लिष्ट जाल में फंसा रहे हैं जिसमें फंसने के काफी देर बाद तक उन्हें फंसे होने का अहसास नहीं होता, और जब होता है तबतक वे इस जाल को तोड़ने का नैतिक और भौतिक बल खो चुके होते हैं।

एन.जी.ओ. आज जितने भी खतरनाक काम कर रहे हैं, उनमें से यह सबसे खतरनाक है।

एन.जी.ओ. नेटवर्क पर एक सरसरी निगाह भी डाली जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि 1970-80 के दशक में क्रान्तिकारी आन्दोलन में सक्रिय नगरों-महानगरों के शिक्षित मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि के जो लोग आन्दोलन के टूटने-बिखरने के दौर में रिटायर होकर अपने ''नेहनीड़ों'' में वापस लौटे उनमें से एक अच्छी-खासी आबादी इस नेटवर्क में लगी हुई है। यह अनायास नहीं है। **रिटायर्ड क्रान्तिकारियों से अच्छे सहायक सत्ता को भला कहां मिलेंगे? कभी क्रान्तिकारी आन्दोलन में सक्रिय रहे लोग ही तो व्यवस्था को अच्छी तरह बता सकते हैं कि जनता और उसकी हरावल पंक्तियों के सामाजिक मनोविज्ञान को कैसे समझा जाये, उसके अगुवा तत्वों को फंसाने के लिए कैसे जाल बुना जाये, कहां-कहां चोट की जाये!** अध्ययन और विश्लेषण की मार्क्सवादी पद्धतियों के साथ वे जनता के विरुद्ध व्यवस्था की सेवा में सन्नद्ध होते हैं। बदले में उन्हें आन्दोलन से पीछे हटने के अपराधबोध को भुलाने का बहाना और सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण आजीविका मिल जाती है। ऐसा पहली बार नहीं हो रहा है। गुजरी हुई शताब्दी पर एक नजर डालें तो हम देखेंगे कि **जब-जब क्रान्तिकारी आन्दोलन में टूट-फूट, बिखराव के दौर आये हैं तो निराश और पतित तत्व, भगोड़े वामपंथी बुद्धिजीवी व्यवस्था की सेवा में जाकर लगते रहे हैं।**

आज योजना-निर्माण से लेकर क्रियान्वयन के स्तर तक के ओहदे सम्भालने वालों में आन्दोलन से अवकाश ग्रहण कर चुके लोगों की भारी तादाद है। कई ने अपनी-अपनी संस्थाएं भी बना रखी हैं। एन.जी.ओ. के लिए वे भला क्यों न उपयोगी हों? वाम के तर्कों का इस्तेमाल करके वे रैडिकल युवकों को इस जाल में खींचने में विशेष प्रभावी होते हैं। इनमें बहुतेरे ऐसे भी हैं जो क्रान्तिकारी-वामपंथी सक्रियता की मुख्यधारा से तो किनारे रहते हैं, लेकिन इनके कुछ संगठनों से ढीला-ढाला सम्पर्क चलाते हैं और इनके विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक आयोजनों-सेमिनारों में पहुंचते भी रहते हैं।

यह भी अनायास नहीं है कि क्रान्तिकारी वाम के बहुतेरे संगठनों व क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों में 1980 के दशक के शुरू में एन.जी.ओ. के बारे में जो तीखी राय थी वह काफी हद तक टूटी है। कुछ संगठन तो अपने 'एक्टिविस्टों' तक को यह राय देते हैं कि एन.जी.ओ. में नौकरी करने या प्रोजेक्ट लेने में कोई हर्ज नहीं है। क्रान्तिकारी वाम के कुछ संगठन तो महज नाम के क्रान्तिकारी रह गये हैं। जनकार्यों मे वे बोल्शेविक तौर-तरीको से विचलित होकर इतनी दूर जा चुके हैं कि एन.जी.ओ. को 'कवर' या एक प्लेटफार्म के रूप में इस्तेमाल करने का बेशर्म तर्क देते हुए स्वयं एन.जी.ओ. मशीनरी के कलपुर्जे बनते जा रहे हैं।

एन.जी.ओ. देश के अलग-अलग हिस्सों में चल रहे तमाम स्थानीय आन्दोलनों को स्थानीयतावाद की गिरफ्त में कैद तो कर ही रहे हैं, पूरे समाज की चालक शक्ति को जनता की निगाहों से ओझल कर रहे हैं। वे इस तथ्य को ही ढंकने की कोशिश कर रहे हैं कि मूल प्रश्न राज्यसत्ता का है।

कुछ ऐसे भी हैं जो कवर या प्लेटफार्म के तौर पर तो इनका इस्तेमाल करने के विरुद्ध हैं, लेकिन तमाम जनआन्दोलनों के ऐसे कथित राष्ट्रीय प्लेटफार्म, जिनमें मुख्यत: एन.जी.ओ. शामिल हैं, उनमें बिना शर्त शिरकत कर रहे हैं। मंच में शामिल रहते हुए वे एन.जी.ओ. की सोच या भागीदारी पर कोई सवाल भी नहीं उठा रहे हैं और अपने मतभेदों के बारे में चूं भी नहीं करते। संयुक्त मोर्चे की इस दिवालिया समझ पर तो बड़े-बड़े बौद्धिक दिवालिये भी बलिहारी जाएं।

जहां तक एन.जी.ओ. के किसी भी रूप में इस्तेमाल करने का तर्क है, उस पर इतना ही कहना काफी है कि ज्यादा ताकतवर ही कम ताकतवर का इस्तेमाल करता है, और यह कहने की जरूरत नहीं है कि साम्राज्यवाद की सुनियोजित नीति के तहत और पूरे सत्ता तंत्र की मदद से सक्रिय एन.जी.ओ. नेटवर्क अभी भारत के किसी भी क्रान्तिकारी संगठन से ज्यादा ताकतवर है। कम ताकतवर भी अपने से ज्यादा ताकत वाले का इस्तेमाल कर सकता है, लेकिन तभी जब वह उसके वर्ग-चरित्र और कार्यप्रणाली और आन्तरिक अन्तरविरोधों को अच्छी तरह समझता हो। यह भी अपवादस्वरूप ही सम्भव हो पाता है। पर यहां तो पहले दिन से इस्तेमाल होने की नीयत और नियति लेकर ही लोग एन.जी.ओ. के फंदे में कदम रखते हैं।

पूर्व सोवियत संघ से मदद आनी बंद होने के बाद से नकली वामपंथी पार्टियों और इनसे जुड़े बुद्धिजीवियों

रिटायर्ड क्रान्तिकारियों से अच्छे सहायक सत्ता को भला कहां मिलेंगे? कभी क्रान्तिकारी आन्दोलन में सक्रिय रहे लोग ही तो व्यवस्था को अच्छी तरह बता सकते हैं कि जनता और उसकी हरावल पंक्तियों के सामाजिक मनोविज्ञान को कैसे समझा जाये, उसके अगुवा तत्वों को फंसाने के लिए कैसे जाल बुना जाये, कहां-कहां चोट की जाये!

की सोच में भी एन.जी.ओ. को लेकर काफी ''रासायनिक परिवर्तन'' हो गया है। पहले चूंकि एन.जी.ओ. पश्चिमी देशों की मदद से चलते थे इसलिए ये नकली वामपंथी, खासकर **मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी** इनकी बढ़चढ़कर आलोचना करती थी। लेकिन अब माकपा के ही लोग एन.जी.ओ. में घुसने, खुद एन.जी.ओ. खड़े करने और यहां तक कि अपने कुछ आनुषंगिक संगठनों को ही एक किस्म के एन.जी.ओ. में तब्दील कर देने में सबसे आगे हैं।

वामपंथी अकादमिक दायरे में एन.जी.ओ. और विदेशी फण्डिंग एजेंसियों की खासी घुसपैठ हो चुकी है। **दायित्वबोध** के पिछले अंक में प्रकाशित **सी.पी. भाम्बरी** के लेख में इस बात की विस्तार से चर्चा है कि **किस प्रकार विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में प्रभुत्वशील सामाजिक विज्ञान की परम्परा ने राष्ट्र, विचारधारा, नियोजन, समाजवाद, सम्प्रभुता आदि को ''अतीत के मुर्दा बोझ'' या ''यूरोकेन्द्रित सोच'' के नाम पर खारिज करने के नये पश्चिमी बौद्धिक एजेण्डे को सबाल्टर्न इतिहास दृष्टि, उत्तरआधुनिकतावाद, उत्तर औपनिवेशिकता आदि के नाम पर अंगीकार कर लिया है। महानगरीय विश्वविद्यालयों के अलगावग्रस्त बुद्धिजीवियों को, आज पश्चिमी सामाजिक विज्ञान के एजेण्डे ने विदेशी दाता एजेंसियों के धन की मदद से अपनी गिरफ्त में ले लिया है। साथ ही, ये लोग साम्राज्यवादी नीति निर्धारकों के लिए निष्ठापूर्वक सामग्री जुटा रहे हैं और मेहनतकश अवाम के खिलाफ रणनीतियां बनाने में उनकी मदद कर रहे हैं।**

सरकार ने जब से शोध संस्थानों को अनुदान कम करते-करते बंद करने का सिलसिला शुरू किया है, इन संस्थानों के निदेशक और विभागाध्यक्ष भीख की झोली लिए फण्डिंग एजेंसियों के दर पर सजदा करते मिलने लगे हैं। क्रान्ति और परिवर्तन की गरम-गरम बातें करने वाले कई एक प्रोफेसर अकसर कटोरा हाथ में लिये एन. जी.ओ. के दरवाजे-दरवाजे चक्कर काटते नजर आ जाते हैं।

एन.जी.ओ. का जाल किस कदर फैल चुका है उसका किसी के पास कोई ठीक-ठीक आंकड़ा नहीं है। इनका नेटवर्क इतना जटिल और रहस्यमय है कि किसी भी व्यक्ति के लिए उसे पूरी तरह समझ पाना नामुमकिन सा है। आज से तीन वर्ष पहले उत्तर प्रदेश में एक मोटे अनुमान के तौर पर 55,000 छोटे-बड़े एन.जी.ओ. मौजूद थे। पिछले 4-5 वर्ष एन.जी.ओ. के खूब फलने-फूलने के वर्ष रहे हैं। देश भर में इनके फैलने का इससे बस अनुमान ही लगाया जा सकता है। लेकिन व्यवहार में ये सुदूर पहाड़ों से लेकर मैदानों के गांव-गांव तक पहुंचे दिखाई देते हैं। संघर्ष और कुर्बानी के द्वारा हक लेने के लिए संगठित होने के बजाय 'शार्टकट' से जनता को कुछ टुकड़े दिलाकर भी ये गलत आदतें डालने का काम करते हैं और क्रान्तिकारी संगठनकर्ताओं के लिए शुरुआती दौर में दिक्कतें पैदा करते हैं।

दुनिया में जहां-जहां वर्ग-संघर्ष तीखा हुआ और लम्बा खिंचा, वहां एन.जी.ओ. की भूमिका नंगी हो गई। इनके सारे आवरण उतर गये और ये साम्राज्यवाद के एजेंट के रूप में खुलकर सामने आ गये। **लातिन अमेरिका के अल सलवाडोर, होंडुरास, निकारागुआ जैसे देशों में मध्यवर्गीय या किसान चरित्र वाले वामपंथी सशस्त्र संघर्षों को विघटित करने, बिखराने में एन.जी.ओ. ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।**

भारत में भी वर्गीय आन्दोलन के ताकतवर होने के साथ ही इन्हें अपने मुखौटे उतारकर अपना असली व्यवस्थापरस्त चेहरा दिखाने को मजबूर होना पड़ेगा। लेकिन आज क्रान्तिकारी आन्दोलन के सामने ये एक गम्भीर चुनौती के रूप में खड़े हुए हैं और इनका पर्दाफाश करना तथा क्रान्तिकारी शिविर और आम लोगों में एन.जी.ओ. के बारे में नजरिया साफ करना एक जरूरी कार्यभार है।

●

इस अंक से 'दायित्वबोध' त्रैमासिक के रूप में प्रकाशित हो रहा है। अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद द्वैमासिक के रूप में इसे नियमित कर पाने में हमें दिक्कतें आती रही हैं। हम हर सम्भव प्रयास करेंगे कि त्रैमासिक के रूप में यह नियमित रूप से आपके हाथों में पहुंचता रहे। लेकिन हमें सफलता तभी मिल सकेगी जब आपका हमें सक्रिय सहयोग मिलता रहे। अगला अंक (अक्टूबर-दिसम्बर '99) इस तिमाही के अन्त तक आप तक पहुंचाने की हमारी कोशिश होगी। —संपादक मण्डल

विशेष लेख

तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा

भूपेश कुमार सिंह / प्यारेलाल

इस अत्यन्त उपयोगी लम्बे निबन्ध में लेखक ने विस्तृत तथ्यों और ब्यौरों सहित यह स्पष्ट किया है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तीसरी दुनिया के पिछड़े, उत्तर-औपनिवेशिक देशों में कृषि-अनुसंधान का जो ढांचा खड़ा किया गया है, वह वास्तव में साम्राज्यवादी देशों द्वारा थोपा गया मॉडल है और अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के हितपोषण के लिए निर्धारित-अनुकूलित है। विश्व पूंजीवादी तंत्र के अन्तर्गत साम्राज्यवाद के 'जूनियर पार्टनर' के रूप में काम करने की भारतीय शासक पूंजीपति वर्ग की आवश्यकता और बाध्यता उसे ज्यादा से ज्यादा विवश करती रही है कि वह न केवल कृषि क्षेत्र को राष्ट्रपारीय निगमों का 'मुक्त चरागाह' बना दे, बल्कि शुरू से ही वह कृषि के ''विकास'' के लिए पश्चिम का मुंह जोहने के लिए मजबूर रहा है और यहां तक कि कृषि के पूंजीवादी विकास की नीतियां तय करने का काम भी इसने साम्राज्यवादी एजेंसियों के दिशा-निर्देशों के हिसाब से ही किया है।

तीसरी दुनिया के कृषि-वैज्ञानिक वस्तुत: पश्चिमी कारपोरेट नियंत्रित विश्वविद्यालयों के संकेतों पर ही काम करते रहे हैं और ज्यादा से ज्यादा उन्हें अपनी स्थानीय जरूरतों के अनुरूप स्वीकार्य बनाने या सुधारने का काम करते रहे हैं।

ऐसे शोध पहले भी प्रकाश में आ चुके हैं जिन्होंने यह साबित किया है कि तथाकथित अधिक उत्पादकता वाली किस्मों और रासायनिक उर्वरकों पर निर्भरता ने किस तरह गांवों में देशी-विदेशी कम्पनियों की मुनाफाखोर जकड़ बढ़ाने के साथ ही बड़े भूस्वामियों के अर्थतंत्र को तो मजबूत बनाया है, पर पूंजी की कमी वाले छोटे किसानों को ज्यादा से ज्यादा तबाह करने का काम किया है। साथ ही, इसने जैव-विविधता को समाप्त करने तथा विविध रूपों में पर्यावरणीय कहर बरपा करने का काम किया है और **मार्क्स** की इस स्थापना को सही सिद्ध किया है कि **पूंजी न सिर्फ मानवीय श्रमशक्ति को बल्कि प्रकृति को भी विनाशकारी ढंग से निचोड़ने का काम करती है।**

कृषि-अनुसंधान के देशी तंत्र में कार्यरत दिशाहीन वैज्ञानिक समुदाय वास्तव में साम्राज्यवाद और देशी शासक वर्गों से नाभिनालबद्ध एक सुविधाभोगी अल्पतंत्र में तब्दील हो चुका है, जो सिर्फ ऊपर से निर्दिष्ट दिशा में यंत्रमानव के समान गति कर रहा है और अपने शोध की वास्तविक परिणतियों और सामाजिक प्रभावों से उसे कुछ लेना-देना नहीं रह गया है। उन्हें बस अपनी सुविधाओं, तरक्कियों, शोधवृत्तियों, विदेश-यात्राओं व पुरस्कारों से मतलब है। इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो आज सचेतन तौर पर साम्राज्यवाद के हित में शोध-आदि के दिशा-निर्धारण का काम कर रहे हैं और पश्चिम में भी नीति निर्धारक सिद्धान्तकार या 'थिंकटैंक' का दर्जा हासिल किये हुए हैं।

तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान को अनुकूलित करने का काम तो दरअसल उपनिवेशवाद के दौर में ही शुरू हो चुका था जब उपनिवेशों की प्राकृतिक संपदा को तबाही की हद तक निचोड़ा जा रहा था। उसी दौर में इन देशों में वानस्पतिक उद्यानों और कुछ शोध-केन्द्रों की स्थापना हुई थी। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तरकालीन नवऔपनिवेशिक वर्चस्व के दौर में इसी काम को और अधिक सुनियोजित ढंग से विस्तार दिया गया, जिसका एक आयाम तथाकथित ''हरित क्रान्ति'' था। आर्थिक नवउपनिवेशवाद के दौर में जैव-तकनोलॉजी और आनुवंशिक अभियंत्रण के विकास ने ज्ञान-विज्ञान पर एकाधिकार को नये सिरे से संहिताबद्ध करने वाले पेटेण्ट कानूनों और विश्व-व्यापार संगठन जैसी संस्थाओं तथा भूमण्डलीकरण के अन्य पक्षों के साथ मिलकर एक ऐसे परिदृश्य की रचना कर डाली है, जिसमें तीसरी दुनिया की खेती और उसपर निर्भर मेहनतकश अवाम की बहुसंख्या विदेशी और देशी इजारेदार पूंजी का निकृष्टतम उजरती गुलाम बनती दिखाई दे रही है।

पर यहां हम सिर्फ यह कहना चाहेंगे कि यह प्रक्रिया भी एकांगी नहीं है। यहां भी पूंजी अपनी आंतरिक गति से स्वत: अपनी विरोधी शक्ति को जन्म दे रही है और पहले हमेशा से अधिक बड़े पैमाने पर! वह गांवों में सर्वहारा की नई कतारों को अभूतपूर्व पैमाने पर जन्म दे रही है। यह अलग से विस्तृत चर्चा का विषय है।

गोविंदवल्लभ पंत कृषि विश्वविद्यालय के प्राध्यापक और सामाजिक कार्यकर्ता भूपेश कुमार सिंह और प्रो. प्यारेलाल ने अपने इस गम्भीर निबन्ध के लिए कई स्रोतों से तथ्य जुटाये हैं, पर सबसे अधिक सहायता उन्होंने McGraw-Hill Pub. Co. N.Y. से 1990 में प्रकाशित पुस्तक 'Agro-ecology'[1] में संकलित श्रीपाद डी.देव और एल.ई. स्वेन्सन के शोध-निबन्ध 'Structure of Agricultural Research in the Third World' से ली है। इसके लिए लेखक श्री देव और श्री स्वेन्सन का तथा उक्त पुस्तक के संपादकों-प्रकाशकों का आभारी है। 'दायित्वबोध' का संपादक- मण्डल भी इनके प्रति अपना आभार प्रकट करता है।

यह निबन्ध प्रकाशित करने के पीछे हमारा मंतव्य यह है कि साम्राज्यवादी-पूंजीवादी दुश्चक्र के एक अपेक्षाकृत अनजाने पहलू से पाठक-समुदाय को परिचित कराया जाये। इस मसले पर विमर्श उनके लिए भी बेहद जरूरी है जो भारतीय कृषि के भूमण्डलीकरण-कुचक्र के कारगर प्रतिरोध की सही रणनीति तैयार करने की चिन्ताओं में जी रहे हैं और उन कृषि-वैज्ञानिकों और छात्रों के लिए भी, जो अब भी यह सोचते हैं कि उनके शोध के परिणामों से व्यापक जन-समुदाय को लाभ पहुंचे। निस्संदेह ऐसे शोधार्थियों को कृषि-अनुसंधान के ढांचे के बारे में सोचना होगा और अपना कार्यभार तय करना होगा।

निबन्ध में जिन पुस्तकों-शोधपत्रों के हवाले दिये गये हैं, उनकी विस्तृत सूची अंत में दे दी गई है। निबन्ध के बीच में जहां ये हवाले आये हैं, वहां कोष्ठक में महज लेखक के नाम का उल्लेख किया गया है। यह सन्दर्भ-सूची उन पाठकों के लिए विशेष सहायक सिद्ध होगी जो विषय की और अधिक गहराई में जाना चाहते हैं।

—सम्पादक

भूमिका

आधुनिक विज्ञान के आविर्भाव के हजारों साल पहले से किसान खेती करते आये हैं। सदियों से किसानों ने जमीन को जोता है, अच्छी फसल के लिए बीजों एवं प्रजातियों का चयन किया है, अनेक कृषि-यंत्रों का विकास किया है, कीड़ों-बीमारियों से फसल के बचाव व नियंत्रण के उपाय खोजे हैं और पशुओं को पालतू बनाया है। खेती के ये तौर-तरीके उनकी सामूहिक सोच-समझ एवं पीढ़ी दर पीढ़ी सदियों के दौरान संचित उनके अनुभव की उपज थे। कृषि-प्रयोगों के पीछे सदैव ही खेती के तौर-तरीकों को परिष्कृत करने की एक सजग लालसा क्रियाशील रही है। यह एक खेत जोतने वाले किसान की इच्छा भी हो सकती है तथा एक कृषि वैज्ञानिक की वैज्ञानिक जिज्ञासा भी। (*अर्नान, 1968, पृ. 1*)[2]

आधुनिक पश्चिमी विज्ञान के विश्वस्तर पर सुव्यवस्थित-स्थापित होने से पूर्व की विज्ञान-सम्बन्धी अवधारणा उत्तरवर्ती विज्ञान-सम्बन्धी अवधारणा की अपेक्षा कहीं ज्यादा व्यापक रही है (*देखें, मोरेज, 1979*)। उत्तरवर्ती आधुनिक कृषि-अनुसंधान के पीछे आमतौर पर कृषि-वाणिज्यिक निगमों के मुनाफे के उत्कट उद्देश्य क्रियाशील रहे हैं। यही वजह है कि मौजूदा कृषि-अनुसंधान को साझा विरासत बनाने के बजाय इसे पेटेन्ट अधिकारों के नाम पर तिजोरी में कैद करने की साजिश दिन-दहाड़े अंजाम दी जा रही है। कृषि में आधुनिक विज्ञान के अनुप्रयोगों को साम्राज्यवादी विस्तार—जिसके द्वारा दुनिया का एक बड़ा हिस्सा आर्थिक शोषण का शिकार बना, के परिप्रेक्ष्य में ही समझना आवश्यक है।

पुनर्जागरणकाल के महामानवों और प्रबोधन-काल के क्रान्तिकारी तत्ववेत्ता दार्शनिकों ने वैज्ञानिक दृष्टि के द्वारा सामन्ती विशेषाधिकारों की ईश्वरीय स्वीकृति का निषेध किया और विज्ञान को मानववाद का आधार बनाया। पर उस पूंजीपति वर्ग के लिए यह राष्ट्रों की सम्पदा-वृद्धि के उपकरण से अधिक कुछ भी नहीं था, जिसका राष्ट्रवाद मण्डी में जन्मा था! अपनी युवावस्था में भी पूंजीवाद विज्ञान के सहारे उत्पादन के साधनों को मानव-मात्र के कल्याण के लिए नहीं बल्कि ज्यादा से ज्यादा अतिरिक्त श्रम के दोहन के लिए उन्नत कर रहा था। आदिम पूंजी संचय के लिए उसने शस्त्रबल और फरेब से अर्जित उपनिवेशों की अकूत प्राकृतिक-सामाजिक सम्पदा को नृशंसतापूर्वक लूटा। विज्ञान का लक्ष्य प्रबोधनकालीन उदात्त आदर्शों-लक्ष्यों से हटकर महज उपनिवेशवादी राष्ट्रों को ज्यादा से ज्यादा समृद्ध और शक्तिशाली बनाना ही रह गया। वैज्ञानिक अनुसंधान और विज्ञान-आधारित प्रौद्योगिकी के सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक परिप्रेक्ष्यों में भी तदनुरूप परिवर्तन आये।

फ्रांसिस बेकन ने जब कहा कि ''मानवेतर प्राकृतिक संसार मनुष्य के दोहन के लिए है'' तब यह जुझारू भौतिकवाद के सूत्र-वाक्य के समान था, जो प्रकृति की अंधशक्तियों के समक्ष घुटने टेकने का विरोध करता था। पर 19वीं सदी में ही पूंजीवाद ने इसे लाभ की अंधी हवस के हाथों प्रकृति की तबाही का तथा उपभोगवादी पाश्चात्य अहंकार की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का सूत्रवाक्य बना डाला। इसका एक विस्तार ''गोरों के दायित्व'' (*व्हाइट मैन्स' बर्डेन*) की उपनिवेशवादी दर्पोक्ति के रूप में भी सामने आया जो औपनिवेशिक लुटेरों को विज्ञान और सभ्यता के वाहक के रूप में प्रस्तुत करती थी। एशिया, अफ्रीका, और लातिन अमेरिका के सन्दर्भ में यह विचार आज भी पश्चिमी मानस में सूक्ष्म रूप में मौजूद है!

यूरोप में विज्ञान एक प्रचण्ड मुक्तिदायी शक्ति के रूप में उभरा और अपनाया गया। जिस वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि ने पश्चिमी समाज में मनुष्य को हर प्रकार के रूढ़िवादी बंधनों से मुक्त कर प्रगति के पथ पर अग्रसर किया, वही बाद में औपनिवेशिक विश्व में आर्थिक एवं राजनैतिक दासता लादने की मुख्य कारक बनी (*मोरेज 1979, लेविन्स और लेवोण्टिन, 1985* [3, 4])। तीसरी दुनिया के समाज विकसित देशों के व्यापार एवं वाणिज्य के जाल में फंस कर उनके आर्थिक शोषण के चंगुल में जा फंसे और बाद में उनके शिकंजे में उत्तरोत्तर जकड़ते गये। 1784 में जब इंग्लैण्ड में कोई सूती उद्योग नहीं था तब भारत से इंगलैण्ड के लिए 50 लाख स्टर्लिंग के सूती कपड़े निर्यात होते थे। पर इंगलैण्ड में सूती उद्योग की स्थापना के साथ ही 1828 आते-आते भारत लंकाशायर से 15 लाख स्टर्लिंग के सूती वस्त्र आयात करने लगा था (*हेनरी हॉबहाउस, 1987, पृ. 17*)[5]।

औपनिवेशिक दासता की काली छाया में तीसरी दुनिया के देशों के अपने किसी स्वाभाविक नवजागरण की संभावनाएं निश्शेष हो गईं और यूरोपीय नवजागरण के वास्तविक प्रकाश से भी वे वंचित रहे। कदाचित उस प्रकाश की ओट से पड़ रही साम्राज्यवादी समृद्धि की गहरी काली छाया को ही वे सच मान बैठे। फलत: यहां विज्ञान एक प्रामाणिक ज्ञानार्जन की प्रक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि अपने द्वारा उपलब्ध कराये गये उत्पादों द्वारा ज्यादा पहचाना गया। साम्राज्यवादी देशों की समृद्धि को उनके वैज्ञानिक प्रयासों की उपलब्धि के रूप में निरूपित किया गया। और तीसरी दुनिया के देशों के सामने एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया, हालांकि तीसरी दुनिया के तमाम प्रबुद्ध लोग विकास के पश्चिमी साम्राज्यवादी आदर्श को खारिज करते रहे। विकास के औपनिवेशिक रास्ते को खारिज करते हुए **गांधी** ने कहा था कि ''इस ढंग से विकास एवं समृद्धि के लिए अगर इंगलैण्ड जैसे छोटे देश को पूरी दुनिया को गुलाम बनाना पड़ा तो भारत जैसे विशाल देश को तो ठीक वही समृद्धि हासिल करने के लिए आसपास के ग्रहों पर कब्जा करना होगा।'' इस सच्चाई को पूरी तरह समझने के बावजूद साम्राज्यवादी देशों की समृद्धि तीसरी दुनिया के शासक वर्गों को सदैव लुभाती रही। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने भी अपनी समृद्धि का स्रोत विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की माल एवं सेवा की अजस्र आपूर्ति-क्षमता को बताया। इन तथ्यों ने तीसरी दुनिया के कुलीन बुर्जुआ शासकों को भी इस मृग मरीचिका की तलाश के लिए ही नहीं बल्कि सीधे उनके अनुगमन के लिए प्रेरित किया।

पाश्चात्य आधुनिकीकरण की सारी वकालत इन चन्द अन्तर्निहित मान्यताओं पर आधारित है :

1. कि सारी आर्थिक-राजनीतिक व सामाजिक समस्याएं नई प्रौद्योगिकी द्वारा हल की जा सकती हैं,
2. कि एक बार वैज्ञानिक व तकनीकी क्षमता विकसित हो जाये तो

सब कुछ सामाजिक व आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार होने लगेगा,

3. कि कुंजीभूत समस्या सम्पत्ति का सृजन है न कि वितरण,

4. कि विज्ञान व तकनोलॉजी में अभिनव परिवर्तनों के अनवरत विसरण द्वारा इसका व्यापक उपयोग होता है और ज्ञान पूर्णता की ओर बढ़ता है,

5. कि प्रौद्योगिकी अपने आप में वर्ग निरपेक्ष व तटस्थ है। यानी इसका असर उपभोग करने वाले समाज के सभी वर्गों पर समान रूप से पड़ता है।

अब हम आगे इन मान्यताओं के औचित्य का विवेचन क्रमश: करेंगे।

1. **अलबर्ट आईंस्टीन** का कहना था कि विज्ञान सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति का साधन तो हो सकता है किन्तु यह खुद सामाजिक लक्ष्यों का निर्धारण नहीं कर सकता। ये सामाजिक लक्ष्य सदैव से ही आर्थिक-राजनीतिक सत्ता द्वारा तय किये जाते हैं। आज हिन्दुस्तान के क्रयशक्ति सम्पन्न खरीदार वर्ग को कैसे अच्छे शीतल पेय उपलब्ध कराये जायें, इसके लिए पूरी दुनिया के थैलीशाह दुबले हुए जा रहे हैं। किन्तु राजस्थान में बीस मील दूर तक से गंदले पानी का घड़ा ढो रही महिलाओं के श्रम के अपव्यय से किसी को कहीं पीड़ा नहीं है। **ट्रांसवर्ल्ड इण्टरनेशनल** से जुड़ी हुई **सूसन जार्ज** ने तो प्रौद्योगिकी के इसी पूंजीवादी चरित्र को ध्यान में रखकर अपनी पहली मशहूर किताब 'हाउ दि अदर हाफ डाइस' (How the Other Half Dies) के प्रौद्योगिकी के अध्याय का नाम ही ''नाउ हू पेज़ टु डू व्हाट टु हूम'' (Now Who Pays to Do What to Whom) रखा था।

2. आधुनिकीकरण की यह मान्यता भी आधारहीन है कि वैज्ञानिक एवं खासकर प्रौद्योगिकी की प्रगति मात्र से ही आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएं समाप्त हो जायेंगी। अमेरिकी जनता जो (1972 में) पूरे विश्व की जनसंख्या का मात्र 6 प्रतिशत है, विश्व संसाधनों का 35 प्रतिशत हजम कर जाती है। वही अमेरिकी समाज वैज्ञानिक प्रगति का मक्का भी माना जाता है। जब अमेरिका 1969 में चांद पर अपने आदमी उतार चुका था, संयुक्त राष्ट्र **जनगणना ब्यूरो** के अनुसार 1972 में अमेरिका में 10 से 12 मिलियन लोग इसलिए भुखमरी और कुपोषण की चपेट में थे क्योंकि उनके पास भोजन खरीदने के लिए पैसे नहीं थे (*सूसन जार्ज पृ. 30*)[6]। अगर ऐसी स्थिति में कोई तीसरी दुनिया का देश अपनी कुव्यवस्था एवं भुखमरी का इलाज केवल तकनीकी प्रगति में देखे तो इसे बौद्धिक बंजरपन के अलावा क्या नाम दिया जा सकता है।

3. अब हम कृषि-उत्पादन, खासतौर पर खाद्यान्न के परिप्रेक्ष्य में, तीसरी मान्यता का विवेचन करें। एक फ्रांसीसी इतिहासकार के अनुसार 'मध्यकालीन भीषण अकाल के दौर में भी फ्रांस में खाद्यान्न उत्पादन एवं निर्यात होता था। इसके पीछे सामाजिक अन्तर्सम्बन्ध तथा संरचना कहीं ज्यादा जिम्मेदार है।' (*सूसन जार्ज, पृ. 139*) बहुत पहले से खाद्यान्न की कीमतें बनाये रखने के लिए व्यापार को एक उपकरण के तौर पर इस्तेमाल किया जाता रहा है। सूसन जार्ज इस बारे में कार्नेल विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर को उद्धृत करती हैं:

''पिछले 50 वर्षों से तो अमेरिकी कृषि नीति ही यह रही है कि कैसे कृषकों की उत्पादकता को कीमतें गिराने से रोका जाये?''

अत: स्पष्ट हो जाता है कि समस्या सम्पत्ति का सृजन नहीं बल्कि उससे अधिक कहीं सम्यक वितरण की है।

4. यह सच है कि निरन्तर प्रयोग द्वारा तथा इसके विसरण द्वारा समाज में पैठ जाने से ही ज्ञान आगे बढ़ता है। किन्तु ज्ञान एवं चेतना की उत्तरोत्तर प्रगति के साथ ही समाज भी प्रगति करता है। किन्तु सामाजिक प्रगति आवश्यक तौर पर सामाजिक परिवर्तन से जुड़ी हुई है। सदैव से ही प्रगतिशील तत्व समाज एवं ज्ञान को आगे की तरफ ले जाते हैं किन्तु प्रतिक्रियावादी तत्व इसे यथास्थिति की बेड़ियों में जकड़ना चाहते हैं। आज प्रतिगामी तत्व ज्ञान के ऊपर तरह-तरह के शासकीय-विधिकीय एवं आर्थिक पहरे बैठाकर उसे चन्द लोगों के एकाधिकार के तौर पर सुरक्षित करने को उद्धत हैं।

5. प्रौद्योगिकी का अपना एक वर्ग-चरित्र होता है। कोई भी तकनीक सदैव ही *किसी एक* वर्ग के अनुकूल होती है। उदाहरण के तौर पर प्रौद्योगिकी के सबसे सरलीकृत रूप—बीजों के स्थानान्तरण ने अत्यन्त गहन अनेक अन्तरराष्ट्रीय प्रभाव डाले हैं। गन्ने की खेती ने पूरी दुनिया में नीग्रो आबादी के ऊपर गुलामी का जुआ लादे रखा। ठीक इसी प्रकार नील तथा कपास लम्बे समय तक भारतीय किसानों का उत्पीड़न करते रहे थे। शीतलन प्रक्रम (Refrigeration) के आविष्कार से भारत का एक उत्पाद—काली मिर्च यूरोपीय बाजारों में अपना महत्व ही खो बैठा। अन्यथा नमक की ढेरों मात्रा में सुरक्षित रखा गया मांस खंड बिना काली मिर्च के स्वाद-स्वीकार्य हो ही नहीं सकता था। ठीक इसी प्रकार हरित क्रान्ति बड़े किसानों तथा फार्मरों के तो अनुकूल हो सकती है किन्तु छोटे किसान तो इसकी वजह से उजड़े ही हैं।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि इन गलत धारणाओं के नतीजतन विज्ञान व प्रौद्योगिकी का हस्तान्तरण एक सांस्कृतिक हमले का रूप धर लेता है। इसके घातक प्रभाव इसलिए छिपे रहते हैं क्योंकि विगत जैसी प्रत्यक्ष राजनैतिक औपनिवेशिक परिस्थिति कहीं नजर नहीं आती। इसके अलावा वस्तुओं को विखण्डित करके टुकड़ों में देखने का नजरिया समष्टि को विखंडित कर देता है। यह प्रक्रिया लोगों के दृष्टिकोण को संकीर्ण बना देती है। फलत: असलियत पर पर्दा पड़ा रहता है।

तीसरी दुनिया के देश विकसित राष्ट्रों के समकक्ष होने के लिए पाश्चात्य तकनीक के आयात हेतु आतुरतापूर्वक प्रयत्नशील रहे, इस उम्मीद में कि उनका अपना जीवन स्तर सुधरेगा और कि वे नवसाम्राज्य के जुवे से मुक्त हो सकेंगे। किन्तु नतीजे ठीक उलटे निकले—वे समृद्ध राष्ट्रों पर और अधिक आश्रित हो गए। कृषि और कृषि अनुसंधान का क्षेत्र इस तथ्य को सुस्पष्ट करता है। तीसरी दुनिया के देशों की कृषि अनुसंधान में पराश्रयता तथा उसकी विकृत दशा का संबंध उनकी गुलामी के अतीत से है। यही नहीं, देशी-विदेशी शक्तियों की सांठगांठ एवं उनके अन्तर्सम्बन्धों की स्पष्ट छाप कृषि अनुसंधान पर दिखलाई पड़ती है। यहां हम न केवल कृषि वं कृषि अनुसंधान के साम्राज्यवादियों द्वारा विकसित बागान खेती के शिकंजों से लेकर अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्रों के अभ्युदय, उत्थान तथा उससे जुड़े सामाजिक-आर्थिक अन्तरविरोधों की चर्चा करेंगे वरन उससे भी आगे वर्तमान कृषि प्रौद्योगिकी का विकास तथा उसके सम्भावित नतीजों पर भी विचार करेंगे।

कृषि अनुसंधान का ऐतिहासिक सिंहावलोकन : प्रतिदर्श का शाश्वतीकरण

अतीत, वर्तमान तथा भविष्य शाश्वत धारा के रूप में प्रवहमान होते हैं। वर्तमान आमतौर पर इतिहास का प्रतिफल होता है। औद्योगिक राष्ट्रों की सम्पन्नता एवं तीसरी दुनिया के देशों की विपन्नता के बीच सम्बन्धों में निरन्तरता के सूत्रों की तलाश कठिन नहीं है। कृषि-अनुसंधान एक ऐसा ही क्षेत्र है जो यह दर्शाता है कि पूंजीवादी उत्पादन तंत्र द्वारा नियन्त्रित विज्ञान व प्रौद्योगिकी कैसे गुलामी व विषमता को बढ़ावा देती रही है।

समृद्धि के केन्द्रीकरण एवं पूंजीवादी उत्पादन तंत्र के प्रसार में कृषि अनुसंधान का योगदान एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। इसकी जड़ें अतीत में हैं जब यूरोपीय देशों ने अपनी व्यापारिक यात्राओं के दौरान हाथ लगे वानस्पतिक संसाधनों पर नियंत्रण करने के लिए संगठित प्रयास किये। इन प्रयासों का सर्वप्रथम परिणाम वानस्पतिक उद्यान (Botanical Gardens) के उद्भव के रूप में सामने आया। ये पहले यूरोप में और फिर उपनिवेशों में अस्तित्व में आये। ये उद्यान वनस्पतियों के अधिग्रहण व प्रवर्धन, संवर्धन एवं स्थानान्तरण

के केन्द्र थे। यहां से आर्थिक सम्भावनाओं से युक्त पौध-प्रजातियों को दुनिया के दूसरे हिस्सों में भेजकर इनकी बागानों में खेती कराई जाती थी। वन्य संपदा के क्रमबद्ध एवं विशिष्टीकृत दोहन के इस दौर में कृषि अनुसंधान ने अपनी भ्रूणावस्था में ही औपनिवेशिक साम्राज्य के विस्तार हेतु कुछ अन्य चीजों के अलावा कुछ अतिलाभदायक एवं रणनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उद्यान-आधारित उद्योगों का विकास किया जो मानसूनी उष्ण उपनिवेशों में फल-फूल सके। यहां पर कृषि अनुसंधान एवं पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रसार में शुरुआती कड़ी दिखाई देती है।

अगर गोरों को लातिन अमेरिका से कुनैन उपलब्ध न होता तो वे बिहार और बंगाल के मच्छरों से भरे इलाके में घुस कर बागान लगाने की सोच ही नहीं सकते थे। कुनैन की उपलब्धि में वानस्पतिक उद्यानों की अहम् भूमिका रही है। (*हॉबहाउस, 'सीड्स ऑफ चेंज*)।

इस सम्बन्ध में **ब्राकवे** का कहना है कि ''साम्राज्यवाद, व्यापार-वाणिज्य एवं विज्ञान के बीच विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है।''

उपनिवेशों में जो कृषि विकास हुआ वह केवल गन्ना, जूट, रबर, काफी, कोको, चाय और केले जैसी निर्यात की जानी वाली फसलों तक सीमित रहा। इन उपनिवेशों में ज्यादातर खेतिहर सीमान्त किसान थे जो अपनी छोटी-छोटी जोतों से अपना जीवनयापन करते थे और केवल नजराने-शुक्राने भर का ही उपजा पाते थे। हालांकि इस दौर में भी खेतिहर का शोषण कम नहीं था किन्तु अभी भी खेती का लक्ष्य बाजार और मुनाफे के बजाय खाद्यान्न पैदा करना ही था।

ध्यान देने की बात यह है कि भारत, चीन, इण्डोनेशिया जैसे एशिया के तथा लातिन अमेरिका और अफ्रीका के किसान औपनिवेशिक जुवे के नीचे आने से पहले ही खेती के सफल तौर-तरीके विकसित कर चुके थे। उनके द्वारा लम्बे समय तक सतत फसलोत्पादन से यही जाहिर होता है कि उन्हें जमीन की उत्पादन क्षमता, फसल-चक्र, अन्त:फसल प्रणाली, जल व नमी की उपलब्धता, बीज विधायन, पलिहर, खाद, सौर ऊर्जा का उपयोग, खरपतवार एवं उनकी प्रकृति आदि की अच्छी समझ थी। तत्कालीन तमाम यूरोपीय यात्रियों के लेखों से यह सिद्ध होता है कि ये किसान अपनी रुचि एवं आवश्यकताओं के प्रति सजग व सचेत थे। ये किसान तेज व समझदार थे। ये गरीब और कर्जदार थे परन्तु अपनी अयोग्यता की वजह से नहीं बल्कि सर्वव्यापी गरीबी, सामन्ती उत्पीड़न एवं शोषण की वजह से। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के समय (1793 में) उनके द्वारा वसूला जाने वाला एकमात्र कर जमीन की मालगुजारी थी। लार्ड कार्नवालिस ने इसके लिए भी स्थायी प्रबन्ध कर दिया था। इस व्यवस्था से एक नया वर्ग पैदा हो गया जिसका पुश्तैनी धंधा केवल मालगुजारी वसूलना था। यह वर्ग अंग्रेज बहादुर की कृपा से न केवल मालगुजारी की जमीन बल्कि उस पर बसने वाले लोगों का भी स्वामी बन गया था। यह जमींदार तथा ताल्लुकेदार न केवल गैर-वाजिब दरों से मालगुजारी वसूलते वरन अनाप-शनाप अतिरिक्त कर वसूलने से लेकर बेगारी-बेदखली तक नाना तरीकों से खेतिहरों को विपन्न किये रखते थे। इन किसानों को प्रचुर उत्पादन के नुस्खे की नहीं बल्कि सस्ती एवं सुलभ उत्पादन-तकनीक की आवश्यकता थी। समझ एवं खेती की जानकारी में तीसरी दुनिया के किसान अपने यूरोपीय भाई-बन्दों से किसी मामले में कमतर नहीं थे। (*जे.ए.वोएल्कर*)।[7]

वस्तुत: आधुनिक कृषि-अनुसंधान संस्थान वही लक्ष्य पूरे कर रहे हैं, जो 19वीं सदी के वानस्पतिक उद्यानों ने हासिल किये थे। वे भी नई जलवायु में फसलों एवं उनकी किस्मों का परीक्षण कर खेती की नई तकनीक विकसित करने में लगे हुए हैं। जबकि इसी दौरान पश्चिमी देशों में शोध-प्रक्रिया इन सामान्य कार्य-कलापों से काफी आगे बढ़कर उन्नत शिखर पर पहुंच गयी है।

यहां खास बात यह है कि **जिस समय तीसरी दुनिया के अनुसंधान केन्द्र निर्यातोन्मुख फसलों के अनुसंधान में लगे थे वहीं यूरोप में स्थित अनुसंधान केन्द्र, खाद्यान्न फसलों पर अनुसंधान कर रहे थे। जबकि ये तीसरी दुनिया के देश ही थे जो खाद्यान्न की कमी एवं अकाल से त्रस्त थे।** यह स्थिति दूसरे विश्वयुद्ध के अन्त तक बनी रही।

साफ जाहिर है कि **उपनिवेशों एवं साम्राज्यवादी देशों में कृषि अनुसंधान दो अलग-अलग दिशाओं में चल रहे थे। उपनिवेशों में खेती की दशा में सुधार पर शोध के बजाय निर्यातोन्मुख नकदी फसलों पर शोध का अत्यधिक जोर, शोध पर यूरोपीय वैज्ञानिकों के वास्तविक नियंत्रण एवं प्रशासनिक एवं राजनैतिक दृष्टि से शासकों की सुविधानुसार अनुसंधान गतिविधियों के गठन ने मिल कर एक ऐसी 'कृषि अनुसंधान संरचना' को जन्म दिया जो औपनिवेशिक संस्थागत ढांचे में ढली थी तथा अपने आपको नौकरशाही एवं राजसत्ता के सामने समर्पित करने को तैयार थी** (*भनेजा, 1979, पृ. 72-78*)[8] *अर्नान 1968 पृ. 40-41, एंथनी व अन्य, 1979 पृ. 247-261*)[9] *बुश और साख्स, 1981*)।

यह आश्चर्यजनक नहीं था कि सबसे उपजाऊ जमीन पर नकदी फसलों के बागान लगाये गये। खाद्यान्न की जगह पर वाणिज्यिक महत्व की फसलों के अनुसंधान पर ज्यादा जोर दिया गया। नतीजतन नई कृषि-प्रणाली से न तो पर्याप्त खाद्यान्न का उत्पादन हो पाया न ही औद्योगीकरण के लिए पर्याप्त संसाधनों (अधिशेष) का ही सृजन हो पाया।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के साथ ही पुराना औपनिवेशिक ढांचा चरमरा गया। तमाम उपनिवेश स्वतंत्र देश बन गये लेकिन इन नव स्वाधीन देशों के शासक अपने विदेशी सलाहकारों की राय मानते हुए निर्यातोन्मुख कृषि अनुसंधान पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किये रहे। इस नीति के लागू करने के कई कारण रहे हैं।

भारत में इस नीति के चयन के पीछे कार्यरत मानसिकता की पहचान इस टिप्पणी से भी हो जाती है: **अपने औपनिवेशिक अतीत की विरासत एवं निरन्तर लगाव तथा इतिहास की मजबूत कड़ियों की वजह से भारत का शासक कुलीन वर्ग अपने समुद्रपारीय समवर्गीयों, खासकर पश्चिमी देशों के साथ खासा जुड़ाव महसूस करता है। अत: भारत का प्रत्येक सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक आयाम अगर एक बड़े वैश्विक तंत्र से नियंत्रित नहीं तो कम से कम प्रभावित अवश्य होता है।** (*डी. बनर्जी, ई.पी.डब्ल्यू., 30 नवम्बर, 1974*)[10]।

अत: इन राष्ट्रों ने विकास के पश्चिमी मॉडल को ही अपनाया। इस नीति के पक्ष में दो कारण थे। पहला, यह कि ये राष्ट्र महसूस करते थे कि उनके लिए वास्तविक तथा आर्थिक अधिशेष अत्यन्त आवश्यक है; ताकि शीघ्रतापूर्वक औद्योगीकरण तथा तज्जनित आधुनिकीकरण किया जा सके। दूसरी वजह यह थी कि यह सभी नव-स्वाधीन राष्ट्र अन्तरराष्ट्रीय बाजार में आपस में ही प्रतिस्पर्द्धा करने लगे थे। निर्यात केन्द्रित नीति ने औपनिवेशिक प्रारूप को फिर से स्वत: ही क्रियान्वित कर दिया। एक बार फिर से उपजाऊ खेतों में निर्यातमूलक कृषि तथा कम उपजाऊ जमीन पर खाद्य फसलें उगाई जाने लगीं। फलस्वरूप खाद्य-उत्पादन उतना नहीं बढ़ सका जिससे कि बढ़ती आबादी की जरूरतें पूरी की जा सकें। अत: भुखमरी के साथ ही आबादी बढ़ने लगी। हालांकि मुख्य धारा के संचार माध्यम जोर-शोर से यह प्रोपेगेण्डा करते हैं कि भुखमरी एवं गरीबी का मुख्य कारण बढ़ती आबादी है। पर तमाम घटनाओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ''भुखमरी तथा कुपोषण बढ़ती जनसंख्या के दबाव से नहीं पैदा होते वरन् जनसंख्या वृद्धि तथा भुखमरी (कुपोषण) एक ही परिघटना— आर्थिक-राजनैतिक व्यवस्था की असफलता के परिणाम हैं'' (*सूसन जार्ज, 'हाउ द अदर हॉफ डाइज़', 1974*) किन्तु तीसरी दुनिया के नीति-नियामक खेती की और सम्पत्ति के सामाजिक बंटवारे की समस्याओं का समाधान माल्थुसवादी औद्योगीकरण के सरल सूत्रों में ढूंढ़ने लगे। दरअसल विकसित देशों के अनुदान, सहायता तथा ऋण ने उनको यह मानने को बाध्य कर दिया कि समस्या की जड़ खाद्यान्न की अपर्याप्त आपूर्ति है, इसी की वजह

से भूख, गरीबी एवं कुपोषण व्याप्त है, इसी के फलस्वरूप ग्रामीण असन्तोष उपजता है। जबकि सच्चाई का उल्लेख ऊपर हम पहले ही कर चुके हैं। उपरोक्त में मात्र इतना ही सच है कि भूख जहां अवसाद एवं करुणा को जन्म देती है वहीं इससे आक्रोश भी उपजता है। अत: अन्तरराष्ट्रीय बिरादरी (विकसित राष्ट्र) नए कृषि अनुसंधान के पक्ष में तर्क गढ़ते हैं कि यदि ग्रामीण आक्रोश को नई खाद्य आपूर्ति द्वारा नियंत्रित कर लिया जाये तो इससे —

1. सुदूर देहात में सक्रिय साम्यवादियों का **सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया जा सकता है।**

2. पश्चिमी देशों के खाद्यान्नों का अति उत्पादन खपाया जा सकता है। इससे नए बाजार बनेंगे तथा साथ में विकासशील देश खाद्यान्न आपूर्ति के लिए पश्चिमी देशों पर निर्भर हो जायेंगे। (जैसे PL-480, शान्ति के लिए खाद्यान्न योजना)

3. कृषि **के उत्तरोत्तर केन्द्रीकरण की वजह से गांवों से भाग कर शहर आ बसी और औद्योगिक उत्पादन में लगी आबादी को भोजन मुहैया किया जा सकेगा।**

संक्षेप में, तीसरी दुनिया के कृषि अनुसंधान संस्थानों की सीमाएं, यानी प्रच्छन्न गुलामी दुखद रूप से जाहिर है। खेती में खाद्यान्न फसलों की उपज बढ़ाने की कोई परम्परा ही विकसित नहीं हुई। थोड़ा बहुत जो शोध हुआ भी तो अखाद्य नकदी फसलों पर, जिसका कि प्रभाव काफी देर से दृष्टिगोचर हुआ। इन सबसे कहीं ज्यादा खाद्यान्न उत्पादन को प्रभावित करने वाला कारक तत्कालीन भू-स्वामित्व (सामन्ती) व्यवस्था थी। इसका सर्वाधिक विपर्यय बोध कराने वाला उदाहरण चम्पारण की 'तीन कट्ठा' व्यवस्था थी, जिसके अनुसार अंग्रेज जमींदार जिसे स्थानीय किसान 'निलहा' कहते थे, किसानों को जमीन के निश्चित भाग पर नील की खेती करने के लिए मजबूर करते थे। कृषि विकास को प्रभावित करने वाले भू-स्वामित्व की इसी भूमिका की पहचान ने भूमि सुधार की जरूरत पर बल दिया (नील दर्पण)[11]

भूमि सुधार के कदम कई कारणों से उठाए गए थे। **मुख्य उद्देश्य ग्रामीण अंचल में पनप रहे वामपंथी विद्रोहों का शमन करना था।** भूस्वामित्व के सामन्ती सम्बन्धों से उपजने वाले विद्रोहों के खतरों का निदान राजनैतिक तौर पर इस तर्क के साथ प्रस्तुत किया गया कि यह समस्या केवल कृषि उत्पादन में वृद्धि व उसे लाभकारी बनाने की समस्या है। इस राजनैतिक अवधारणा को अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्रों ने, जो अपने शैशवकाल में ही थे, भरपूर सहयोग व समर्थन दिया।

हरित क्रान्ति

हरित क्रान्ति का औपचारिक जन्म 1943 में मैक्सिको में हुआ। उसी वर्ष **राकफेलर फाउंडेशन** के तत्वावधान में चार अमेरिकी कृषि वैज्ञानिक मेक्सिको भेजे गये। उन दिनों मेक्सिको खाद्यान्न का बड़ा आयातकर्ता था अत: उससे निपटने के लिए वहां जो संस्थान बना वही आज के अन्तरराष्ट्रीय गेहूं एवं मक्का शोध केन्द्र 'सिमिट' (CIMMYT) का पूर्वज था।

हालांकि 'सिमिट' की स्थापना का घोषित उद्देश्य मैक्सिको का खाद्यान्न संकट दूर करना था किन्तु उससे भी महत्वपूर्ण एक तथ्य है। उसी समय मेक्सिको में राकफेलर की कई कम्पनियों का राष्ट्रीकरण कर लिया गया था। अत: यह आवश्यक था कि मेक्सिको में अमेरिकी निजी निवेश के लिए माहौल बनाया जाता। (*सूसन जॉर्ज, हाउ द अदर हाफ डाइज़)*

कृषि अनुसंधान का भारी खर्च उठा सकना तीसरी दुनिया के देशों की क्षमता से परे था। अत: अन्तरराष्ट्रीय सहयोग से कृषि अनुसंधान केन्द्रों की स्थापना उसकी तार्किक परिणति थी। किन्तु 'सिमिट' की स्थापना के लिए स्थान और समय के चयन को राकफेलर फाउण्डेशन के उन प्रयत्नों से जोड़ा जा सकता है जो उसने मेक्सिको सरकार के अमेरिका के प्रति कड़े रुख को लचीला बनाने के लिए मेक्सिकन कृषि कार्यक्रम के तहत किये थे। इस परियोजना के शुरुआती नतीजे चमत्कारिक थे। नये बीजों के प्रयोग से फसलों की उत्पादकता तेजी से बढ़ने लगी। मेक्सिको, जो 1944 तक गेहूं के आयात पर पूर्णरूपेण निर्भर था, 1967 आते-आते गेहूं का निर्यात करने लगा। इस दौरान (1944-1967) गेहूं की प्रति हेक्टेयर उपज तीन गुनी तथा मक्के की उपज दो गुनी हो चुकी थी।

यह हुआ कैसे? दरअसल तीसरी दुनिया के सभी देशों में उगाई जाने वाली फसलों की परम्परागत प्रजातियां कमजोर तने वाली थीं और ऊंची बढ़वार करती थी! अगर उनमें खूब खाद-पानी दिया जाता तो वे कमजोर तना व भारी वजनी बालों की वजह से गिर जाया करती थीं। इसके फलस्वरूप उनकी पैदावार कम होती थी। किन्तु सामान्य दशाओं में यह प्रजातियां प्राकृतिक आपदा, प्रतिकूल परिस्थितियों, कीटों, खरपतवारों आदि का सामना बेहतर ढंग से कर सकती थीं।

इन परम्परागत बीज प्रजातियों के विपरीत, नई बीज प्रजातियां बौनी थीं। उनके तने छोटे तथा अपेक्षाकृत मोटे व मजबूत थे। अत: वे रासायनिक खाद की भारी-भरकम खुराक हजम कर अच्छी सिंचाई की दशा में अधिक उपज दे सकती थीं। किन्तु उनमें हजारों साल के प्राकृतिक चयन से उद्भूत नैसर्गिक स्वीकार्यता न तो आ सकती थी और न ही थी। वे नियन्त्रित या मनोवांछित परिणाम दे सकती थीं किन्तु उनमें जरा-सा विचलन भी चमत्कारिक बीजों की उत्पादकता को सामान्य प्रजातियों से भी नीचे पटक सकता था।

मैक्सिको के कृषि कार्यक्रम—'मैप' (MAP) के तहत भी इन बीजों को मैक्सिको के सोनोरा जिले में स्थित बड़े फार्मों में ही पहले आजमाया गया। यहां इस तथ्य पर गौर करना चाहिए कि **'मैप' के तहत स्थापित इस अनुसंधान केन्द्र के कारपोरेट पूंजी तथा सम्पत्तिशाली कृषि वैज्ञानिकों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध थे जो सबके सब कृषि अनुसंधान की संघीय प्रणाली में समेकित हो गये** (ओआसा और जेनिंग्स, 1982; पृ. 38[12] क्लीवर[13] 1972; फिट्ज़जेराल्ड 1986[14] और जेनिंग्स 1988[15])

मैक्सिको में अपने केन्द्र पर गेहूं की फसल में मिली सफलता से उत्साहित होकर, राकफैलर ने फोर्ड फाउण्डेशन के साथ मिलकर ऐसा ही प्रयोग एशिया में वहां की मुख्य खाद्य फसल धान के साथ करना तय किया। साठ के दशक की शुरुआत में फिलीपींस में अन्तरराष्ट्रीय धान अनुसंधान संस्थान—'इर्री' (IRRI) की स्थापना हुई। माल्थुस के मुहावरे को काम में लाते हुए फाउण्डेशन, एशिया में भूख एवं ग्रामीण असन्तोष का हौवा खड़ा करने के बाद आसानी के साथ खाद्य-उत्पादन की वृद्धि में लग गये। 'इर्री' की स्थापना के समय फिलीपींस के तत्कालीन राष्ट्रपति **मेकापेगाल** ने फरवरी 1962 में इसके उद्घाटन को ''साम्यवादी खतरे के खिलाफ एक प्रभावशाली हथियार'' के तौर पर चिन्हित किया। (*ओआसा और जेनिंग्स 1982 पृ. 39)*

'इर्री' में नतीजे 'सिमिट' की अपेक्षा जल्दी आने लग गये। सन् 1966 में धान की पहली बौनी प्रजाति जारी हुई। अनुकूल एवं प्रदिष्ट परिस्थितियों में इस प्रजाति की उपज कमाल की थी। अब अन्तरराष्ट्रीय विकास संस्थानों की आकांक्षाएं बढ़ गईं कि अब नई प्रजातियों को प्रौद्योगिकी पैकेज के साथ पूरी दुनिया में हस्तान्तरित किया जा सकेगा। दरअसल एक प्रभावी तकनीक के तौर पर **'हरित क्रान्ति'** को पहचान अब मिली थी। इस समय तक लोगों (किसानों) की नये बीजों से उम्मीदें एक हद से ज्यादा बढ़ गई थीं। यहां तक कि 1969 में 'इर्री' के निदेशक **डा. चैंडलर** को यह चेताना पड़ा कि 'चमत्कारी धान' केवल तभी चमत्कारी नतीजे दे सकता है जब भरपूर रासायनिक उर्वरकों की खुराक के साथ पर्याप्त पानी एवं कीटों, रोगों, खरपतवारों के नियंत्रण हेतु कीटनाशी आदि रसायनों का भी समुचित प्रबन्ध किया जाये (*सूसन जॉर्ज, वही)।*

'कमाल' की उपज पाने के लिए जरूरी था कि गेहूं, धान, मक्का के वे ही बीज बोये जायें जो रासायनिक खादों, सिंचाई, जलप्रबन्ध, कीटनाशक

तथा मशीनों आदि का भारी उपयोग कर सकें। भरपूर पैदावार के लिए इन आगतों की भारी मात्रा दरकार थी।

हरित क्रान्ति के ढिंढोरेबाज यह जानते थे कि उपज में 15-20 प्रतिशत की वृद्धि से कोई प्रभावित नहीं होगा। उपज में 100-600 प्रतिशत की वृद्धि के प्रदर्शन प्रयोगों ने किसानों की कल्पना में घर कर लिया। वे नये बीजों एवं उनके लिए जरूरी उपादानों के लिए उतावले हो उठे (*बोरलॉग और आरेस्विक, 1973*[16])।

शोध केन्द्रों पर तथा किसानों की उपजाऊ जमीनों पर किये गये प्रदर्शन प्रयोगों ने उनकी कल्पना को साकार भी कर दिया। वे किसान जो इन उपादानों को (इनपर भारी सरकारी सब्सिडी थी) को नकद या उधार खरीद सकते थे, उन्हें इसमें भारी कमाई नजर आई।

'तकनोलॉजी पैकेज' के तहत जारी की गई नई प्रजातियों में कुछ विशेष लाक्षणिकताएं समाहित थीं। जैसे वे खादों एवं अन्य कृषि रसायनों के भरपूर इस्तेमाल तथा समुचित सिंचाई से ही अच्छी पैदावार देती हैं। बौनेपन की वजह से पोषक तत्वों का अधिकांश भाग दानों की सर्जना में प्रयुक्त होता है। वे प्रकाश के प्रति संवेदनहीन होती हैं यानी उन पर दिन की कालावधि (photoperiod) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अत: निश्चित समय में पक कर तैयार हो जाती हैं। इसी वजह से बहुफसली खेती भी हो सकती है। यही वजह थी कि थोड़े समय में ही पुरानी परम्परागत खेती को पछाड़ 'हरित क्रान्ति' समूची तीसरी दुनिया पर छा गयी। सात वर्षों में (1965-72) ही बौनी प्रजातियों की खेती का क्षेत्रफल कई गुना बढ़ गया। गेहूं की खेती 10,000 हेक्टेयर से बढ़कर 17 मिलियन हेक्टेयर, धान 49,000 से बढ़कर 16 मिलियन हेक्टेयर हो गयी। इसी दौरान 6 मिलियन हेक्टेयर भूमि और कृषि भूमि बना दी गई। नई प्रजातियों का यह जादू समूची तीसरी दुनिया में सिर चढ़ कर बोलने लगा। यह मैक्सिको, फिलीपींस, भारत से फैलकर अल्जीरिया, मोरक्को, ट्यूनिसिया, ईरान, इराक, सऊदी अरब, तुर्की, केन्या, मिस्र, ब्राजील, पाकिस्तान आदि तमाम देशों में छा गया। लेकिन हरित क्रान्ति 'दूध की धुली' साबित नहीं हुई। आगे चलकर यह अहसास गहराता चला गया कि नई प्रौद्योगिकी से उच्च उपज तभी पाई जा सकती है जब एक खास पद्धति काम में लाई जाये। इसका मुख्य निर्णायक अवयव रासायनिक खाद, खास तौर पर नाइट्रोजन खाद का इस्तेमाल है। **बोरलाग** समेत हरित क्रान्ति के तमाम पैरोकार इस तथ्य से भली भांति अवगत थे (*बोरलाग और आरेस्विक, 1973*)। इस तकनीक का विकास भी 1960 के दशक में हुआ जब विश्व उर्वरकों के अति उत्पादन के संकट से गुजर रहा था। इस कारण से उर्वरकों की कीमतें बहुत गिर गई थीं। दरअसल नई कृषि के समस्त निवेशों में उर्वरक ही थे जो चमत्कारी बीजों की उच्च उपज को पाने के लिए बेहद जरूरी थे। एक बार किसान को इस प्रौद्योगिकी से फायदे की आदत पड़ जाये तो धीरे-धीरे समस्त आगतों की मांग खुद ब खुद बढ़ जायेगी। **लेस्टर ब्राउन** के मुताबिक एक बार तीसरी दुनिया के किसान इस प्रौद्योगिकी को अपना लेंगे, यानी उन्हें इसकी लत पड़ जाये तो जाहिर है कृषि आगतों की मांग बढ़ जायेगी। उनके अनुसार,

''...अमेरिकी किसान प्रति एकड़ 42 डालर ऐसी वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च करता है जिसकी आपूर्ति गैर कृषि क्षेत्रों से होती है। जापान जैसे देशों में जहां सघन खेती होती है यह खर्च और भी ज्यादा है। अत: गरीब देशों में भी आगतों पर और खर्च की हम उम्मीद कर सकते हैं।'' आगे ब्राउन महोदय फरमाते हैं कि ''इन उत्पादों की कुशलतापूर्वक आपूर्ति केवल बहुराष्ट्रीय निगम ही कर सकते हैं।'' निहितार्थ यह है कि हरित क्रान्ति के प्रसार में बहुराष्ट्रीय निगमों के अपने कारोबार को बढ़ाने एवं मुनाफा कमाने के निहित स्वार्थ थे (*सूसन जॉर्ज, पूर्वोक्त)।*

अत: यह कतई आश्चर्यजनक नहीं है कि भारत और पाकिस्तान जैसे अन्य देशों में हरित क्रान्ति प्रौद्योगिकी आरोपित करते समय विश्व बैंक तथा अमेरिकी सहायता एजेंसी (USAID) द्वारा दबाव डाला गया कि वे पश्चिमी देशों की रसायन कम्पनियों को अपने घरेलू बाजारों में उत्पादन, वितरण और विक्रय की छूट दें। दरअसल बहुराष्ट्रीय निगमों को अपने अबाध व्यापार की आजादी में तीसरी दुनिया की सरकारों द्वारा काटछांट बर्दाश्त नहीं है। चूंकि सीधे राजनीतिक दबाव से बहुराष्ट्रीय निगमों की छवि धूमिल होती, अत: उन्होंने इसके लिए खाद्यान्न को सटीक औजार पाया। **स्टैण्डर्ड ऑफ इण्डियाना** ने भारत को (फूड फॉर पीस योजना के तहत) खाद्यान्न आपूर्ति तब तक रोकी रखी जबतक कि उसे भारत में स्वनिर्धारित कीमतों पर खाद्यान्न आपूर्ति की अनुमति नहीं मिली (*वर्ल्ड हंगर, 1966, पृ. 23)*[17]। सन् 1963 में **बेक्टेल कार्प** (Bechtel Corp) ने भारत में 5 उर्वरक कारखानों के निर्माण का प्रस्ताव रखा। जब भारत सरकार ने मूल्य निर्धारण की उसकी नीतियों-शर्तों को स्वीकार नहीं किया तो प्रस्ताव रद्द हो गया। बाद में अकाल और अमेरिकी दबावों के चलते भारत सरकार ने उसे लगभग जस का तस मान लिया (*''यू.एस. शेप्स फाइट ऑन वर्ल्ड हंगर'', 1965, पृ. 36)*।[18]

बोरलाग ने भारतीय किसानों और राजनीतिज्ञों से बार-बार कहा कि 'केवल रासायनिक उर्वरकों से ही आप उम्मीद रख सकते हैं' और सिर्फ इन्हीं के इस्तेमाल से पिछड़ी खेती की नैया पार लग सकती है (*डॉयल, 1985 में उद्धृत*)।[19] उर्वरकों के अलावा इस नई खेती में इस्तेमाल होने वाले दूसरे आगतों (inputs) ने भी पश्चिमी बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए एक आकर्षक बाजार उपलब्ध कराया। दूसरी ओर, इस तरह की खेती में बढ़ती लागत ने छोटे किसानों को तेजी से बाहर करना शुरू कर दिया। इस तरह की खेती में ऊर्जा की अत्यधिक खपत का अनुमान **सूसन जार्ज** के इस आकलन से लगाया जा सकता है कि अमेरिकी कृषि प्रणाली में एक कैलोरी उपजाने के लिए 12 कैलोरी खर्च करनी पड़ती है।

हरित क्रान्ति के बाद भारत में भी ट्रैक्टर, कम्बाइन, सिंचाई पम्प तथा कीटनाशकों, उर्वरकों आदि-आदि के साथ ही मशीनों को चलाने हेतु डीजल और बिजली ने उत्पादन की लागत को बढ़ा दिया। हरित क्रान्ति प्रौद्योगिकी के लिए आवश्यक उच्च ऊर्जा आगतों (high energy inputs) तथा ऊर्जा की बढ़ती कीमतों के कारण इस प्रौद्योगिकी को केवल बड़े सम्पन्न किसान ही अपना पाये जो खेती में पूंजी लगा सकने की हैसियत में थे। इस तरह, इस नई कृषि उत्पादन प्रौद्योगिकी ने एक ओर जहां बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और कृषि-आगतों का उत्पादन करने वाली देशी औद्योगिक इजारेदारी को एक बहुत बड़ा बाजार उपलब्ध कराया तथा उनके मुनाफे में भारी बढ़ोत्तरी की, वहीं इसने बाजार के लिए पैदा करने वाले कुलकों-फार्मरों की अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाया तथा गांवों में किसान आबादी के विभेदीकरण की प्रक्रिया को तेज कर दिया।

इसी दौरान बहुराष्ट्रीय निगमों ने तीसरी दुनिया में अपने पंजे और अधिक गहराई तक गड़ा लिये क्योंकि ''निगमों के लिए यह सुनहरा अवसर था। वे इसे गंवाना नहीं चाहते थे चाहे इसके खतरे जो भी हों'' (*भगवान और अन्य, 1973, पृ; 6)*[20] यह पहलू भी यहां गौरतलब है कि उर्वरक, कीटनाशक दवाओं और सिंचाई परियोजनाओं के लिए आवश्यक विपुल पूंजी की आपूर्ति कर पाने में यूरोप के, और सबसे अधिक अमेरिका के विशाल बहुराष्ट्रीय निगम ही सक्षम थे, अत: स्वाभाविक तौर पर कृषि विकास की नीतियों और दिशा पर उनका प्रभावी नियंत्रण होना ही था (*यू.एस.हाउस ऑफ रिप्रेजेण्टेटिव्स, 1970,* इसके अतिरिक्त *भगवान, पूर्वोक्त, पृ. 6)*[21]

आगे हम हरित क्रान्ति के द्वारा भारत में आये परिवर्तनों पर नजर डालेंगे। 1950-51 से 1980 तक के परिवर्तन कुछ इस प्रकार हैं। भारत की कुल कृषि भूमि का 17.1 प्रतिशत ही 1950 में सिंचित था किन्तु '79 में यह 28 प्रतिशत हो गया। इसी कालावधि में उर्वरक खपत आधे किलोग्राम प्रति हेक्टेयर से बढ़कर 29.5 किलो प्रति हेक्टेयर हो गयी। इसी कालावधि में उर्वरकों के इस्तेमाल में 75 गुना, सिंचाई के डीजल पम्पों की संख्या में 18 गुना तथा बिजली के टयूबवेल पम्पों की संख्या में 62 गुना वृद्धि हुई। उर्वरकों

के भारी इस्तेमाल तथा सिंचाई सुविधाओं के उपलब्ध होने से कृषि उत्पादन में भारी मात्रात्मक परिवर्तन भी हुए। कृषि उपज में डेढ़ से दो गुनी बढ़ोत्तरी हुई। किन्तु इन परिवर्तनों के साथ ही खेती के गुणात्मक स्वरूप में भी परिवर्तन आया। हरित क्रान्ति के प्रसार-विस्तार के साथ ही छोटे और मझोले किसानों की बदहाली-कंगाली बढ़ी है। उनका विलोपन होकर उजरती गुलामों की एक नई प्रक्रिया प्रकट हुई है। 1961 से 1971 के बीच किसानों की संख्या में 15 प्रतिशत की कमी तथा उसी कालावधि में कृषि मजदूरों की संख्या में 56 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1961 से 1981 तक की जनगणनाओं से यह पुष्ट होता है कि खेतिहर मजदूरों की संख्या क्रमशः 18 से बढ़कर 31 प्रतिशत तथा 44 प्रतिशत हो गई थी। दूसरी तरफ औसत 17 हेक्टेयर जोत वाले फार्मों की संख्या 1961-62 के 23 लाख से बढ़कर 1970-71 में 28 लाख हो चुकी थी (*चरणसिंह, 1982* [22])। हरित क्रान्ति ने अपने से पूर्व के सामाजिक सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर दिया। इसके साथ ही उत्पादन प्रक्रिया के स्वरूप में परिवर्तन की वजह से हाशिये पर ठेल दिये गये लोगों के पास अब कोई विकल्प भी नहीं रह गया। अन्ततः हार कर वे महानगरों से लेकर कुलक फार्मों में उजरती गुलाम की जिन्दगी जीते हुए कहीं भी झुग्गी-झोपड़ी में मरने-खपने को विवश हैं।

अब यह कहना आसान नहीं है कि प्रौद्योगिकी सबके लिए समान रूप से उपयोगी है। इसी ढंग से यह सोचना बेमानी है कि कृषि में प्रौद्योगिकी के प्रयोग से समाज में वांछित बुनियादी बदलाव लाये जा सकते हैं। इस अवधारणा का गहन अध्ययन आवश्यक है। चूंकि प्रौद्योगिकी एक सामाजिक उत्पाद है अतः इसका उपयोग तथा लाभ-हानि सामाजिक परिस्थितियों द्वारा ही निर्धारित होंगे। अगर समाज का संगठन ऐसा है कि उसका एक वर्ग दूसरे वर्ग की कीमत पर, तमाम मानव तथा प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग तथा लाभ लेने को मान्यता देता है तो कोई भी प्रौद्योगिकी सबके लिए समान रूप से उपयोगी नहीं हो सकती। कोई भी प्रौद्योगिकी मौजूदा सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक हैसियत के अनुसार किसी समुदाय पर लाभदायक तो दूसरे समुदाय पर हानिकारक प्रभाव डालती है। यह प्रभाव मात्र प्रौद्योगिकी के कारण नहीं वरन् समाज में व्याप्त उत्पादन सम्बन्धों एवं उत्पादन-शक्तियों द्वारा निर्धारित होते हैं। प्रौद्योगिकी में परिवर्तन का नतीजा प्रौद्योगिकी के सातत्य (continuity) से लेकर प्रौद्योगिकी के ध्रुवीकरण तक कुछ भी हो सकता है। शोषण के उद्देश्य से (*अति लाभ के संग्रहण के लिए*) किया गया प्रौद्योगिकी का प्रसार समाज के उत्पादन-सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। इससे समाज में बिखराव व विलगन होता है जो अन्ततः समाज के लिए ही विनाशकारी सिद्ध होता है। जैसे आधुनिक कृषि-यंत्र जो खेतिहर मजदूरों की जीविका छीन कर उन्हें कम मजदूरी पर काम करने को बाध्य करते हैं, किसी मामले में मौजूदा श्रम से कुशल नहीं हैं (*फ्रीडलैण्ड 1981*[23], *वाण्डरमीर 1982*[24] *योजेन 1983*)। संक्षेप में बुराई प्रौद्योगिकी में नहीं है, बल्कि उसके इस्तेमाल करने वाले समाज के ढांचे में है। अतः दारुण परिणामों के लिए सामाजिक ढांचे की, उसमें भी समाज के मुख्य अंग—राज्य की आलोचना करनी चाहिए, क्योंकि राज्य ही समाज के विभिन्न वर्गों के अन्तर्सम्बन्धों को व्यक्त करता है (*पाटणकर, ओमवेत, 1977*)[25]। इस परिप्रेक्ष्य में क्यूबा का उदाहरण द्रष्टव्य है। 1959 के पहले वहां थोड़े से लोगों को छोड़ कर सभी लोग अमेरिका से जुड़ी गतिविधियों में व्यस्त थे। इनमें चीनी मिल मालिक, चीनी गोदामों के मालिक तथा बड़े जागीरदार शामिल थे। ये लोग चीनी उद्योग के नवाब थे। बड़े आयातक जो शहरी धनिकतंत्र के सदस्य थे, आयात द्वारा प्रतिवर्ष सैकड़ों मिलियन डालर कमाते थे। बैंकरों का धंधा ही चीनी, तम्बाकू के निर्यात तथा अन्य सामग्री के आयात से चलता था। यहां तक कि रेस्तरां तक अपने व्यापार के लिए अमेरिकी पर्यटकों पर निर्भर थे। कुल मिलाकर बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ चन्द स्थानीय अमीर लोगों के सहयोग तथा राज्यसत्ता के समर्थन से ही क्यूबा में 1959 की क्रान्ति के पहले बागान खेती कायम थी। अतः तकनीक के दारुण एवं दुखद परिणामों के लिए प्रश्न राज्य के स्वरूप पर उठना चाहिए।

राज्य, अन्तरराष्ट्रीय विकास एजेन्सियां तथा विकास नीति

सिद्धान्ततः राज्य अपने हस्तक्षेप द्वारा समाज की वर्गीय संरचना की वजह से उत्पन्न किसी भी प्रौद्योगिकी के कुप्रभावों को कम कर सकता है। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब राज्य सामाजिक संरचना से परे कोई तटस्थ न्यायाधिकरण हो। लेकिन राज्य सीधा-सच्चा न्यायाधिकरण नहीं है बल्कि राज्य तो वर्ग-विशेष की शक्ति और सत्ता के केन्द्रीकरण की अभिव्यक्ति मात्र है। सत्ता के शीर्ष पर पहुंचे हुए लोग केवल अपने लिए कार्य नहीं करते हैं, वरन् सभी शासक वर्गों की वर्गीय आकांक्षाओं और हितों को स्वर प्रदान करते हैं। फलतः वे आय और सम्पत्ति के बंटवारे को शासकों के वर्गीय हितों के अनुकूल एक खास दिशा में गतिशील करने का प्रयास करते हैं। यह सत्ता चलाने वाले लोगों की अभिलाषा एवं दायित्व होता है कि वे सुनिश्चित करें कि राज्य के अधिकारों का उपयोग उस स्वामी वर्ग के हितों के लिए हो रहा है, जिनके समर्थन से वे सत्तासीन हैं। (*मित्रा 1977, पृ.-10*[26], इसके अलावा *ओमवेत 1983*[27], *नकवी, 1973*[28] *सेलगोर्ग, 1982*[29])

तीसरी दुनिया में हरित क्रान्ति के प्रसार में राज्य की अहम भूमिका रही है। इन देशों में सदियों से खेती करते आये किसान अन्योन्याश्रित रहते हुए सामुदायिक स्तर पर आत्मनिर्भर थे। लेकिन हरित क्रान्ति के प्रसार के बाद वे अपनी परम्परागत गतिविधियों से अलग बाहरी तकनीकी जानकारी तथा उसके पैकेज पर आश्रित हो गये। नई कृषि में, उर्वरक, कीटनाशी, सिंचाई आदि की हर जरूरत ने परम्परागत कृषि की अपेक्षा अधिक पूंजी निवेश की मांग की। फलतः अब कृषि के लिए आवश्यक सामग्री जुटाने हेतु वित्तीय संस्थाओं से ऋण प्राप्त करने में किसान की साख अत्यन्त जरूरी बन गई। बड़े किसानों की तुलना में छोटे किसान, साख की कमी की वजह से वंचित होने लगे। रहा बटाईदार, वह तो साख के मौलिक आधार, भूस्वामित्व से ही वंचित था, अतः उसकी साख तो न के बिराबर थी। अतः छोटे किसान और बटाईदार आज भी हरित क्रान्ति के लाभ से वंचित हैं।

तमाम पिछड़े देशों में आधुनिक खेती के लिए तकनीकी संसाधन एवं सेवाएं बाजार से कम दाम पर या एकदम मुफ्त उपलब्ध कराये जाते हैं। इसका विपणन-वितरण राज्य की नौकरशाही कराती है। (*शैफर और वेन हेसिन, 1975* [30] *तथा ग्रिफिन, 1974*[31])

प्रश्न यह है कि वे कौन लोग हैं जो यह सेवाएं हासिल कर लेते हैं। जिनकी इस तंत्र तक पहुंच है। भारत में छोटे किसानों तक सहायता इसलिए देर से पहुंची कि छोटा किसान ''परिभाषित'' नहीं किया जा सका। इस प्रश्न के नौकरशाहाना हल से कई और झमेले खड़े हो गये। अब छोटे किसान को निर्दिष्ट सहायता प्राप्त करने के लिए अपने 'छोटेपन' से लेकर कर्ज मुक्ति तक कई प्रमाणपत्रों की जरूरत पड़ी। इसके साथ ही किसान ढेर सारी मुसीबतों के शिकंजे में आ जाता जैसे साहब के रुख का इन्तजार, दस्तावेजों की छानबीन, स्वामित्व के झगड़े-झमेले, मालगुजारी की बकायेदारी तथा हर मामले में हाकिम (जो चपरासी से लेकर जिलाधिकारी तक कुछ भी हो सकता है) को औपनिवेशिक चलन के अनुसार नजर-नजराना—सब कुछ किसान को घेर लेते। प्रत्येक छोटे किसान को अपनी गृहस्थी को इस प्रकार कसना-मांजना पड़ता है कि चार पैसे खेती में लगाने और ब्याज चुकाने के लिए बच जाएं। इसके साथ संसाधनों की कमी तथा हीनतर सामाजिक स्थिति उसकी समस्या को और भी गम्भीर बना देते हैं। शैफर और वेन हेसिन स्थिति को इस प्रकार निरूपित करते हैं : ''*विषमता के विरुद्ध भावना को आसानी से नौकरशाहाना वितरण व्यवस्था के रूप में भुनाया जा सकता है, आमतौर पर प्रभुत्व और सामाजिक अवस्थिति से हीन*

निम्न आय वर्गों के लिए यह ज्यादा सही है। यह सोची-समझी नीति है।'' इस प्रक्रिया का ज्वलन्त उदाहरण भारत में सस्ते गल्ले की सार्वजनिक वितरण प्रणाली है जो भ्रष्टाचार के दलदल में धंसकर नाकारा हो चुकी है पर आज उसी व्यवस्था के कंधों पर गरीबों के अनाज-वितरण की योजना डाल दी गई है। वर्तमान व्यवस्था उत्पादन सम्बन्धों और प्रक्रिया में ऐसा परिवर्तन ला ही नहीं सकती कि प्रत्येक मेहनतकश अपने परिवार की दो जून की रोटी जुटा सके। इसके बदले नोच-खसोट से भरी एक सरकारी व्यवस्था खड़ी कर दी गई है जो गरीबों को अनाज देगी।

तीसरी दुनिया में आर्थिक क्षेत्र की जिम्मेदारी सीधे राज्य के हाथों में है। जब अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्रों (IARC) की संख्या काफी बढ़ गई तथा इनकी गतिविधियां चला पाना निजी फाउण्डेशनों के बस की बात नहीं रह गई तब यह जिम्मेदारी एक संयुक्त राष्ट्र सरीखे तंत्र को सौंप दी गई। इस हस्तान्तरण में **राबर्ट मैकनामारा** ने जो **फोर्ड फाउण्डेशन** के निदेशक मण्डल के सदस्य थे तथा बाद में विश्वबैंक के अध्यक्ष भी बने, मुख्य भूमिका निभाई।

तेरह कृषि अनुसंधान केन्द्रों का समेकित तंत्र बनाकर इसका नियंत्रण धनदाताओं के एक अनौपचारिक समूह—अन्तरराष्ट्रीय कृषि सलाहकार समूह (CGIAR) को सौंप दिया गया। इस समूह में राष्ट्र, अन्तरराष्ट्रीय संगठन (संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम), विश्वबैंक और कुछ निजी फाउण्डेशन शामिल थे। इस हस्तान्तरण से निजी नियंत्रण का हौव्वा तो हट ही गया, साथ ही संयुक्त राष्ट्र की भागीदारी से इसे वैधानिक सम्प्रभुता भी सहज सुलभ हो गई। 1971 में अपनी स्थापना के बाद से CGIAR अपने तंत्र में पशुधन अनुसंधान केन्द्र समेत नौ और केन्द्र शामिल कर चुका है। किन्तु हरित क्रान्ति के समाजविरोधी नतीजों तथा उसकी आलोचना के प्रखर होने के बाद से इन केन्द्रों में जारी शोध की प्राथमिकता का निर्धारण राज्य के हाथ में सौंप दिया गया है।

अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्रों के विस्तार के पीछे सक्रिय मुख्य तर्क शोध की प्राथमिकताओं तथा आर्थिक-सामाजिक विकास के अन्तरसम्बन्धों में निहित है। CGIAR के अनुसार ''अब बड़े पैमाने पर मान लिया गया है कि अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान को सहायता देने का चरम लक्ष्य विकास ही है।'' (CGIAR, 1981)[32] लगभग इसी समय विश्वबैंक का दावा भी आया कि ''अनुसंधान के लाभ किसानों में किस प्रकार बंटते हैं और उसका दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका निर्धारण राष्ट्र विशेष के कृषि अनुसंधान प्रयासों द्वारा ही होता है। (*ओआसा 1986 पृ. 3-4*)।[33]

उत्पादकता में वृद्धि का एक निहितार्थ तो स्पष्ट है कि अब उसी खेत में कम कामगारों की जरूरत पड़ती है। बहुफसलीय उत्पादन चक्र से उत्पन्न मशीनीकरण और प्रति व्यक्ति बढ़े हुए उत्पादन ने सर्वहाराकरण की प्रक्रिया को तेज कर दिया है जिसके फलस्वरूप शहरों की तरफ पलायन को गति मिली (*बायर्स, 1981*)।[34] बायर्स के अनुसार भारत के हरियाणा और पंजाब में जो कुछ हुआ वह आंशिक सर्वहाराकरण ही था। छोटे किसानों को जीवनयापन के लिए जमीनें बेचनी पड़ीं। यह सब कुछ इंग्लैण्ड की बाड़ाबन्दी जैसा ही था।

साथ ही, बढ़ती बेरोजगारी के साथ कभी-कभी तो उसी देश में श्रमिकों की कमी का सामना भी करना पड़ता है। जैसे केन्या के काफी बागानों में जब फल चुनने के लिए 1,25, 000 मजदूरों की आवश्यकता थी, उस समय मात्र 35,000 नियमित कर्मचारी ही उपलब्ध थे। दरअसल बहुत कम मजदूरी अन्य किसी को आकर्षित नहीं कर पाई थी।

हरित क्रान्ति के दौरान भारत में मशीनीकरण तथा 'बौनी प्रजातियों' की खेती के साथ चाय बागानों में 1958-68 के बीच रोजगार में 25 प्रतिशत की कमी हुई। 1970 के दशक के दौरान उत्तरोत्तर मशीनीकरण से **श्रम संघनन** (labour intensity) और भी बढ़ने के नाते मजदूरों के रोजगार में तथा सकल आय में कमी हुई। मलेशिया में यह प्रवृत्ति रबर-बागानों में काम के लिए महंगे पुरुष-मजदूरों के बजाय सस्ते स्त्री-मजदूर रखने की रुझान से जाहिर हुई।

अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्रों (आई.ए.आर.सी.) की रणनीति के पीछे यह अवधारणा थी कि तीसरी दुनिया के देश भी विकास के उसी रास्ते पर चलेंगे जिसे पश्चिमी देश पीछे छोड़ आये हैं। यह जबर्दस्त मान्यता थी कि उत्पादकता बढ़ा कर ही आधुनिकीकरण किया जा सकता है लेकिन पिछले दो दशकों के अनुभव इस पाखण्डपूर्ण अवधारणा को बुरी तरह खण्डित करते हैं। इस दौर में पूरी दुनिया में औद्योगिक उत्पादों की तुलना में कृषि उत्पादों की कीमतों में जबर्दस्त गिरावट आई है।

वर्तमान राजनैतिक-आर्थिक परिदृश्य में कृषि-उत्पादों की कीमतों में सुधार की कोई संभावना दिखलाई नहीं देती। अतः **उत्पादन-वृद्धि जनित समृद्धि के समुचित वितरण (सामाजिक परिवर्तन द्वारा) के बिना उत्पादकता-वृद्धि पर केन्द्रित कृषि अनुसंधान की दिशा तीसरी दुनिया के देशों को अन्धकार की ओर ही ले जाने वाली है।**

हरित क्रान्ति पर उपलब्ध विपुल साहित्य से यही नतीजा निकलता है कि इस प्रौद्योगिकी का लाभ बड़े और मझोले किसानों तक ही सीमित रहा, क्योंकि वे ही इस मंहगी प्रक्रिया के इस्तेमाल में सक्षम थे। इससे समृद्धि के केन्द्रीकरण को बढ़ावा मिला है। केन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया से जाहिर है कि आधुनिकीकरण की यह अवधारणा कि समृद्धि के रिसाव से गरीबी मिटती है, झूठी साबित हुई है। इसका स्वाभाविक परिणाम था कि समृद्धि के रिसाव के सिद्धान्त (Trickledown theory) पर तथा इससे जुड़ी आई.ए.आर.सी. प्रणाली पर प्रश्नचिन्ह लगने लगे। औचित्य के इसी प्रश्न ने आई.ए.आर.सी. को बाध्य किया कि वह उजड़ चुके लघु कृषकों तक पहुंचने का वैकल्पिक मार्ग तलाशे। उसने इसके लिए हल ढूंढ़ा—समग्र कृषि-तंत्र पर आधारित अनुसंधान—एफ.एस.आर. (Farming System Research)।

समग्र कृषि-प्रणाली आधारित अनुसंधान की सैद्धान्तिक रणनीति हरित क्रान्ति की आलोचना की तार्किक परिणति है। ओआसा इसके विरुद्ध तर्क रखते हैं कि एफ.एस.आर. विषयवस्तु के गुणात्मक परिवर्तन के बजाए बाह्य परिवर्तन मात्र है।[36] ओआसा के तर्क एकदम सीधे-सरल हैं। एफ.एस.आर. के तरफदार कहते हैं कि यदि छोटे किसान उजड़ रहे हैं तो जरूरत इस बात की है कि वर्तमान विकास-प्रक्रिया में जमीनी स्तर पर सुधार किया जाये ताकि योजनाबद्ध तरीकों से हरित क्रान्ति के बीज उन्हें भी आसानी से सुलभ हो सकें। इसके लिए नई बीज तकनीक को छोटे किसान की खेती के तौर-तरीकों में समायोजित करना है। अतः एफ.एस.आर. में कोई गुणात्मक भेद नहीं है इसकी अन्तर्वस्तु वही है जो हरित क्रान्ति की थी। यानी कुल मिलाकर यह कि एफ.एस.आर. की कृषि विकास की अवधारणा हरित क्रान्ति के सिद्धान्तों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। कृषि विकास की यह दिशा विकास के प्रस्तोताओं-प्रशासकों को दो वजहों से आकर्षक लगी। सर्वप्रथम, दुष्परिणामों को लेकर हरित क्रान्ति की आलोचना उसको क्रियान्वित करने वाले संगठनों (आई.ए.आर.सी.) की नियति और औचित्य पर प्रश्नचिन्ह खड़े करने लगी थी।

अब विश्वबैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ.ए.ओ.) जैसी एजेन्सियां जनसामान्य की निगाह में **उतनी** पवित्र नहीं रह गई थीं। उनकी नीतियों एवं कार्यक्रमों का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाने लगा तथा यह जगजाहिर हो गया था कि उनके कार्यक्रम औद्योगिक राष्ट्रों की समृद्धि के पक्ष में बुरी तरह अभिप्रेरित हैं। यह आम जन और तीसरी दुनिया के देशों के विकास के विरुद्ध हैं। अब लोग समझने लगे थे कि खाद्य सहायता कार्यक्रम व्यापार प्रवर्द्धन अभियान तथा तीन गरीब महाद्वीपों पर असहाय असामी बनाने का प्रयास मात्र है।

ऐसी परिस्थिति में एफ.एस.आर. के द्वारा आई.ए.आर.सी. के केन्द्रों के समक्ष खड़ा औचित्य का संकट समाप्त होता था। इससे यह आभास होता था कि आई.ए.आर.सी. अब छोटे किसानों के बारे में भी सोचता है।

दूसरे एफ.एस.आर. से हरित क्रान्ति के निन्दकों (उदारवादी समाजशास्त्री, एवं वैकल्पिक प्रौद्योगिकी के पक्षधर) को विकास की प्रक्रिया में सम्मिलित होने का अवसर मिल जाता था। **विकास-प्रक्रिया में उनकी साझीदारी दरअसल उनकी आलोचना को सफलतापूर्वक चुप करा सकती थी। एक बार तंत्र का अंग बनते ही व्यक्ति का विरोधी स्वर दब ही जाता है।**

ओआसा का सिद्धान्त अब स्पष्ट होने लगता है। आलोचकों को उनकी अवधारणा सहित विकास-प्रक्रिया में शामिल करने में वर्तमान विकास रणनीति में बहुत कम परिवर्तन की जरूरत थी। **ओआसा** और स्वेन्सन (1986) अपनी आलोचना में स्पष्ट करते हैं कि एफ.एस.आर. की निहित अवधारणा एवं शुमाखर के '*स्माल इज ब्यूटीफुल*' से जुड़े **वैकल्पिक प्रौद्योगिकी आन्दोलन—'ए.टी.एम.' (**ATM**)** की अवधारणा में कितनी समानता है। वे कहते हैं कि एफ.एस.आर. एक उपयोगी अनुसंधान तकनीक हो सकती है किन्तु विकास नीति के रूप में एकदम खोखली है क्योंकि यह बाजार की वास्तविकता को नजरअन्दाज करती है।

ए.टी.एम. और एफ.एस.आर. के पैरोकारों में सहमति बन जाने का आधार यही है कि दोनों के लिए प्रौद्योगिकी ही सब कुछ है। दोनों ही मानते हैं कि परम्परागत समाज से आधुनिक समाज में रूपान्तरण इस बात पर निर्भर करता है कि उस समाज ने किस प्रकार की प्रौद्योगिकी खोजी, विकसित की या बाहर से अपनायी। यानी समाज के स्थानीय आर्थिक-राजनीतिक ढांचे और स्थानीय बाजार तंत्र में कोई बदलाव लाये बिना प्रौद्योगिकी से ही सारे परिवर्तन सम्भव होंगे। दूसरे शब्दों में, वर्तमान कृषि-प्रणाली में उचित या वैकल्पिक प्रौद्योगिकी की चकत्ती लगा कर ही वांछित सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन किये जा सकते हैं। **ओआसा** और **स्वेन्सन** के अनुसार यह समृद्धि के रिसाव के सिद्धान्त को उलट कर सिर के बल खड़ा कर देना है।

मारकोट्टी तथा **स्वेन्सन** (1987) इस बात पर जोर देते हैं कि विकासशील देशों में एफ.एस.आर. को राष्ट्रीय विकास नीति के साथ अनुकूल ढंग से समेकित-सहयोजित होना चाहिए। जब तक विकासशील देशों में राजस्व, मुद्रा एवं कृषि नीति—तीनों सीधे तौर पर किसान के हित में नहीं होती, एफ.एस.आर. को असफल होना ही है। उनके ही शब्दों में "*जब तक समाज के तलछटी लोगों, जिनके लिए एफ.एस.आर. कार्यक्रम बनाया गया है, के हित राष्ट्रीय नीति निर्माताओं के वर्गीय हितों से मेल नहीं खाते तब तक एफ.एस.आर.अपने उद्देश्य में असफल ही रहेगा।* (*मारकोट्टी और स्वेन्सन 1987 पृ. 76*)।[37] एफ.एस.आर. की अवधारणा के विपरीत मारकोट्टी, स्वेन्सन और ओआसा का मानना है कि सामाजिक संरचना में ऐसे परिवर्तन आवश्यक हैं जो बाजार को छोटे किसानों के अनुकूल बनायें। यह छोटे किसानों की आत्मनिर्भरता की अनिवार्य शर्त है। लेकिन यही पर्याप्त नहीं है। उत्पादकता वृद्धि के लाभों को हड़पने से बाजार की शक्तियों को रोके बिना एफ.एस.आर. की सफलता असम्भव है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि एफ. एस.आर. की बातें करने वाले निर्दयी हैं या चिन्तित नहीं है। लेकिन जब तक वे छोटे किसानों के हित में सामाजिक-आर्थिक पुनर्गठन की बातें नहीं करते, उनके द्वारा प्रस्तावित प्रौद्योगिकी छोटे किसानों की दशा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। दरअसल अपनी समस्त अकादमिक श्रेष्ठता और सदिच्छा के बावजूद व्यवस्था के अंग होने के चलते स्वेन्सन क्रान्तिकारी भूमिसुधारों एवं राज्यव्यवस्था के चरित्र में बुनियादी बदलाव की बातें करते हुए भी, इन शब्दों से कतरा कर निकलने की कोशिशें करते दीख पड़ते हैं।

संक्षेप में, गरीबी, भूख और आय-विषमता को कम करने की राजनीतिक जरूरतों से किये गये प्रयास उन्हें दूर तो नहीं कर पाये, लेकिन कुछ नई समस्यायें जरूर खड़ी कर गये। एक तरफ गरीबी, भूख और आय-विषमता न केवल बनी रही बल्कि दशा और बदतर हुई। दूसरी तरफ जैव बहुलता का ह्रास, पर्यावरण का क्षरण तथा खाद्यान्न संकट सभी विकसित और विकासशील देशों के ऊपर पसरने लगे। फलत: सम्पन्न राष्ट्र जो फसल उन्नयन की प्रौद्योगिकी से लैस थे, वनस्पति-जनन-द्रव्य (Plant Germplasm) के लिए तीसरी दुनिया पर आश्रित होते गये। (मूनी 1980, 1985[38], डायल 1985[39])

आधुनिक जेनेटिक हस्तक्षेपों (Genetic Manipulation) से विकसित बीजों को लोकप्रिय बनाकर अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्रों ने एक बड़ा बाजार बनाया। इस बाजार और इसमें निहित आर्थिक संभावनाओं ने निजीकरण की एक ऐसी प्रवृत्ति पैदा की जो अपने प्रस्तोता के अस्तित्व के लिए ही भस्मासुरी खतरा बन गई है।

हरित क्रान्ति का अगला दौर

अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्र बेचने के लिए बीज उत्पादन नहीं करते हैं। इसके बजाय वे प्रजातियां विकसित कर एक आधारभूत-संग्रह बनाते हैं जो तीसरी दुनिया के राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्रों में वितरित होता है। वहां ये राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान तंत्र समुचित मात्रा में बीज उत्पादन कर उनका वितरण करते हैं। अत: अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्र बीजों की प्रजातियों के प्रसार से कोई आर्थिक लाभ नहीं उठा पाते।

तीसरी दुनिया में कार्यरत निजी बीज कम्पनियों ने इस प्रक्रिया से भारी लाभ उठाया। कुछ देशों में जहां इनका विपणन सार्वजनिक क्षेत्र के निगमों के पास था, इन बीजों की लोकप्रियता के अनुरूप आपूर्ति नहीं हो सकी। अत: इनकी कालाबाजारी शुरू हो गई। समृद्ध देशों के बहुराष्ट्रीय निगम इस क्षेत्र की संभावनाओं तथा आकर्षक बाजार को पहले ही भांप चुके थे। वे इस हैसियत में भी थे कि अन्तरराष्ट्रीय केन्द्रों की जगह खुद बीज आपूर्ति कर सकें और बीज पाने वालों से अनुबन्ध कर उन्हें ऐसे उत्पादों की आपूर्ति करें जिससे वे अपनी किस्में विकसित कर सकें। *पौध प्रजाति सुरक्षा अधिनियम 1970* ने निजी बीज कम्पनियों को अपनी प्रजातियां पेटेण्ट कराने का अधिकार दे दिया। अत: बीजों के विकास तथा वितरण का निजीकरण हो गया। ये बीज जिन्हें रोगों, कीड़ों आदि से बचाना जरूरी था, और जो रासायनिक कीटनाशकों व खरपतवारनाशी रसायनों के इस्तेमाल पर बुरी तरह आश्रित थे, एक पैकेज के तौर पर पेटेण्ट कराये जा सकते थे। अब रसायनों तथा दवाओं की बहुदेशीय कम्पनियां भी इस खेल में शामिल हो गईं।

पांच-छ: वर्षों के भीतर इन निगमों द्वारा कई बीज कम्पनियां शुरू की गईं। ये कम्पनियां न केवल बीज परीक्षण कर रही थीं वरन् नये बीज पैकेज को वितरित भी कर रही थीं। 1970 की तेल नाकाबन्दी से महसूस हुआ कि रासायनिक खादों पर पूरी तरह आश्रित बीज प्रजातियां महंगी भी साबित हो सकती हैं। अत: पेट्रोलियम आधारित उर्वरकों के विकल्प की तलाश प्रारम्भ हो गई।

ऐसी बीज-प्रजातियों के विकास के तौर-तरीके जैव-प्रौद्योगिकी (Bio-technology) एवं आनुवंशिकी अभियंत्रण (Genetic engineering) ने सुलभ बनाये। आनुवांशिक अनुदेशों (Genetic instructions) के द्वारा वांछित प्रजाति प्राप्त कर सकने की उम्मीद अब साफ तौर पर नजर आने लगी थी। इसका साफ मतलब यह भी था कि अब ऐसी प्रजातियां भी विकसित की जा सकेंगी जो कृषि रसायनों की और भी बड़ी खुराक पचा सकेंगी।

विकास के इन सोपानों की संरचना को गहराई से समझने के लिए जैव-प्रौद्योगिकी और आनुवांशिक अभियंत्रण को समझने तथा विशेषकर कृषि क्षेत्र में इसके प्रयोग को समझना आवश्यक हो जाता है। तकनीकी औजार के रूप में जैविक-प्रक्रिया का प्रयोग और इसके साथ संचालित गतिविधियां ही जैव-प्रौद्योगिकी हैं (*बुल व अन्य, 1982*)[40]। आर्थिक गतिविधि के हर उस क्षेत्र में जहां कार्बनिक रसायन प्रयोग होता है, जैव-प्रौद्योगिकी के प्रयोग की अपार संभावनाएं हैं। इसके पुरोधा तो यहां

तक दावा करते हैं कि इससे न केवल मौजूदा उत्पादों को कम समय और कम लागत में कुशलतापूर्वक बनाया जा सकेगा वरन् नये उत्पाद भी विकसित किये जा सकेंगे। उनके मुताबिक जैव-प्रौद्योगिकी इन लाभों के लिए प्रतिबद्ध है —

1. उत्पादन लागत में कमी,
2. उत्पादन में उच्च स्तरीय प्रवीणता
3. बाह्य ऊर्जा स्रोतों तथा बाहरी कच्चे माल पर निर्भरता में कमी
4. पेटेण्ट कानूनों द्वारा प्रोप्राइटरी (मालिकाना) अधिकारों का संरक्षण

चौथा मुद्दा जैव-प्रौद्योगिकी को निगमों के लिए ज्यादा लुभावना बना देता है। यह पश्चिमी सभ्यता द्वारा प्रकृति के दोहन का दूसरा दौर है। जैव-प्रौद्योगिकी में यह संभावना है कि वह सूचना, संचार एवं नियंत्रण की दृष्टि से प्रकृति को नये ढंग से परिभाषित करने वाली शक्ति बन सके तथा प्रकृति के दोहन की मानव की क्षमता में वृद्धि कर सके। यही वजह है कि एग्रीबिजनेस, रसायन तथा औषधि क्षेत्रों के बहुराष्ट्रीय निगम जैव-प्रौद्योगिकी एवं जेनेटिक इंजीनियरिंग में दिल खोल कर रुचि दिखा रहे हैं।

जैव प्रौद्योगिकी कोई एक तकनीक होने के बजाय कई तकनीकों का समेकित समुच्चय है। इसके संघटकों में जैव रसायन, आनुवंशिकी, कोशिका विज्ञान एवं आणविक जैव विज्ञान आदि हैं। इनमें विशेषकर आणविक जैव विज्ञान (Molecular Biology) से जैव-प्रौद्योगिकी का उद्भव हुआ। हालांकि आणविक जीव विज्ञान के उद्भव में आर्थिक एवं राजनैतिक कारकों ने मुख्य भूमिका निभाई लेकिन इसे मूलभूत शोध के दायरे में ही रखा गया। 1970 में **कोहेन** और **बायर** ने अपने एक चकाचौंध कर देने वाले शोध द्वारा यह साबित कर दिया कि न केवल किसी बैक्टीरिया की कोशिका में डी.एन.ए. घुसाना सम्भव है वरन् इस बाह्य डी.एन.ए. की अभिव्यक्ति को भी उत्पन्न किया जा सकता है। संक्षेप में यदि कहें तो यह कि मानव आदेशों द्वारा एक कार्य योजना के अनुसार जीव की संरचना को अंजाम दिया जा सकता है। इस प्रक्रिया में वैज्ञानिक अनुसंधान को कुछ इस प्रकार निर्देशित और एवं पुर्नव्यवस्थित किया गया है कि इस तकनीक के विकास के प्रत्येक चरण में इस अधुनातन जीवविज्ञान पर पूंजी का शिकंजा पूरी तरह कसा रहे। इस तथ्य पर जोर देने की जरूरत है कि जैव-प्रौद्योगिकी के प्रयोग से कृषि क्षेत्र में पूंजी के प्रवेश के एक नये चरण की शुरुआत हुई है। इसके स्वरूप में तो अन्तर नहीं है लेकिन इसके संधियोजन (articulation) के तौर-तरीकों में भिन्नता है। इस भिन्नता को समझने की जरूरत है। कृषि में उत्पादकता बढ़ाने तथा लागत व समय की बचत करने के कथित उच्च आदर्शों के नाम पर ही कृषि में एक कालावधि के दौरान, धीरे-धीरे हुए तमाम अलग-अलग और अन्योन्याश्रित कार्यकलापों का ऐतिहासिक तौर पर समावेश सम्भव था। नई प्रौद्योगिकी द्वारा तमाम कृषि कार्य-कलापों की पूरी की पूरी श्रृंखला पर नियन्त्रण पा लिया गया है।

प्रश्न यह होना चाहिए कि क्या वास्तव में दुनिया को क्षुधापूर्ति से बेहतर जीवन-स्तर के लिए उत्पादकता या उत्पादन बढ़ाने की जरूरत है। 1972 में जब लगभग पूरी दुनिया में खाद्यान्न की कमी थी, अमेरिकी सरकार ने किसानों को इस बात के लिए पैसे दिये कि वे 60 मिलियन एकड़ भूमि पर खेती न करें। वर्तमान उत्पादन विधियों से जो प्रचुर उत्पादन हो रहा है, अगर उसका उचित वितरण किया जाये तो इन नई तकनीकों का कोई औचित्य नहीं है। किन्तु विश्व की खाद्य-व्यवस्था पूरी तरह कुछ निगमों के हाथ में है। इन निगमों के प्रतिनिधि उदाहरण के तौर पर हम अमेरिकी कम्पनी कारगिल के बारे में कुछ जरूरी तथ्य रखेंगे।

आज की तारीख में कारगिल एक पारिवारिक कम्पनी है। चूंकि कारगिल अपने वित्तीय दस्तावेज सार्वजनिक नहीं करता, अत: उसके सम्बन्ध में कुछ भी सत्यापित नहीं किया जा सकता। कारगिल अनाजों की खरीदारी, सफाई, सुखाना, संग्रहण, संरक्षण, संस्करण, लदान यहां तक कि उसके लिए बाजार निर्मित करने का कारोबार भी करती है। इसके अलावा वह नमक खनन, गहरे समुद्र में मछली मारना, चीनी तथा शीरे का कारोबार भी करती है। इसकी सम्पत्ति में समुद्री जहाज, बजरे, 1500 रेल वैगन (1974) इसके अलावा असंख्य ट्रकों व क्रेनों के अलावा पूरी दुनिया में फैले हुए बल्क टर्मिनल्स हैं जो 40 मिलियन टन अनाज सम्हाल सकते हैं। इसके पूरी दुनिया में फैले केन्द्र निजी दूरसंचार-तंत्र से जुड़े हैं, जिसमें 250 अमेरिका में हैं। कारगिल बिरोजा (रेजिन) तथा बीज का उत्पादन तो करती ही है, साथ ही बौनी प्रजातियों पर अनुसंधान कर उन्नत बीज भी विकसित करती है। (डान मौर्गन, 1979)।[41]

इसके सौदों में गेहूं, मक्का, जई, ज्वार, चावल, रिजका, चीनी, सोयाबीन, शीरा, खाद्य और अखाद्य तेल, कुक्कुट-पालन के साजोसामान और पशु आहार के अलावा नमक भी है। इसका कारोबार पूरी दुनिया में फैला हुआ है। इसका सारा जोर हमेशा पूर्वानुमान और पूर्वानुकलन में ही लगा रहता है। यह कम्पनी गेहूं की कीमत में थोड़ी सी वृद्धि के लिए अपना खासा वक्त और संसाधन लगा सकती है।

ऐसे सभी निगम अपनी साधन-प्रचुरता, अपने विस्तार एवं विशेषज्ञता के बूते बाजार की हर हरकत से लाभ उठाने में सक्षम हैं। जैसे वे व्यापारिक उपग्रहों व सांख्यिकी प्रतिष्ठानों से किसी देश के कृषि-उत्पादन का पूर्वानुमान उस देश की सरकार से भी पहले लगा लेते हैं। 1975 में **'बैरन फाइनेंसियल वीकली'** जून में बता चुका था कि रूस की पैदावार इस साल उम्मीद से कम होगी। इसके लिए लिए जरूरी सूचना उसे 'ग्लोबल टेलीकम्यूनिकेशन सिस्टम' से उपलब्ध हुई। ये कम्पनियां तुरन्त ही जान लेती हैं कि कहां वर्षा हुई, या सूखा पड़ा या विश्व के किस हिस्से में टिड्डी का प्रकोप है।

इस साधन सम्पन्नता का फायदा उन्होंने 1972 में उठाया जब उन्होंने अमेरिकी किसानों से गेहूं खरीदने के बाद दाम एकदम ऊंचे कर दिये। इसे **'महा अमेरिकी अनाज डकैती'** भी कहा जाता है। ऐसा ही पिछले वर्षों हिन्दुस्तान में हुआ। ढांचागत समायोजन की मजबूरियों, निहित स्वार्थों तथा अन्तरराष्ट्रीय दबावों के तहत यहां के शासकों ने इतना गेहूं सस्ते दामों पर निर्यात कर दिया कि देश में गेहूं के दाम आसमान छूने लगे। तमाम जगहों में अनाज की दुकानों पर दंगे होने लगे और अन्तत: महंगा गेहूं आयात होने पर दाम स्थिर हुए।

खेती में पूंजी का प्रवेश उसे ''एक कुशल बाजार-केन्द्रित, लाभदायक आर्थिक गतिविधि'' मानकर ही हो सकता है। इसके साथ यह भ्रम भी बनाये रखा गया कि यह सारी कवायद भूख और गरीबी के विनाश तथा विकास और आधुनिकीकरण के पक्ष में है।

इन समस्याओं पर विकसित देशों समेत तीसरी दुनिया के परिधि के देशों के प्रभुत्वशाली वर्गों के राजनैतिक दृष्टिकोण द्वारा कृषि अनुसंधान की दिशा निर्देशित हुई। औपनिवेशिक काल में कृषि की नीति विश्व बाजार के लिए वाणिज्यिक फसल उगाने पर केन्द्रित थी। इससे कृषि के स्वरूप में आया बदलाव स्पष्ट है। औपनिवेशिक काल में कृषि उत्पादन का अनुमान इस प्रकार है :

वर्ष	औसत वार्षिक खाद्य उत्पादन (दस हजार टन)	औसत फसल उत्पादन सूचकांक			खाद्य-अखाद्य अनुपात
		खाद्य	अखाद्य	योग	
1893-94—95-96	73.9	100	100	100	1.00
1896-97—1905-06	71.5	96	105	98	0.91
1906-07—1915-16	74.0	99	126	104	0.79
1916-17—1925-26	73.3	98	142	106	0.69
1926-27—1935-36	69.6	94	171	108	0.55
1936-37—1945-46	69.3	93	185	110	0.50

स्रोत : *जार्ज ब्लिन-एफ.एफ. क्लेयरमाण्ट की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 137-138*[42]

इस प्रवृत्ति से शासकों ने अकूत कमाई की, किन्तु जनसामान्य भुखमरी की तरफ ढकेल दिये गये। **एच.एच. हिनमैन** के अनुसार 1901 से '44 के बीच कम से कम 3 करोड़ लोग अकालग्रस्त हुए और उसमें से 30 लाख से अधिक लोग भूख से मर गये। **क्लेयरमाण्ट** के अनुसार, बाद के दौर में कृषि नीति हरित क्रान्ति की चपेट में आ गई।[43] हरित क्रान्ति खाद्यान्न उत्पादन के लिए वाणिज्यिक उपादानों के प्रयोग पर आश्रित है। उस समय खेती को ज्यादा श्रमकुशल तथा लाभदायक दिखाने के वहम में यह सचाई छिप ही जाती है कि अब किसान ज्यादा से ज्यादा बाजार में खरीदी आगतों का आश्रित हो गया है। इस प्रक्रिया से वे परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं जो उजरती गुलामी या सर्वहाराकरण को जन्म देती हैं।

इसी समय किसान की नई उत्पादन क्षमता को बनाये रखकर यानी उसको केवल जीवित रखकर यह आभास कराया जाता है कि किसान अपनी जमीन का मालिक है अत: फसलों को उगाने के तौर-तरीकों, उपज को बेचने आदि से सम्बन्धित फैसले वह खुद लेता है और अपने भाग्य का खुद विधाता है। जबकि वास्तव में सारे फैसले कृषि वैज्ञानिक संस्थान, कृषि यंत्र निर्माता, बीज कम्पनियां, खाद्य प्रसंस्करण उद्योग, बैंकर आदि यानी बाजार की शक्तियां करते हैं।

अब जैव-प्रौद्योगिकी उसी प्रक्रिया को और आगे की मंजिल में ले जाने को उद्यत है।

जैव-प्रौद्योगिकी विकास और तीसरी दुनिया

जैव-प्रौद्योगिकी नई प्रक्रिया नहीं है; वरन सभ्यता के प्रारम्भ से ही जैव-प्रौद्योगिकी प्रक्रिया प्रयोग में लाई जाती रही है। शराब, पनीर, दही, पावरोटी आदि सूक्ष्म जीवों की क्रिया से बनने वाले खाद्य पदार्थ हैं जिसे आज के युग में जैव-प्रौद्योगिकी का नाम दिया गया है। (पी.एच.एबेल्सन: 'जैव-प्रौद्योगिकी: ऐन ओवरव्यू; साइन्स:वाल्युम 219, फरवरी 1983) लेकिन अब जैव-प्रौद्योगिकी को जिस नए रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है उसके पीछे लाभ की संभावना क्रियाशील है। इसने बहुराष्ट्रीय औद्योगिक पूंजी के लिए यह संभव बना दिया है कि वह अलग-अलग कृषि प्रक्रियाओं को औद्योगिक कार्यकलापों में तब्दील कर उन्हें कृषि के लिए जरूरी आगत बनाकर पूरी कृषि श्रृंखला यानी पूरे कृषि क्षेत्र पर ही नियंत्रण कर सकें।

पूंजीवादी व्यवस्था में कोई तकनीक तभी स्वीकार्य होती है जब उसके लिए पर्याप्त पूंजी उपलब्ध हो। अगर जेम्स वाट पचास साल पहले पैदा हो जाते तो वह अपने अविष्कार समेत नष्ट हो जाते। (*क्लेयरमाण्ट, पूर्वोक्त*)

जैव-प्रौद्योगिकी में निहित लाभ कमाने की संभावनाओं ने ही उसे एक नए लाभदायक विषय के रूप में प्रस्तुत किया। इसका एक उदाहरण '*अमेरिकन वेजीटेबल ग्रोवर*' में छपे एक लेख के उद्धरण से दिया जा सकता है: ''इससे जैव-प्रौद्योगिकी कृषि विकास की संभावनाएं बहुत ज्यादा हैं। जैसे ऐसी फसल प्रजातियों का विकास किया जा सकता है जिनमें कीमती फर्टिलाइजर की जरूरत ही न हो। इसी तरह बेहतर कीटरोधी तथा बीमारीरोधी प्रजातियां भी विकसित की जा सकती हैं (चार्ल्स डी.बॉयर: ''जैनेटिक इंजीनियरिंग टुमारो'', अमेरिकन वेजीटेबल ग्रोवर, 32, अप्रैल 1984:51)

इस लाभ को हथियाने के लिए ही बहुराष्ट्रीय निगम अब तक निर्जीव प्रक्रिया और उत्पाद पर लागू पेटेन्ट अधिकार को अब जीवों और पौधों पर लागू करवाने में सफल हुए। विश्वविद्यालयों तथा उद्योगों में कार्यरत शोधकर्ताओं का अपने अनुसंधान के लक्ष्यों तथा नतीजों पर नियन्त्रण घटता ही जा रहा है। उच्च शिक्षा में निरन्तर घटती जा रही सरकारी सहायता की वजह से संस्थान तथा शिक्षक शोधकर्ता भीमकाय निगमों के अनुबन्धों तथा आर्थिक सहायता पर निर्भर होते जा रहे हैं। अपनी इस परवशता के चलते शिक्षक न केवल निगमों की प्राथमिकता के अनुसार अनुसंधान करने को बाध्य हैं बल्कि निगमों की जरूरतों के हिसाब से अपनी निजी राय तक बदल देते हैं।

अब विश्वविद्यालय भी यह अहसास करने लगे हैं कि अपने अस्तित्व के लिए जरूरी है कि वे ऐसे अनुसंधानों पर जोर दें जिन पर पेटेण्ट प्राप्त किया जा सके।

एक सच्चाई यह भी है कि जैव-प्रौद्योगिकी कोई नया उत्पाद नहीं पैदा करती है, बल्कि उन्ही जिन्सों को नए ढंग से उत्पादित करती है। इसके फलस्वरूप उत्पादन की क्षमता और उसके स्वरूप के साथ ही निश्चित रूप से सामाजिक संबंधों में भी परिवर्तन होगा। इस परिवर्तन की एक खास प्रवृति रही है कि कैसे जनता की सम्पत्ति सार्वजनिक अनुसंधान परिणामों को निजी सम्पत्ति में बदला जाए? वास्तव में कल तक जो खुला और सार्वजनिक था अब एक व्यापार बन चुका है (*डिक्सन, 1984, फिट्ज़जेराल्ड, 1986*)

यह अतिलाभ की लालसा ही है जो जैव-प्रौद्योगिकी को जनविरोधी बनाता है, अन्यथा इस ढंग की परिकल्पना तो लेनिन जैसे महान क्रान्तिद्रष्टा ने भी की थी। लेनिन का स्वप्न था कि कभी खेती का उन्मूलन कर इसकी बजाय भोजन का उत्पादन फैक्ट्री की अनवरत प्रक्रिया द्वारा किया जा सकेगा (*वी.आई.लेनिन, 'थ्योरी आफ एग्रेरियन क्वेश्चन'*)[45]।

'वेंचर कैपिटल' उद्यम जो आमतौर पर शोध और विकास में अग्रणी होते हैं आर्थिक क्षमता के निम्न स्तरों पर होते हैं, अत: वे अपने द्वारा अर्द्धविकसित प्रक्रिया का लाभ नहीं ले पाते हैं। इसी कारण उनके कार्यकलाप अनुसंधान के विकास, परामर्शदाता सेवाओं आदि तक ही सीमित रहते हैं। यह बहुराष्ट्रीय निगम हैं जो अपने अनुसंधान-संसाधनों का विकास कर छोटे उद्यमों को आर्थिक सहायता देकर तथा आर्थिक रूप से विपन्न विश्वविद्यालयों में गठबंधन कर अनुसंधान की गति एवं दिशा पर नियन्त्रण रखते हैं (*बटेल व अन्य, 1984*)[46]

यह प्रवृत्ति अमेरिका, जापान और यूरोप में साफ देखी जा सकती है। कई जापानी बहुराष्ट्रीय निगम ढेरों 'वेंचर कैपिटल' उद्यमों के साथ अनुबन्ध कर चुके हैं। अगर यह जापान न होता तो ढेरों उद्यमी ऐसा न करते (सन् 1985)[47]

अभी हाल ही में एक जापानी कम्पनी *डाइ निप्पन शुगर मैनुफैक्चरिंग* कम्पनी ने मधुमेह के एक परम्परागत आदिवासी इलाज 'चक्रकोली' का पेटेण्ट अपने नाम करा लिया है (इण्डियन एक्सप्रेस, 14 अप्रैल '97) ऐसी स्थिति में अमेरिकी चिन्तित हैं, क्योंकि ये अनुबन्ध पेटेन्ट संरक्षण युक्त और दीर्घकालीन हैं। यह चिन्ता प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण के असीम मात्रा में होने से और भी बढ़ जाती है। विकसित देशों में भी मौलिक अनुसंधान एवं बाजार में जैव-प्रौद्योगिकी का वितरण समान नहीं है। जैसे जापान मौलिक अनुसंधान के फलों के दोहन के लिए अपने उद्योगों को आश्चर्यजनक ढंग से संगठित कर चुका है। जापानी बायोटेक इण्डस्ट्री शोध और विकास पर खर्च प्रत्येक डालर के बदले अमेरिकी उद्योग की तुलना में छ: गुनी दवाएं बाजार में ला पटकती है। (सम्पादकीय, 'साइंस',1985)[48]

यह प्रतियोगिता अमेरिकी जैव-प्रौद्योगिकी नीति में इस बदलाव को स्पष्ट कर देती है, जिसमें संस्तुति की गई है कि अमेरिका ''व्यापार में अनुचित आचरण को अपने वाणिज्य कानूनों तथा द्विपक्षीय बहुपक्षीय वार्ताओं में व्यापक तौर पर ऊर्जस्विता के साथ उठाता रहेगा'' ताकि इस क्षेत्र में उसकी अन्तरराष्ट्रीय स्थिति अक्षुण्ण बनी रह सके (यू.एन.जी.1983)[49]

लेकिन सभी विकसित राष्ट्र भी जैव-प्रौद्योगिकी शोध करा सकने में सक्षम नहीं हैं। यूरोपीय देश, कनाडा तथा अन्य विकसित देश भी जैव-प्रौद्योगिकी के सभी क्षेत्रों में शोध संचालित कराने में कठिनाई महसूस कर रहे हैं। अत: वे अपना प्रयास क्षेत्र विशेष में केन्द्रित कर रहे हैं। इन विकसित देशों तथा कुछ तीसरी दुनिया के देशों ने एक अन्तरराष्ट्रीय शोध केन्द्र पर यू एन डी

पी के साझा सहयोगी अनुसंधान के प्रस्ताव का समर्थन किया है। इसमें यह प्रस्तावित है कि अन्तरराष्ट्रीय आनुवांशिक अभियन्त्रण एवं जैव-प्रौद्योगिकी केन्द्र (ICGEB) दो स्थानों, इटली के त्रिएस्त तथा **नई दिल्ली** में स्थापित होंगे। लेकिन अमेरिका तथा जापान दोनों ने इसका शुरू से ही विरोध किया है। उनका तर्क है कि 'उत्कृष्टता का केन्द्र किसी विकसित राष्ट्र में ही होना चाहिए ताकि उत्कृष्ट शोधकर्ता आकृष्ट किए जा सकें। दूसरे, पश्चिमी देशों को उन्नत तकनीक उपलब्ध है और आधारभूत सुविधाएं भी उपलब्ध हैं।' ये तर्क किसी को भी स्वीकार्य नहीं हैं। वास्तव में यह उनके पश्चिमी साम्राज्यवादी श्रेष्ठता बोध को ही परिलक्षित करता है, जैसे कि केवल विकसित राष्ट्रों में ही कोई शोध हो सकता है और केवल विकसित राष्ट्रों में ही इसके निमित्त संसाधन हैं। यह विकसित देशों के वैज्ञानिकों के सांस्कृतिक और बौद्धिक श्रेष्ठता के दम्भ से उपजी जाति केन्द्रीयता को भी स्पष्ट कर देती है जिसकी वजह से वे तीसरी दुनिया के देशों में काम करना ही नहीं चाहते। दुर्भाग्य यह है कि यही वैज्ञानिक पश्चिम में अनुसंधान करने के पश्चात उसके औचित्य की तलाश में उसे तीसरी दुनिया के देशों के लिए लाभदायक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

यह बात अलग है कि इन सभी प्रक्रियाओं के लाभ हर मामले में अमेरिकी एग्री बिजनेस निगमों को हुए हैं। इस तथ्य को अन्तरराष्ट्रीय विकास अभिकरण (AID) के नाईल सी. **ब्रेडी** की यह टिप्पणी भी स्वीकार करती है:

''*पिछले दो दशकों के अनुभव दर्शाते हैं कि तीसरी दुनिया में कृषि-उत्पादकता की वृद्धि से अमेरिकी कृषि-निर्यात को लाभ ही हुआ है। ताइवान, कोरिया, ब्राजील, नाइजीरिया जैसे देश जिन्हें कभी अमेरिकी तकनीकी सहायता मिली थी, आज अमेरिकी कृषि निर्यात के बड़े खरीददार हैं। विकासशील देश ही अमेरिकी खाद्यान्न निर्यात के उभरते बाजार हैं... तीसरी दुनिया के साथ सहयोगी अनुसंधान से अमेरिकी कृषि को अत्यन्त लाभ हुआ है, जो हमारे बीजों में ऊंची उत्पादन-क्षमता के जैव द्रव्य के मिश्रण के रूप में हुआ है.. अतः विकासशील राष्ट्रों को वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग जारी रखना अत्यन्त आवश्यक है तथा लम्बे समय में इससे अमेरिकी कृषि तथा वाणिज्य को बड़े अवसर मिलेंगे'' (ब्रैडी, साइंस, 1 नवम्बर, 1985, पृ. 499)*

उपरोक्त तथ्यों के आलोक में इसका मूल्यांकन करना चाहिए कि अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्र और तीसरी दुनिया के देश क्या कर रहे हैं? क्यों बहुराष्ट्रीय निगम अपनी नीतियों में आक्रामक हैं तथा बायोटेक पर कब्जा जमाने को लेकर उनका रवैया क्यों इतना गोपनीय और संरक्षणवादी है?

दरअसल पूंजीवादी उत्पादन-तंत्र में जैव-प्रौद्योगिकी की खोज पूंजी के लिए मुनाफे की खोज से सीधे जुड़ी हुई है। वेस्ट इंडीज से लेकर हिन्दुस्तान तक की व्यापक लूट से संग्रहीत पूंजी ने ही इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति की नींव डाली। इस औद्योगिक क्रान्ति ने कम से कम हिन्दुस्तान की लूट में और भी बढ़चढ़कर भूमिका निभाई (*क्लेयरमाण्ट : -'राइज एण्ड फाल आफ इकोनॉमिक लिबरलिज़्म', पृ. 106-107)*

जेम्स वाट के भाप इंजन के आविष्कार के पीछे इसी लूट के धन का सम्बल था। भाप इंजन को औद्योगिक उपयोग के लायक बनाने के लिए लगाया गया सारा धन वेस्ट इंडीज में दास व्यापार से कमाया गया था। (*जे. लार्ड: कैपिटल एण्ड स्टीम पावर, लन्दन, 1932, पृ. 192)*

ब्रुक एडम्स अपनी किताब 'द लॉ आफ सिविलाइजेशन एण्ड डिके' में लिखते हैं : ''**भारतीय लूट की सम्पत्ति आने से पहले इतनी बड़ी आर्थिक ताकत कहीं थी ही नहीं। अगर जेम्स वाट अपने समय से 50 वर्ष पहले रहे होते तो वे अपने आविष्कार समेत नष्ट हो गये होते।** (*ब्रुक्स एडम : द लॉ आफ सिविलाइजेशन एण्ड डिके, न्यूयार्क, 1921, पृ. 317*)।

दरअसल नई प्रौद्योगिकी किसी उत्कृष्ट आविष्कारी प्रतिभा के विशिष्ट और अनायास विस्फोट का परिणाम नहीं होती है। औद्योगिक आविष्कार इस परिप्रेक्ष्य से सामाजिक उत्पाद हैं। प्रत्येक आविष्कारक अपनी सारी समस्यायें और कुछ समाधान अपने पूर्ववर्ती समाज से प्राप्त करता है।

विश्व पूंजीवाद के लिए पिछला दशक संकट का दौर रहा है। अर्थव्यवस्था के तमाम सूचकांक अर्थव्यवस्था में ठहराव दर्शा रहे हैं। विश्व अर्थव्यवस्था में महायुद्ध के बाद आया समृद्धि का उछाल अब अपने अन्तिम दौर में है। अतः विश्व अर्थव्यवस्था में ऐसे ढांचागत परिवर्तनों को क्रियान्वित किया जा रहा है जिससे विश्व पूंजीवाद को बचाया जा सके। (*फोर्बेल, 1980, बटेल, 1984*)

इन्हीं प्रयासों की कड़ी में राकफेलर फाउण्डेशन की आर्थिक सहायता से अणु जीव विज्ञान को एक प्रोत्साहन मिला। किन्तु 1970 में **कोहेन** तथा **बायर** के प्रयोगों से यह संभावना नजर आने लगी कि अब किसी कोशिका में न केवल बाहरी डी.एन.ए. का प्रवेश कराया जा सकता है बल्कि बाहरी डी.एन.ए. को उत्प्रेरित कर उसके प्रभाव की अभिव्यक्ति कराई जा सकती है या संक्षेप में अब प्रकृति को 'प्रोग्राम' कर उसे मानव अनुदेशों पर कार्य करने को बाध्य किया जा सकता है। कोहेन तथा बायर के पेटेण्ट तथा **'डायमण्ड बनाम चक्रवर्ती'** मुकदमे में अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के फैसले ने निगमों के सामने मुनाफे का नया संसार खड़ा कर दिया।

चूंकि बहुराष्ट्रीय निगमों के लाभ में सभी देशों की हिस्सेदारी बराबर नहीं है अतः जैव-प्रौद्योगिकी के सतत विकास के दौरान विकसित राष्ट्रों के बीच भी दूरियां बढ़ने लगी हैं। शोध के संसाधनों तथा शोध प्रगति के स्तरों में इन राष्ट्रों के बीच भी भारी अन्तर है। अतः अपनी क्षमता की सीमाओं का अहसास करते हुए तमाम देश अपना ध्यान शोध के कुछ क्षेत्रों में ही केन्द्रित किये हुए हैं। इस सन्दर्भ में तीसरी दुनिया के देश भी कुछ ऐसा ही कर रहे हैं। किन्तु कुछ ही देश योजना-प्रकाशन से आगे बढ़ पाये हैं। भारत, ब्राजील, क्यूबा, मैक्सिको, अर्जेण्टीना तथा कुछ अन्य देशों को अपने अनुसंधान को अपनी जरूरतों के अनुरूप मोड़ने में एक हद तक सफलता मिली है तथा वे अपने अनुसंधान को अपने समवर्गीय देशों की जरूरतों के अनुरूप ढालना चाहते हैं। जैव-प्रौद्योगिकी की खोजों और उससे उत्पन्न लाभ कमाने की क्षमता में ध्रुवीकरण समृद्ध देशों में ही नहीं वरन् तीसरी दुनिया में भी साफ दिखलाई पड़ता है। फलतः न केवल विकसित एवं विपन्न में अन्तर बढ़ता ही जा रहा है बल्कि इन दोनों समूहों के देशों के अन्दर भी एक पाटी न जा सकने वाली खाई पैदा हो रही है।

तीसरी दुनिया में भी नव औद्योगिक देशों का एक समूह उभरा है, जिन्होंने कुछ औद्योगिक प्रगति हासिल कर ली है। इन्हें जहां कहीं भी उपयुक्त परिस्थितियां मिलती हैं सीमित प्रभाव में ये साम्राज्यवादी भूमिका भी निभाते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये नव-औद्योगीकृत राष्ट्र आत्मनिर्भर हैं। ये भी किसी न किसी औद्योगीकृत राष्ट्र या राष्ट्रों पर निर्भर हैं किन्तु इनकी परनिर्भरता कुछ भिन्न प्रकार की है। ये देश बदलते हुए अन्तरराष्ट्रीय श्रम-विभाजन को परिलक्षित करते हैं।

इन नव औद्योगीकृत राष्ट्रों के बीच में एक विभाजन है। पहले वर्ग में वे देश हैं जो साम्राज्यवादी शक्तियों के सहायक की भूमिका निभा रहे हैं। दूसरे वर्ग में वे राष्ट्र हैं जो कुछ हद तक स्वायत्त हैं तथा जिनकी विदेश नीति कई बार साम्राज्यवादी हितों से टकरा जाती है जबकि अन्ततः वे भी साम्राज्यवादी देशों पर ही निर्भर हैं (*दत्ता, 1983, पृ. 12-13*)।[50]

भारत और ब्राजील इसके दो उदाहरण हो सकते हैं। दोनों ही नव औद्योगीकृत देश है। ये दोनों ही प्राक-साम्राज्यवादी शक्तियां हैं, यानी ऐसे देश जो क्रमशः साम्राज्यवादी फंदे विकसित करते जा रहे हैं किन्तु अभी उनकी प्रवृत्तियां सक्रिय स्वरूप नहीं ले पायी हैं। हम इन्हें 'दोयम दर्जे का साम्राज्यवादी' भी कह सकते हैं।

प्राक्-साम्राज्यवादी या दोयम दर्जे के साम्राज्यवादी—दोनों ही महाशक्तियों की छत्रछाया में सक्रिय हैं। किन्तु जब भी कभी महाशक्तियों में मतभेद हों तो ये इस अवसर का अपनी आकांक्षा पूरी करने के लिए भरपूर उपयोग करते हैं। लेकिन ये नव औद्योगीकृत देश भी आपसी तालमेल से नहीं चल रहे हैं बल्कि अपने स्वार्थों का ही अनुसरण कर रहे हैं।

अब तक वैज्ञानिक फंतासी कथाओं का हिस्सा रही इस परिकल्पना कि टेस्ट ट्यूब तकनीक की खेती का दोहन किया जा सकता है, की संभावना मात्र से ही खलबली-सी मच गयी है। खाद्यान्न का खेतों के बजाय फैक्ट्री में उत्पादन; खेती में उपज के पूरक के तौर पर 'प्लाण्ट सेल टिशू कल्चर' (Plant Cell Tissue Culture) के सुस्पष्ट संभावना बन जाने से मौजूदा खेती के स्वरूप में व्यापक परिवर्तन होगा। खासकर तीसरी दुनिया की खेती पर इसके नतीजे तो विध्वंसक होंगे।

आज उष्ण कटिबंधीय कृषि-उत्पादों के औद्योगिक विकल्प खोज निकाले गये हैं। चीनी के विकल्प के तौर पर मक्के के फ्रैक्टोज की उच्च मात्रा वाला सीरप प्रयुक्त होने लगा है जो चीनी से बहुत सस्ता है। इसके फलस्वरूप चीनी की मांग घट गई है। इसी वजह से त्रिनीदाद-टोबैगो, फिलीपीन्स, क्यूबा, ब्राजील, प्यूर्टोरिको, हाइती तथा वेस्टइंडीज में चीनी उद्योग तबाह हो गये जिसके फलस्वरूप भारी आर्थिक मंदी और बेरोजगारी फैल गई थी। (*क्लेयरमाण्ट व अन्य : 'डिस्ट्रक्शन आफ शुगर इण्डस्ट्री', ई. पी.डब्ल्यू., 4 जनवरी '86)*।

इसी प्रकार दुनिया का 75 प्रतिशत रबर मलेशिया और इण्डोनेशिया में उपजाया जाता है। यहां 5 लाख लोग सीधे रबर की खेती में लगे हैं जब कि 30 लाख लोग रबर की खेती से परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हैं। अगर रबर का टिशू कल्चर द्वारा उत्पादन साकार हो जाता है तो लगभग एक करोड़ साठ लाख लोग जिनके पास कोई अन्य उपयोगी हुनर नहीं है बेकार हो जायेंगे। (*एस. चामला : ''ट्रांसफर आफ रबर टेक्नोलाजी एमंग स्माल होल्डर्स इन मलयेशिया एण्ड इण्डोनेशिया—ए सोशियोलाजिकल एनालिसिस'' स्माल होल्डर रबर प्रोडक्शन एण्ड पालिसी, कैनबरा, आस्ट्रेलिया, 1985)*।

अत: स्पष्ट है कि तीसरी दुनिया के देश जिनकी अधिसंख्य आबादी कृषि पर आश्रित है तथा किसी एक फसल विशेष के निर्यात पर निर्भर है वे जैव-प्रौद्योगिकी से सबसे बुरी तरह प्रभावित होंगे। ऐसे किसी देश का मुख्य उत्पाद अगर जैव-प्रौद्योगिकी द्वारा प्रतिस्थापित होता है तो उस देश में आर्थिक रूप से महामारी, किसानों का गांवों से उजड़ कर शहरों की तरफ पलायन आदि होता है। इस प्रकार किसानों का सर्वहाराकरण हो जाता है तथा शहर झोपड़पट्टियों से भर जाते हैं। जीवन की मूलभूत और नैसर्गिक आवश्यकताओं से वंचित ये विस्थापित किसान अपने परम्परागत श्रेष्ठ मूल्यों से भी गिरकर हर ढंग से पतन का शिकार बनते हैं।

जैव-प्रौद्योगिकी अनुसंधानकर्ता इस समय काफी, चाय, कोको, रबर, कपास, तेल यहां तक कि मसाले तथा अन्य सुगन्ध-औषधियों के विकल्प खोजने में लगे हुए हैं।

इससे पता लगता है कि जैव-प्रौद्योगिकी विकल्पों के उपलब्ध होने मात्र से तीसरी दुनिया का आर्थिक आधार कितना ध्वस्त हो जायेगा। जैव-प्रौद्योगिकी अनुसंधान की प्रक्रिया इतनी खर्चीली और जटिल है कि विश्व के अधिकांश कृषि प्रधान देशों में बीजों की विशिष्ट रूप से विकसित उन्नत प्रजातियां बहुराष्ट्रीय निगम ही उपलब्ध करायेंगे। महत्वपूर्ण यह है कि कितनी शीघ्रतापूर्वक बहुराष्ट्रीय निगम बीजों के विश्व बाजार पर कब्जा करते हैं। इससे तमाम गरीब देश उनपर और भी निर्भर हो जायेंगे। जैव-प्रौद्योगिकी के पक्षधर यह तर्क देते हैं कि इनसे ऐसी फसलों का उद्भव होगा जो बहुत सारे खरपतवार नाशियों की प्रतिरोधी होंगी। इससे न केवल लागत कम होगी बल्कि जुताई तथा भू-परिष्करण की जरूरत भी कम होगी। वर्ष 1984 में खरपतवार-नाशकों का विश्व बाजार 4 अरब डालर का था। अत: समझदारी इसमें नहीं है कि खरपतवार-रोधी किस्में विकसित की जाये अन्यथा 4 अरब डालर का व्यापार छिन सकता है। नतीजतन बहुराष्ट्रीय निगम ऐसी ही फसलें विकसित कर रहे हैं जो रसायनों की भारी खुराक हजम कर कृषि रसायनों के बाजार को मजबूती प्रदान करें। अमीर किसान जो इस लागत को सहन कर सकते हैं, अपने खेतों को कीटनाशकों में डुबो कर पर्यावरण-प्रदूषण को नई ऊंचाई प्रदान करेंगे।

चुनिन्दा पौध-उत्पादों के बाजार [51]

पदार्थ	इस्तेमाल	थोक मूल्य (यू.एस. डालर प्रति कि.ग्रा.)	अनुमानित विश्व मांग (मिलियन डालर)
विनब्लेस्टाइन	रक्त कैंसर	5000	18-20*
जुही	सुगन्ध	5000	0.5*
चीकू कैरेन्थस	च्यूंगम	--	18-20*
लिथोस्पेमम	शिकोनिन	4500	--
डिजिटैलिस	हृदयरोग	3000	20-55*
गुलाब	गुलाब का तेल	2800	12
ऐज्मालिसिन	रक्तसंचार संबंधी रोग	1500	5.25
कोडीन	उपशामक	650	50*
पैपेवर(पोस्तवंश)	कोडीन आदि	650	50*
पाइरेथ्रिन्स	कीटनाशी	300	20*
बुचु	बुचु तेल	220	153
दालचीनी	गंध	195	3.2
कुनैन	मलेरिया, गंध	100	5-10*
अदरक	गंध	100	33
पुदीना	सुगंध	30	89-90
सिनकोना	कुनैन	--	20-55*
काफी	पेय	12	2210
कोकोआ	पेय, गंध	4	891
चाय	पेय	2	2917
रबर	टायर आदि	1	3565

(स्रोत : बुश और लेसी, 1989) [* केवल अमेरिकी बाजार में]

जिन बहुराष्ट्रीय निगमों के पेटेण्ट निकट भविष्य में समाप्त होने वाले हैं; वे पौधों की ऐसी किस्में विकसित करने में लगे हैं जो उनके बाजार को आरक्षित कर सकें। कृषि रासायनिक बहुराष्ट्रीय निगम **'मोनसैण्टो'** जो जैव-प्रौद्योगिकी क्षेत्र में सक्रिय है, दावा करती है कि **''आनुवांशिकी अभियांत्रिकी ने यह सम्भव बनाया है कि हम जननी प्रकृति के साथ साझेदारी कर सकें यानी मिलजुल कर रह सकें; हमें फसलों के उपयुक्त नये खरपतवारनाशक रसायनों की खोज की जरूरत नहीं है बल्कि उपलब्ध रसायनों के लिए उपयुक्त फसल विकसित करना कम खर्चीला है।''** (*सन, 1986, पृ. 1360*)[52]

लोकलुभावन रूप में यह शब्दों का जाल है। मोनसैण्टो को जननी प्रकृति से कुछ लेना-देना नहीं है। उसका मकसद मुनाफा बटोरना है जो उपलब्ध रसायन के उपयुक्त फसलें विकसित करने में अधिक है। नये रसायन विकसित करना अत्यधिक मंहगा है। फसलों की नई किस्म विकसित करने में मुश्किल से 2 मिलियन डालर खर्च आता है जबकि नये रसायन को उत्पन्न करने में 40 मिलियन डालर से अधिक खर्च आता है (*वन्दना शिवा, 1991)*। अत: वह सोयाबीन की ऐसी किस्में विकसित करने में

संलग्न है जो 'राउण्डअप' खरपतवारनाशी रसायन की भारी खुराक हजम कर सके। इस रसायन के भारी मात्रा में डालने से खरपतवारों पर नियंत्रण तो सम्भव होगा पर पर्यावरण-पारिस्थितिकीय सन्तुलन नष्ट हो जायेगा।

जैव-प्रौद्योगिकी का हस्तान्तरण तीसरी दुनिया के देशों को बहुराष्ट्रीय निगमों के चंगुल में जकड़ देगा। इसके दारुण प्रभाव आत्मनिर्भर खेती की तबाही, बेरोजगारी, सर्वहाराकरण तथा सामाजिक विघटन के रूप में सामने आयेंगे। जैव-प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण के प्रयास शुरू करने से पहले हमें इन प्रश्नों का समाधान ढूंढना चाहिए :

1. सामाजिक-आर्थिक विकास के परिप्रेक्ष्य में तीसरी दुनिया के देश किस स्तर पर खड़े हैं?

2. क्या आधुनिक विज्ञान का उद्देश्य गरीबी, भुखमरी, कुपोषण, आय-विषमता मिटाने के लिए प्रकृति को अनुदेश देना है?

3. यदि हां तो क्या यही एकमेव समाधान है? दूसरे शब्दों में क्या जैव-प्रौद्योगिकी या कोई तकनीक सामाजिक बुराइयों का समाधान है?

अलबर्ट आईंस्टीन ने कहा था ''*विज्ञान सामाजिक लक्ष्यों को अर्जित करने का साधन तो बन सकता है किन्तु इन लक्ष्यों का निर्धारण नहीं कर सकता है*'' अतः प्रौद्योगिकी को किसी अवांछित सामाजिक प्रक्रिया का कारक नहीं माना जा सकता। जैसे कृषि के मशीनीकरण से उजरती गुलामी की शुरुआत नहीं होती, बल्कि यह समाज की संरचना पर निर्भर करता है जिसमें इसका विकास या प्रयोग होता है, क्योंकि प्रौद्योगिकी हर हाल में एक सामाजिक उत्पाद है।

प्रौद्योगिकी स्थानान्तरण हेतु संस्थान संरचना का हस्तान्तरण

1960-70 के दशकों के दौरान तीसरी दुनिया का नवोदित कृषि अनुसंधान तंत्र पूरी तरह बाह्य आर्थिक संसाधनों पर निर्भर था। इसके स्रोतों में समृद्ध देशों की सरकारें, अन्तरराष्ट्रीय एजेन्सियां, दानी फाउण्डेशन—सभी शामिल थे। इन नवोदित संस्थानों ने हरित क्रान्ति के विकल्पों—जैसे श्रम सघन असिंचित खेती के परम्परागत तौर-तरीकों, बीमारियों की रोकथाम के लिए जैविक नियंत्रण आदि के समूचे तंत्र को तहस-नहस कर दिया। (*अबरोल 1983*)[53]

इन संस्थानों ने उन्हीं शोध क्रियाकलापों की नकल की जो आयातित प्रौद्योगिकी का प्रसार करते थे।

विश्वविद्यालयों के लैण्ड ग्राण्ट माडल की वजह से अमेरिका में कृषि भूमि का भारी केन्द्रीकरण हुआ। विकासशील देश भी सरकारी एवं राजनैतिक व्यूह रचना द्वारा भूमि के केन्द्रीकरण में सफल रहे हैं। **ऐसा नहीं है कि सारे अनुसंधानकर्ता एक-सा ही सोचते हैं; किन्तु आयातित प्रौद्योगिकी के खतरनाक पहलुओं का आभास पाकर उसे इंगित करने वालों को रहस्यमय ढंग से किनारे कर दिया जाता है।** इन देशों में कृषि की निम्न स्तरीय प्राथमिकता की वजह से उपलब्ध संसाधनों का एक छोटा सा हिस्सा ही कृषि अनुसंधान में प्रयुक्त होता है। कृषि वैज्ञानिकों का मनोबल भी गिरा रहता है। अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि तीसरी दुनिया में वही कृषि वैज्ञानिक सफल माने जाते हैं जिनके समृद्ध देशों में सम्पर्क होते हैं या जो जल्दी-जल्दी विदेशों के दौरे लगाते हैं। इन देशों में विकसित विश्व के मुकाबले कृषि अनुसंधानकर्ता कम वेतन पाते हैं तथा समाज में उनकी प्रतिष्ठा भी निम्न स्तरीय होती है (*शिवा और वंद्योपाध्याय, 1980*)[54]

यह मानना भी गलत है कि कृषि शोधकर्ता सदैव पश्चिम की नकल करते हैं, तथा स्थानीय शोध-सम्भावनाओं की उपेक्षा करते हैं। उदाहरण के लिये, 1985 में ब्राजील कृषि रसायन उपयोग करने वाला चौथा बड़ा देश था। इस वर्ष उसने 800 मिलियन डालर के केवल कीटनाशक खरीदे। इन पर ब्राजील सरकार उत्पादकों और किसानों को अनुदान भी देती थी और इनमें से ज्यादातर बहुराष्ट्रीय निगमों यथा—*बायर, सीबा गाईगी, ड्यूपों* या *मोनसेण्टो* द्वारा उत्पादित थे। रसायन उद्योगों की चक्की में पिस रही खेती के खतरों के सुस्पष्ट एवं सुसंगत प्रमाण होने के कारण कुछ ब्राजीलियन वैज्ञानिक इन रसायनों के विकल्प की तलाश में लगे। उन्होंने एक ऐसे विषाणु (वायरस) को खोज निकाला जो सोयाबीन पर पल कर पत्तियां चाट जाने वाले कीड़े 'हेयरी कैटरपिलर' को मार डालता था। 1980 में उन्होंने इसमें से अत्यन्त सांघातिक प्रभाव वाले विषाणु कुल (Virus Strain) अलग कर इससे हेयरी कैटरपिलर के एक समूह को संक्रमित किया जिसे बाद में पानी में घोलकर स्वस्थ कीड़ों से प्रभावित खेतों में छिड़का। तीन दिन बाद देखा गया कि पूरा खेत मरे हुए कीड़ों से पटा पड़ा था। इन्हें इकट्ठा कर अगले चक्र में इस्तेमाल हेतु शीतगृह में रख दिया गया। ''एक जार भर इन मरे हुए कैटरपिलर कीड़ों के शरीर से इतना रस देह-द्रव्य निकलता जो कि 100 हेक्टेअर क्षेत्र की फसल पर छिड़काव के लिए पर्याप्त होता। (*जायस, 1985*)[55] यह ब्राजील में सोयाबीन पर प्रयुक्त कीटनाशक पिरीथ्रीन (Pyrethrin) का सस्ता विकल्प हो सकता था। इसी प्रकार का एक समाधान गन्ने के तनावेधक कीट के लिए भी पाया गया है। लेकिन ऐसे यदा-कदा उदाहरण तीसरी दुनिया की पश्चिमी देशों और बहुराष्ट्रीय निगमों पर निर्भरता को समाप्त करने के प्रभावशाली प्रयास नहीं माने जा सकते।

तीसरी दुनिया की समस्याएं कृषि-शोध तक ही सीमित नहीं हैं। दरअसल ये बुनियादी तौर पर व्याप्त राजनीतिक-आर्थिक विसंगतियों से जुड़ी हुई हैं। यहां के ज्यादातर देश भारी अन्तरराष्ट्रीय कर्जों में डूबे हुए हैं। इस कर्ज का बड़ा हिस्सा इन देशों द्वारा अमेरिकन कृषि उत्पादों की खरीदारी से पैदा होता है। 1970 से '84 के बीच विकासशील देशों द्वारा अमेरिका से की गई कृषि-सम्बन्धी खरीदारी 2.2 बिलियन डालर प्रति वर्ष से बढ़कर 15.5 बिलियन डालर प्रतिवर्ष हो गई। सन् '84 में मैक्सिको ने अमेरिका से 1967 मिलियन डालर के कृषि-उत्पाद खरीदे। कृषि उत्पादों की यही खरीदारी, दक्षिण कोरिया, (1816 मिलियन डालर) मिस्र (845 मिलियन डालर), वेनेजुएला (776 मिलियन डालर)निर्यात ब्राजील, (437 मिलियन डालर तथा इंडोनेशिया (435 मिलियन डालर) के संदर्भ में भी यही इंगित करती है कि अमेरिकी कृषि इस आयात पर कितना निर्भर है। एक अनुमान के अनुसार अमेरिका अपने यहां 20 प्रतिशत फसलों की खेती निर्यात के लिए करता है।

जैसे-जैसे तीसरी दुनिया के देशों की ऋणग्रस्तता बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे उनकी समृद्ध राष्ट्रों के सामने झुकने-गिड़गिड़ाने की प्रवृत्ति भी बढ़ती जा रही है। अतः वे अपने वैज्ञानिकों के जड़-जमीन से जुड़े अनुसंधानों की बलि चढ़ाने को मजबूर हो जाते हैं। उधर समृद्ध देशों में बढ़ती जागरूकता और पर्यावरण-संरक्षण आन्दोलनों द्वारा जोरदार विरोध की वजह से नई प्रौद्योगिकी के परीक्षण के अवसर घटते ही जा रहे हैं पर विकासशील देश अपनी धरती को बहुराष्ट्रीय निगमों की प्रयोगशाला बनाने में गौरव महसूस करते हैं। अर्जेन्टीना में एक आनुवांशिक रूप से परिवर्तित रेबीज (Genetically altered rabies) के टीके का 20 गायों पर परीक्षण किया गया पर इस सम्बन्ध में न तो अमेरिकी सरकार और न ही अर्जेन्टीना की सरकार को सूचित किया गया। फिलाडेल्फिया की संस्था विस्टार इंस्टीट्यूट जिसने **अखिल अमेरिकी स्वास्थ्य संगठन** के साथ मिलकर यह प्रयोग किया था, ने स्वीकार किया कि अर्जेन्टाइना का चयन इसलिए किया गया क्योंकि वहां इसके खिलाफ कोई कानून नहीं था (आसिनोफ, 1986 पृ. 6.)[56]। वनस्पति आनुवंशिक संसाधनों के नियंत्रण और प्रयोग का मुद्दा भी तीसरी दुनिया की कृषि अनुसंधान समस्याओं में छाया हुआ है और बौद्धिक जगत का ध्यान खींच रहा है। अन्तरराष्ट्रीय कृषि सलाहकार समूह (CGIAR) साफ तौर पर समृद्ध राष्ट्रों के साथ खड़ा है, यह हाल में छपी बहस **'डेवलपमेण्ट**

डायलाग' से भी जाहिर है (*डोनाल्ड प्लकनेट्स का मूनी को उत्तर (1985), यह भी देखें, 1983 के बाद के विकास का मूनी द्वारा समीक्षा व प्रत्याख्यान*)।

हरित क्रान्ति के प्रसार में अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्रों की नेतृत्वकारी भूमिका जग जाहिर है। अत: इसके नकारात्मक नतीजों— अमीर-गरीब के बीच बढ़ती खाई, अपनी जड़-जमीन से उजड़ती ग्रामीण आबादी, पर्यावरण का विनाश आदि की जिम्मेदारी भी उन्हीं पर आती है। इस भूमिका को देखते हुए उनके कृषि-अनुसंधान की दिशा में किसी बुनियादी बदलाव की उम्मीद नहीं है।

किन्तु बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा शोध के निजीकरण तथा उनके द्वारा बीज कम्पनियों के खरीदे जाने की वजह से अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्रों के सामने दूसरी समस्या आ रही है। जैव-प्रौद्योगिकी पर कब्जे की होड़ तथा बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा खर्च किये जा रहे प्रचुर धन के सामने आई.ए.आर.सी. की संसाधनहीनता एवं कर्मचारियों की कमी को देखते हुए लगता है कि अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्र '*तकनीक के जन्मदाता*' से नीचे खिसक कर प्रयोगकर्ता मात्र रह जायेंगे। (*Biotechnology at CGIAR, 1985*)[57] सी.जी.आई.ए.आर. के वरिष्ठ वैज्ञानिक सलाहकार **डोनाल्ड प्लकनेट्स** के अनुसार अन्तरराष्ट्रीय कृषि केन्द्र जैव-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र-विशेष में विशेषज्ञता हासिल कर लेने वाले संगठनों के साथ शोध-सहयोग के अनुबन्ध करेंगे ताकि वे नई प्रौद्योगिकी के प्रयोग में समर्थ हो सकें। अत: अब वे अपने संसाधन मौलिक और विशिष्ट अनुसंधान में नहीं लगायेंगे। गौर करने की दिलचस्प बात है कि जब भारत में कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना हो रही थी तब कहा गया था कि जोर तीन प्रकार के अनुसंधान पर होगा—एक प्रौद्योगिकी का आयात कर उसे स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल बनाने हेतु अनुसंधान (Adoptive research) दूसरा, बीमारी, कीड़ों तथा प्राकृतिक आपदा से फसल के बचाव हेतु अनुसंधान (Protective research) तथा अनुप्रयुक्त अनुसंधान (Applied research)। मौलिक अनुसंधान को भविष्य के लिए स्थगित रखा गया (*मोजमैन 1970, पृ. 101*)।[58] आज अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्र भी अपने को उसी दशा में पा रहे हैं। ये केन्द्र अब तीसरी दुनिया के कृषि विश्वविद्यालयों की भूमिका निभाने को बाध्य हैं। वे आज बहुराष्ट्रीय निगमों पर आश्रित हैं। इस सन्दर्भ में यह निष्कर्ष कि अनुप्रयुक्त कृषि जैव-प्रौद्योगिकी के निजी स्वामित्व के चलते प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण की रफ्तार तेज होगी जिससे अन्तरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्र अप्रत्यक्ष रूप से लाभान्वित होंगे, संदिग्ध लगता है (*बटेल व अन्य; पूर्वोक्त, पृ. 383*)।

निष्कर्ष :

पश्चिमी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने वैज्ञानिकों और तकनीकी नौकरशाहों के हाथों में एक ऐसा ब्रह्मास्त्र प्रदान कर दिया जिसकी बदौलत वे एक नये किस्म के धर्मोपदेशक की भूमिका निभाने लग गये। उन्होंने विज्ञान का तीसरी दुनिया में प्रयोग औपनिवेशिक प्रभुत्व को सही ठहराने हेतु किया। इस प्रभुत्व को प्रगति के सिद्धान्त, नस्ली श्रेष्ठता, (जो बौद्धिक श्रेष्ठता में प्रच्छन्न थी) और ''विषमता प्रकृति प्रदत्त'' है—जैसे तर्कों से पाला-पोसा गया। विज्ञान जो शुरुआत में तथ्यों को परखने की पद्धति थी, उसे बाद में एक उत्पाद बना दिया गया। इस तथ्य की भी उपेक्षा की गयी कि समस्त ज्ञान मनुष्यों के क्रियाकलापों के दौरान विकसित (उत्पादन) सम्बन्धों की उपज है। ज्ञान की सतत् जिज्ञासा को संकीर्णतापूर्वक वैज्ञानिक पद्धति में बदल दिया गया। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के *गतिशील युगल का दूसरा युग्म*—अपनी परिभाषा के अनुसार ही सामाजिक संगठन से उपजता है लेकिन इसके लिए विज्ञान का उत्पाद होना कतई जरूरी नहीं है। यहां तक कि काफी हद तक प्रौद्योगिकी ने विज्ञान को किनारे कर दिया है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रभाव सामाजिक सन्दर्भों में तटस्थ नहीं होते। विज्ञान और प्रौद्योगिकी अपने जन्मदाता तथा प्रयोगकर्ता समाजों में प्रभुत्वशाली वर्गों के पोषक होते हैं। अत: वे एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर नियन्त्रण में सहायता प्रदान करते हैं। सच्चाई यह है कि विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की निष्पक्षता का प्रचार, इसको राजनैतिक बहस से बचाता है तथा यथास्थिति को बनाये रखता है।

पश्चिम में विज्ञान प्रभुत्व-विरोधी मुक्तिदायिनी शक्ति के रूप उभरा, किन्तु वह अपनी विकास-यात्रा के दौरान अपनी **मुक्तिकारी** क्षमता खो बैठा। यह ऐसा इतिहास है जिसमें गरीबी और भूख का नाश नहीं हुआ बल्कि विज्ञान *यथास्थितिवाद* को बनाये रखने में सहायक सिद्ध हुआ। इस तरह **सामाजिक सम्पत्ति-ज्ञान** को **निजी सम्पत्ति** बना दिया गया। वैज्ञानिक दृष्टि के इस प्रकार पूंजी के प्रसार में सहायक की भूमिका निभाने से बुर्जुआ विश्व की प्रसारवादी जरूरतों—जैसे नये उत्पादों का विकास, मुनाफे के लिये उत्पादों का रूपान्तरण, प्रतियोगिता मात्र के लिए तकनीकी अनुसंधान आदि के औचित्य के लिए एक वैचारिक आधार मिलता है। संक्षेप में उक्त समस्त गतिविधियों का उद्देश्य यही है कि कैसे पूंजीनिवेश की पहल हथियाकर श्रम द्वारा उत्पादित अतिरिक्त अधिशेष (मूल्य) हड़प लिया जाये। अत: तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का विश्लेषण हम उन देशों के औपनिवेशिक अतीत, पराश्रित विकास और तकनीक-हस्तान्तरण (उचित/अनुचित) द्वारा संस्कृति व संरचना के क्षेत्र में घुसपैठ का ख्याल किये बिना नहीं कर सकते।

व्यवस्थित (संस्थागत) ढंग से कृषि अनुसंधान की शुरुआत दुनिया में वानस्पतिक उद्यानों के उदय और उनके विस्तार से हुई और कृषि प्रयोग केन्द्रों द्वारा विकसित हुई। इन कृषि प्रयोग केन्द्रों ने विज्ञान, वाणिज्य एवं उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया। बाद में हरित क्रान्ति प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण के माध्यम से कृषि के उत्तरवर्ती इतिहास में भी इसका चरित्र दुराग्रही तथा औपनिवेशिक प्रभुत्व का रहा है। तीसरी दुनिया में इसका प्रयत्न, किसानों की पीढ़ियों द्वारा सदियों के अनुभवों से सिंचित परम्परागत कृषि के ज्ञान तथा तौर तरीकों को तोड़ने-मरोड़ने का ही रहा। पूरी दुनिया पर प्रभुत्व जमाने के पीछे यही तर्क रहा है कि पश्चिमी तर्क-बुद्धि या पश्चिमी विवेक सार्वभौम है तथा यह अपरिहार्य है। इसका मतलब यह एकदम नहीं है कि हम पुराने प्रमाद भरे दिनों का महिमामंडन कर रहे हैं। न ही पूर्व-पूंजीवादी समाज में व्याप्त उत्पीड़न तथा शोषण को कम कर बता रहे हैं। हम यह कहना चाहते हैं कि पूर्व पूंजीवादी समाज में कृषि केवल पैसे के लिए पैसा बनाने का औजार या मशीन नहीं थी बल्कि समाज की जरूरतों को भी ध्यान में रखती थी।

कृषि तथा कृषि अनुसंधान की संरचना तथा संगठन की हमारी बहस से यह स्पष्ट है कि विज्ञान और इसके उद्देश्यों को तटस्थ तथा प्रगतिशील मानने वाले, तीसरी दुनिया की आर्थिक तथा बौद्धिक पराश्रयता को ही बढ़ाते हैं। ''विकासवादी'' दृष्टिकोण यह मानता है कि दुनिया के सभी देश अल्पता से प्रचुरता की ओर एक सीधे-साधे मार्ग से ही प्रगति कर सकते हैं। उनका यह भी मानना है कि तीसरी दुनिया के देश तभी सम्पन्न देशों की बराबरी कर सकते हैं जबकि वे पूंजीवाद का अपने यहां उन्मुक्त एवं पूर्ण प्रसार करें। ''विकासवादियों'' को यह विचारने की जरूरत नहीं है कि पूंजीवादी विकास के मार्ग पर अग्रसर होने में सम्पन्न राष्ट्रों से होड़ में पिछड़े देश और भी पीछे छूट जाते हैं। उनके अनुसार इन देशों को (पिछड़े देशों को) पूंजीवाद अपनाते वक्त अन्तरराष्ट्रीय श्रम-विभाजन; उत्पादन-सम्बन्धों और विकसित व विकासशील देशों में पूंजी-संचय की प्रक्रिया पर गौर करने की जरूरत नहीं है।

तीसरी दुनिया पर थोपा गया कृषि अनुसंधान का मॉडल पर्यावरण की दृष्टि से न केवल इन देशों में बल्कि विकसित देशों में भी वांछनीय सिद्ध नहीं हुआ है। इनके दुष्प्रभाव—भूमि अपरदन, भूमिगत जलस्तर में कमी, भूमि के ऊसरपने में वृद्धि, भारी यंत्रों के प्रयोग से जमीन का ठस होना,

जमीन में पोषक तत्वों की कमी, जैव विविधता में ह्रास तथा मिट्टी की संरचना का विनाश तीसरी दुनिया में बहुत बढ़ गये हैं।

तीसरी दुनिया के कृषि वैज्ञानिक पश्चिमी कारपोरेट नियन्त्रित विश्वविद्यालयों द्वारा दिये गये संकेतों पर कार्य करते हुए उन्हें अपनी स्थानीय जरूरतों के अनुरूप स्वीकार्य बनाने या सुधारने का काम करते रहते हैं। दरअसल उनकी धारणा उनकी वर्गीय स्थिति द्वारा नियन्त्रित होती है। तीसरी दुनिया में शिक्षा समाज के प्रभुत्वशाली वर्गों तक ही सीमित है। अत: उनकी सोच समाज के प्रभुत्वशाली वर्गों का हित-चिन्तन ही करती है। इसी के परिणामस्वरूप उनके अनुसंधान ने जो दिशा पकड़ी उसने आत्मनिर्भरतापरक और पारिस्थितिकी सम्मत दृष्टि से वहनीय शोध के अन्य विकल्पों का निषेध कर दिया।

शोध के लिए दुर्लभ पूंजी के आवंटन से संचालित शोध-प्रयास प्राय: समाज की राजनैतिक संरचना से प्रभावित हैं, यानी प्रभुत्वशाली वर्गों (मुख्यत: पूंजीपति वर्ग) के अनुकूल होते हैं। यानी यह संरचना पूंजीपतियों के हितों से संचालित होती है। जबतक सामाजिक वर्गों के हितों में तालमेल नहीं होगा—जो प्राय: नहीं होता—तब तक विज्ञान-प्रौद्योगिकी अथवा विकास का कोई माडल समष्टिगत रूप से सामाजिक हितों के प्रति प्रतिबद्ध नहीं होगा।

जैव-प्रौद्योगिकी तथा आनुवांशिक अभियंत्रण के विकास ने तीसरी दुनिया के कृषि-अनुसंधान की एक नई दुर्बलता को उजागर कर दिया है। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद से ही साम्राज्यवादी शोषण का शिकार रहे देशों के बेमेल समूह को तीसरी दुनिया के तौर पर पहचाना गया। ये सदैव ही अनुसंधान पर व्यापारिक-नियंत्रण, पेटेण्ट कानूनों द्वारा अनुसंधान के निजीकरण, समृद्ध राष्ट्रों द्वारा व्यापार कानूनों के जरिये इन्हें बहुराष्ट्रीय निगमों के सामने समर्पण कराने के प्रयासों आदि के शिकार रहे हैं। अनुचित व्यापार तरीकों तथा द्विपक्षीय-बहुपक्षीय व्यापार वार्ताओं में समृद्ध राष्ट्र और उनके बहुराष्ट्रीय निगम 'राष्ट्रीय हित' में न केवल तकनीकी तथ्य छिपा लेते हैं बल्कि इनके माध्यम से एक नये अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाजन को जन्म देते हैं। इसी षड्यंत्र के तहत प्रौद्योगिकी के खतरनाक प्रयोग तीसरी दुनिया में किये जाते हैं तथा उनके सस्ते श्रम तथा संसाधनों का जम कर शोषण किया जाता है। इसी क्रम में अन्तरराष्ट्रीय संस्थानों द्वारा उनके वैज्ञानिक और तकनीकी कार्यक्रमों को दिग्भ्रमित भी किया जाता है। जो देश तकनीक और विकास की इस दौड़ में शामिल नहीं होते, वे समृद्ध राष्ट्रों के विकास तथा उनके व्यापारिक प्रभावों द्वारा हाशिये पर ठेल दिये जाते हैं।

आर्थिक मंदी की त्रासदी झेलते विश्व में तीसरी दुनिया के देशों में अमीर-गरीब के बीच की खाई बढ़ती ही जा रही है। एक ओर सम्पत्ति का केन्द्रीकरण तथा दूसरी तरफ गरीबों की बढ़ती भीड़ भविष्य का आभास देती है। इस सिकुड़ती अर्थव्यवस्था वाली विश्व व्यवस्था में जब समृद्ध देश केवल अपना लाभ बढ़ाने व बनाये रखने के लिए नई प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नित नये प्रयास जारी रखे हैं तो स्पष्ट है कि विकास की इस घुड़दौड़ में तीसरी दुनिया के देश विपन्न और फटेहाल ही छूट जायेंगे।

इस पूरी प्रक्रिया में सबसे विडम्बनापूर्ण स्थिति उन शोधकर्ताओं और कृषिशास्त्रियों की है जो इसे अच्छी तरह समझते हैं। इस सच्चाई की भयावहता को जानने के बाद वे मौन नहीं रह पाते हैं। उनके सच की तल्खी प्रतिष्ठान को खल जाती है। अत: इन्हें चुपचाप किनारे कर महत्वहीन कुर्सियों पर दफनाने का प्रयास किया जाता है।

दूसरे, यह जानने के बावजूद, कि खोट व्यवस्था में है और व्यवस्था परिवर्तन के बिना कोई भी तकनीक अपना लें, सामाजिक समस्याएं हल नहीं होंगी, वे क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए जन-सामान्य का आह्वान नहीं कर सकते। दरअसल उनकी चेतना उन्हें अपने स्वाभाविक मित्रों—प्रतिष्ठान के चाकरों से विलगा देती है, लेकिन उनकी मध्यवर्गीय स्थिति और जरूरतें उन्हें सर्वहारा वर्ग के साथ खड़े होने में अड़चन डालती हैं। इसका नतीजा होता है कि तल्ख से तल्ख सच्चाई से भरी हुई उनकी रचनाएं अन्त में पूरी नहीं होतीं, या फिर प्रतिष्ठान द्वारा अनुमोदित सीमा में बंधकर वर्तमान व्यवस्था की निन्दा कर एक प्रसाधनिक सामाजिक परिवर्तन का सुझाव देते-देते दम तोड़ देती हैं।

सन्दर्भ सूची

1. Agroecology (ed.), McGraw Hill Pub Co. N.Y. 1990.
2. Arnon 1968 "Organization and Administration of Agricultural Research", Elsevier, Amsterdam.
3. C.Moraze. 1979 : Science and the Factors of inequality : Lessons of the past and hopes for the future, UNESCO, Paris.
4. R. Levins and R. Lewontin, 1985 : The Dialectical Biologist, Harvard University press, Cambridge, M. A.
5. Henry Hobhouse : Seeds of Change, Harper & Row, N.Y. 1987
6. Susan George : How the Other Half Dies, Pelican book 1986.
7. J. A. Voelker : Report on the Improvement of Indian Agriculture, Royal Agriculture Society, London, 1891, quoted in F.F. Clairmonte
8. B. Bhaneja : Parliamentary Influence on Science Policy in India, Minerva Spring, 1979, pp 70-97.
9. K. Anthony. et al, 1979: Agricultural change in Tropical Africa. Cornell University Press, NY.
10. D. Banerjee : Economic & Political Weekly 30 Nov. 1974.
11. 'नील दर्पण'
12. E. Oasa and B. H. Jennings : "Science and Authority in Agricultural Research", Bulletin of Concerned Asian Scholars, 14: 30-44.
13. H.M. Cleaver Jr., 1972 : "The Contradictions of the Green Revolution", Monthly Review, 24:80-111.
14. D. Fitzgerald, 1986: "Exporting American Agriculture : The Rockefeller Foundation in Mexico, 1943-53", Social Studies of Science, 16: 457-483.
15. B.H. Jennings, 1988 : Foundation of International Agricultural Research : Science and Politics in Mexican Agriculture, West View Press, Boulder, CO.
16. N. Borlaug and O. H. Aresvik, 1973 :, the Green Revolution - an Approach to Agricultural Development..." International Journal of Agricultural Affairs, 5 {6} : 385-403.
17. "US Shapes Fight on World Hunger", 1965, Business Week, Dec.18, pp. 35-36.
18. J. Doyle, 1985 : "Altered Harvest : Agriculture, Genetics and the Fate of the Worlds " , Viking Penguin, New York.
19. M.R. Bhagwan, et al. 1973 :" Death of Green Revolution", Haslmere Declaration Group, London.
20. U.S. House of Representatives, 1970 "The Green Revolution", Proceedings before the Sub Committee on Foreign Affairs, Ninety First Congress, U.S. Govt. Printing Office, Washington DC.
21. Charan Singh : "Why are We Poor", Sunday 5-11Sep. 1982.
22. W.H. Friedland, A.E. Barton and R.J. Thomas. 1981: Manufacturing Green Gold, Cambridge University Press, Cambridge.
23. J. Vandermeer, 1982 : "Science and class-Conflict: The Role of Agricultural Research in the Midwestern Tomato Industry" in W.L. Rose (ed.) Studies in Labour Theories and Practice Marxist Educational Press, Minneapolis.
24. B. Patankar and G. Omvedt : " The Bourgeois State in Past Colonial Social Formations", EPW, Dec. 31, 1977, pp. 2165-2177
25. A. Mitra, 1977 : Terms of Trade and Class-Relations, Frank Class, London, 1977.

26. G. Omvedt, 1983 : "Capitalist Agriculture and Rural Classes in India", Bulletin of Concerned Asian Scholars, 15 (3) : 30-54.
27. S. Naqvi : 1973 : "Class-Character of State-Power in India", Social Scientist, April June, pp. 83-90.
28. D. Selbourne, 1982: Through The Indian Looking Glass, Zed Press, London.
29. B. Schaffer and H.Wen-hsein, 1975: "Distribution and Theory of Access", Development and Change, 6 (2): 13-36.
30. K. Griffin, 1974 : The Political Economy of Agrarian Change", Harvard University Press, Cambridge, MA.
31. CGIAR 1981. Second Review of The CGIAR, Consultative Group on International Agricultural Research, World Bank, Washington DC.
32. E. Oasa, 1986: "The Political Economy of International Agricultural Research : A Review of the CGIARs Response to the Criticisms of the Green Revolution" (in) B. Glaeser (ed.) Green Revolution Revisited : Critiques & Alternatives, Allm & Unwin, London.
33. T.J. Byres : the New Technology, Class Formation and Class Action in The Indian Countryside, J. Peasant Studies, July 1981, pp 405-454
34. Rene Loewenson : Modern Plantation Agriculture pp 15, 25, 83, Zed Books Ltd. London, 1992.
35. E. Oasa : "Farming Systems Research : A Change in Form but not in Content", Human Organization, 44 (3) : 219-227, 1985.
36. P.Marcotte and L. Swanson : "The Disarticulation of farming Systems Research with National Agricultural Systems: Bringing FSR Back In " Agricultural Administration and Extension, 27:75-91, 1987.
37. P.R. Mooney : Seeds of the Earth : A Private or Public Resource, Inter Pares, Ottawa for International Coalition for Developement Action, London, 1980.
38. P.R. Mooney : " Law of the Lamb, " Developement Dialogue No.1, pp 99-108, 1985.
39. A.T. Bull, G. Holt and M.D. Lilly: 'Biotechnology : International trends and Perspectives', Organization for Economic Cooperation and Developement, Paris, 1982.
40. Don Morgan: 'Merchants of Grain: The Power and Profit of Five Giant Companies and the Centre of World Food Supply', Widenfield and Nicholson, London, 1979.
41. F.F.Clairmonte and J. Cavanagh : 'The World in Their Web,' Zed Press, London, 1981.
42. F.F.Clairmonte: 'The Rise and Fall of Economic Liberation,' The Other India Book Store, Mapusa, Goa, 1996.
43. D. Dickson: 'The New Politics of Science' Pantheon Books , N.Y. 1984.
44. V.I.Lenin: 'Theoryof Agrarian Question' New York International Pub. 1938.
45. F.H.Buttel et al 1984: Biotechnology in Agriculture: The Political Economy of Agri-business Reorganization and Industry - University Ralationships" (in) H.K.Schwarzweller (ed.), Research in Rural Sociology and Developement, JAI Press, Greenwich, CT,
46. M. Sun, 1985: The Japenese Challenge in Biotechnology Science, 230: 790-792.
47. Science Editorial 1985: Science 229 no. 4719 Sept 20.
48. USG 1983. Biobusiness World Data Base, US. Government Interagency Working Group on Competitive and Transfer Aspects of Biotechnology, distributed for McGraw-Hill's Biotechnology Newswatch by Elsevier, Amsterdam.
49. S.Dutt, 1983: India and the Third World : Altruism or Hegemony? Zed Press, London.
50. Busch and W.B.Lacy. 1989: Biotechnology and Restructuring of the World Food Order (in) A.Bonanno (ed.) Sociology of Agriculture, Concept Pub. Co. New Delhi.
51. M. Sun. 1986 : Engineering Crops to Resist Weed Killers, Science, 231 : 1360.
52. D.Abrol 1983 : American Involvement in Indian Agriculture Research, Social Scientist 11(10): 8-26.
53. V.Shiva and J.Bandopadhyaya, 1980: The Large and Fragile Community of Scientists in India, Minerva, 18(4):575.
54. C.Joyce 1985: Brazil goes back to its roots, New Scientist, July 18 pp 36.
55. R.Asinof 1986: Biotechnology : Is it a Panacea or a Pandora's Box? In These Times, Dec 10-16, p5.
56."News from CGAIR" 1985: An Interview with Donald Plucknetts.
57. A.Moseman 1970. Building Agricultural Research Systems Developing Nations , N.Y. Agricultural Developement Council.

'दायित्वबोध' के आगामी अंक की प्रमुख सामग्री

❍ **जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां**

❍ ब्रेष्ट–लुकाच पॉलिमिक्स

❍ **'शवयात्रा'** : *विष्णुचन्द्र शर्मा* के शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास **'विडम्बना'** का एक अंश

संसदीय वामपंथ पर एक विचारोत्तेजक टिप्पणी

❍ **नजरुल जन्मशती पर विशेष लेख और कविताएं**

❍ जन्मशती वर्ष के अवसर पर पाल रॉबसन की कविताएं

❍ *'पुस्तक चर्चा'* में
इस्तवान मेस्जारोस की पुस्तक **'बियाण्ड कैपिटल'** पर

❍ *'संस्कृति चिन्तन'* में
मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध के बारे में
वी. एन. वोलोशिनोव का लेख

❍ **जॉन बेलेमी फॉस्टर** और **फ्रेड मैग्डॉफ** का लेख—
लीबिग, मार्क्स और मृदा उर्वरता का ह्रास : आज की कृषि में प्रासंगिकता

❍ महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज

❍ अन्य स्थायी स्तम्भ तथा विचारोत्तेजक टिप्पणियां

भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न

सर्वहारा चेतना केन्द्र

कम्युनिस्ट जब कृषि प्रश्न पर विचार करते हैं तो वे हमेशा मजदूर वर्ग के हितों की दृष्टि से ही उस पर विचार करते हैं। राज्यसत्ता पर दखल जमाने के लिए मजदूर वर्ग को दोस्तों की जरूरत होती है। किसानों की क्रान्तिकारी क्षमता को चिन्हित करते हुए एंगेल्स ने कहा था कि किसानों के साथ मैत्री करके ही सर्वहारा अपने को एक नाकाम अल्पमत से एक कारगर शक्ति में बदल सकता है। लेनिनवाद के सिद्धान्त और व्यवहार, यानी बोल्शेविज्म के साथ कृषि प्रश्न सुस्पष्ट रूप में सामने आया। इसके चलते बहुत-से लोग ऐसा समझने लगे कि 'किसान का सवाल' लेनिनवाद की मूल वस्तु है। पर स्तालिन ने बताया कि ऐसा समझना गलत है। लेनिनवाद का प्रस्थान बिन्दु, लेनिनवाद की मूल वस्तु है—**सर्वहारा के अधिनायकत्व का सवाल** यानी मजदूर वर्ग की राज्यसत्ता का सवाल, उसे किस तरह हासिल और सुदृढ़ किया जा सकता है—इसका सवाल! 'किसान का सवाल' हालांकि एक बहुत महत्वपूर्ण सवाल है, फिर भी यह मूल नहीं बल्कि व्युत्पन्न सवाल ही है। राज्यसत्ता को कब्जा करने के अपने प्रयास में मजदूर वर्ग को किसानों की क्रान्तिकारी क्षमता का हिसाब-किताब रखना चाहिए। शोषित-उत्पीड़ित किसान जनता की विशाल बहुसंख्या की शोषण-उत्पीड़न के खात्मे के लिए संघर्ष करने वाले सर्वहारा के दोस्तों में गिनती हो सकती है। अत: सर्वहारा को किसान के सवाल को गम्भीरता से लेना चाहिए। स्तालिन ने इस सवाल को बड़ा महत्व दिया है, पर साथ ही इतिहास से सबक लेते हुए उन्होंने हमें यह कहते हुए सचेत भी किया है कि—''इसका अर्थ यह नहीं होता कि सर्वहारा को हर किसान आन्दोलन का समर्थन करना चाहिए। यहां हमारे दिमाग में यह बात है कि किसानों के उस आन्दोलन या संघर्ष का समर्थन होना चाहिए जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर सर्वहारा के मुक्ति आन्दोलन को सुगम बनाता हो, जो, एक या दूसरे तरीके से, सर्वहारा क्रान्ति के लिए मददगार हो, तथा जो किसान समुदाय को मजदूर वर्ग की आरिक्षत शक्ति तथा मित्र में रूपान्तरित करने में मदद देता हो।''[1]

अपने कृषि कार्यक्रम से सम्बन्धित किसी नारे का मूल्यांकन करते समय हमें प्रश्न के इस तरह के प्रस्तुतिकरण को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। हमें सर्वहारा क्रान्ति के सवाल के साथ, राज्यसत्ता लेने के मजदूर वर्ग की कोशिश के साथ अपने नारों को जोड़ना चाहिए। उदाहरण के लिए, 'जमीन जोतने वाले की' के महत्वपूर्ण नारे को लिया जाये—लगता है जैसे इसे हम रहस्यात्मक गुणों से विभूषित कर देते हैं। इसने वास्तव में किसान जनता को क्रान्तिकारी कार्रवाइयों के लिए गोलबन्द किया है और सर्वहारा को राज्यसत्ता लेने के रास्ते में मदद पहुंचायी है। पर यह नारा अपने-आप में क्रान्तिकारी नहीं है और बहुत सी हालतों में ऐतिहासिक तौर पर इसके कार्यान्वयन ने प्रतिक्रिया को मजबूती प्रदान करने का काम किया है। नेपोलियन ने किसानों को जमीन दी थी और नेपोलियन से अपनी जमीन पाने वाले फ्रांसीसी किसान बोनापार्ती निरंकुशता के मजबूत सामाजिक आधार बने। अमेरिकी दखलकारी सेना के सेनानायक मैकआर्थर ने जापान में जोतनेवालों के बीच जमीन का वितरण किया था ताकि अमेरिकी साम्राज्यवाद के लिए समर्थन का सामाजिक आधार जीता जा सके। अत: यह जरूरी है कि नारों को मजदूर वर्ग द्वारा सत्ता हासिल करने के अंग के रूप में ही लिया जाये। हर नारे को उपयुक्त वर्ग-सन्दर्भ में ही देखा जाना चाहिए। किसान की बात करते हुए हमें इसकी दोहरी प्रकृति को ध्यान में रखना होगा—वह एक ही साथ मालिक भी होता है और मेहनतकश भी। इसीलिए स्तालिन ने कहा था कि हम हर किसान आन्दोलन का समर्थन नहीं करते हैं। (मालिक के रूप में फ्रांसीसी किसान बोनापार्ती निरंकुशता का सामाजिक आधार बने थे।)[2]

भारत के ठोस सवाल का मजदूर वर्ग के दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने के लिए हमें इन तमाम बातों का ध्यान रखना चाहिए। जैसाकि हमने कहा है, किसान दोहरी प्रकृति का होता है। लेनिन ने किसान को आधा मजदूर और आधा धंधेबाज व्यवसायी कहा है। मेहनतकश के रूप में उसे भूस्वामियों, पूंजीपतियों, व्यापारियों और सूदखोरों के शोषण का शिकार होना पड़ता है। और स्वामी के रूप में एक माल-उत्पादक के रूप में वह सम्पत्तिशाली वर्गों के साथ, पूंजीपतियों के साथ अपनी नजदीकी दिखाता है। अपनी पार्टी का मसविदा कार्यक्रम तैयार करते हुए लेनिन ने लिखा है कि—''मजदूर वर्ग की पार्टी को अपने बैनर पर उस हद तक किसानों के लिए **समर्थन** लिख देना चाहिए (**किसी भी तरह** से छोटे स्वामी के या छोटे किसान के रूप में नहीं) **जिस हद तक किसान क्रान्तिकारी संघर्ष के काबिल है....**''[3] सर्वहारा के लिए जो महत्व की बात है वह है किसानों की क्रान्तिकारी क्षमता, चाहे वह एक वर्ग (या सोशल इस्टेट) के रूप में सामन्तवाद के द्वारा शोषित हो रहा हो या वह पूंजी द्वारा उत्पीड़ित हो।

पूंजीवाद के विकास के साथ किसान अब समरूप नहीं रह जाता। बल्कि मध्यम तथा गरीब किसानों के मध्यवर्ती तबकों के साथ उसका किसान-पूंजीपति और सर्वहारा में विभेदीकरण शुरू हो जाता है। पूंजीवाद के अन्तर्गत बड़े पैमाने का उत्पादन छोटे पैमाने के उत्पादन की जगह ले लेता है। कृषि के क्षेत्र में बहुत से कारकों के चलते इस नियम का रूपान्तरण हो जाता है—जमीन में निजी मिल्कियत की जबर्दस्त प्रवृत्ति के कारण सभी प्रतिकूल स्थितियों का सामना करते हुए भी किसानों में अपनी जमीन बरकरार रखने की क्षमता होती है आदि, आदि। पूंजीवाद की इस प्रवृत्ति का अध्ययन करते हुए लेनिन ने इस तरह इसका समाहार किया है—

---

1. स्तालिन : 'लेनिनवाद की समस्याएं'।

2. बोनापार्त घराना क्रान्तिकारी किसानों का प्रतिनिधि नहीं है वह रूढ़िवादी किसानों का प्रतिनिधि है : वह उस किसान का प्रतिनिधि नहीं है जो अपने सामाजिक अस्तित्व की अवस्था छोटी जोत से बाहर निकलने के लिए हाथ-पांव मारता है, अपितु उस किसान का प्रतिनिधि है जो इस जोत को कायम करना चाहता है : वह उन ग्रामीण जनों का प्रतिनिधि नहीं है जो नगर के साथ जुड़कर पुरानी व्यवस्था को खुद अपने जोर से उलटना चाहते हैं, अपितु उन ग्रामीण जनों का प्रतिनिधि है जो इस पुरानी व्यवस्था की चहारदीवारी में जड़वत हैं।'' (का. मार्क्स, अठारहवीं ब्रूमेर)

3. लेनिन : 'कलेक्टेड वर्क्स : खण्ड-4, पृ. 242

''वस्तुत: उद्योग तथा कृषि दोनों में छोटे पैमाने के उत्पादन द्वारा विस्थापन पूंजीवाद की मौलिक एवं प्रधान प्रवृत्ति है। लेकिन इस विस्थापन को तत्काल सम्पत्तिहरण के **रूप में ही** समझा जाना चाहिए। विस्थापन का अर्थ छोटे जोतदारों की बरबादी तथ उनके फार्मों की हालत का बदतर होना भी होता है, यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो **वर्षों** तथा दशकों तक चल सकती है। यह अवनति विविध रूप अख्तियार करती है जैसे छोटे जोतदारों का अतिश्रम या कुपोषण, उसका भारी ऋण, आम तौर से जानवरों को बदतर भोजन और उनकी अपर्यापत देखभाल, घटिया खेती-बाड़ी, उर्वरण तथा फार्म पर तकनीकी ठहराव, आदि।''[4]

अपने छोटे उत्पादन के साथ किसान पूंजीवादी समाज में भी अस्तित्वमान रहते हैं। किसानों के उत्पीड़ित, शोषित और मेहनतकश तबकों से सर्वहारा को दोस्त मुहैया होता है। सामंतवाद के मुकाबले समग्र किसान समुदाय, शोषण करने वाला तबका भी, क्रान्तिकारी भूमिका निभा सकता है।

कृषि में उत्पादन-सम्बन्धों और वर्ग-सम्बन्धों को समझने के लिए हमें लेनिन द्वारा बताये गये कृषि में पूंजीवाद के विकास के दो मुख्य रास्तों पर ध्यान देना चाहिए (1) जमींदार-पूंजीपति वाला रास्ता (2) किसान वाला रास्ता। किसानवाला रास्ता किसान सुधारों का रास्ता होता है। इसमें जमींदारों के जागीरों की जब्ती और जमीन के आम पुनर्वितरण के द्वारा (जमीन जोतनेवालों को) प्राक्-पूंजीवादी सम्बन्धों को क्रान्तिकारी तरीके से तोड़ा जाता है। लेनिन ने जमींदार-पूंजीपति रास्ते को ''प्रशियाई रास्ता'' कहा है। इसका अर्थ होता है धीरे-धीरे क्रमिक रूप से प्राक्-पूंजीवादी या सामन्ती सम्बन्धों का चटखना और पूंजीवादी ढर्रे पर उनका ढल जाना। यह कृषि में धीमा दुखदायी पूंजीवादी विकास का रास्ता होता है जो किसान जनता के लिए अनकही तबाही लाता है। प्रशियाई रास्ते से भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास होता आ रहा है। भारत के भूमि सुधारों पर एक सरसरी निगाह डालना ही इसे समझने के लिए काफी है।

भारत में भूमि सुधार को तीन भागों में बांटा जा सकता है—(1) बिचौलियों (*जमींदारी इनामदारी, गिरसदारी* आदि) का उन्मूलन, (2) काश्तकारी सुधार (3) भू-मिल्कियत पर सीलिंग। अगर हम वर्ग राजनीति में आस्था रखते हैं तो हमें जमींदारी उन्मूलन आदि के दिखाये जाने वाले लम्बे-चौड़े उद्देश्यों को भोले-भोले ढंग से नहीं मान लेना चाहिए। भू-मिल्कियत के समतामूलक उद्देश्यों के चलते सरकार ने ये कानून नहीं बनाये थे। कम्युनिस्टों ने इनके 'दोषपूर्ण' क्रियान्वयन पर चिल्लपों मचाया है। वे इन सुधारों की वर्गीय अन्तर्वस्तु को नहीं देख सके। इन सुधारों ने निश्चित तौर पर जमींदारों का पक्षपोषण किया तथा कानून मुख्यत: पूंजीवादी आधार पर खेती करने के लिए जमींदारों पर दबाव डालने के हिसाब से बनाये गये थे। जमींदारों को मुआवजा के रूप में भारी रकम दी गई और खुद खेती करने के लिए अपनी जमीन हासिल करने को उन्हें प्रोत्साहित किया गया। यही कारण है कि जमींदारी उन्मूलन तथा अन्य ऐसे कानूनों के बाद हमें बड़े पैमाने पर बेदखली दिखाई पड़ती है। रैयतों को, किसानों को जमीन से बेदखल किया गया। अपने इरादे को पहले ही जाहिर कर तथा नौकरशाही द्वारा सुधारों को लागू करवाकर राज्य ने इसे सुगम बनाया। इस प्रकार हम पाते हैं कि हर घोषणा और उसके विधान, हर विधान और उसके कार्यान्वयन के बीच समय का एक लम्बा अंतराल है जो इस प्रक्रिया को सुगम बनाता है। यहां हमें इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि भूमि सुधारों ने ही पूंजीवादी खेती की शुरुआत नहीं की। इसके चलते एक दबाव तो बना ही था तथा अन्य कारकों की उपस्थिति में यही हो सकता था और ऐसा ही हुआ।

बिचौलियों की व्यवस्था से भारी मात्रा में लगान की वसूली होती थी तथा खेती तबाह थी। यही किसानों के जन आन्दोलनों का निशाना बनता था और राज्य को उसका ख्याल करना ही पड़ा। इसके उन्मूलन को इस तरह कार्यान्वित किया गया जिससे जमींदारों (या बिचौलियों) का पक्षपोषण हुआ, जैसा कि हमने पहले भी कहा है। पर राज्य एक ऐसे छोटे वर्ग पर निर्भर नहीं रह सकता था जो पूरा का पूरा खुलेआम जनविरोधी रहा हो। कृषि सुधार के कानूनों ने बहुत किस्म के रैयतों को जमींदारों के आधिपत्य के बोझ से छुटकारा दिलाया और धनी किसानों के एक छोटे तबके को पैदा करने में मदद पहुंचायी। औपनिवेशिक भूमि-व्यवस्था ने जमीन में बहुत तरीके के गैर-बराबरी वाले अधिकारों का निर्माण किया था तथा अपने सुधारों के जरिये भारतीय राज्य ने इन तबकों में से बहुतों को धीरे-धीरे जमीन पर एकान्तिक अधिकार दिये—जैसे दखली रैयत आदि। तब इन तबकों ने क्रमागत रूप से भारतीय राज्य के लिए विस्तारित सामाजिक आधार मुहैया किया। ऊपर की चर्चा से यह स्पष्ट होना चाहिए कि जमींदार-पूंजीपति रास्ते से भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास हुआ है जो जमींदारों और धनी किसानों की मदद करने वाला धीमे पूंजीवादी विकास का रास्ता होता है।

पर इसने भी पूंजीवादी सम्बन्धों को उद्घाटित किया है। सी.पी.आई.और सी.पी.एम. ने देखा कि राज्य पूंजीवाद को प्रोत्साहित कर रहा है और इसीलिए इन नीतियों को प्रगतिशील कहा। वे शासकवर्ग के पिछलग्गू बने और उन्होंने नेहरूवादी नीतियों का समर्थन किया। नक्सलबाड़ी का महत्व ठीक इसी बात में था कि इसने किसानवाले रास्ते[5] पर बल दिया जो सुधारवाद से अलग का रास्ता था, जो कृषि-सम्बन्धी मांगों को क्रान्तिकारी तरीके से हासिल करने का रास्ता था। इसने **राज्यसत्ता के साथ जमीन के सवाल** को स्पष्ट रूप में पेश किया था। का. चारू मजूमदार ने भूमि दखल पर अत्यधिक बल दिये जाने को अर्थवाद कहा था। यह भूतकाल से मौलिक अलगाव था, जमींदार-पूंजीपति सुधारों के इर्दगिर्द गोलबन्द होने के रास्ते से अलगाव था। जमीन के सवाल को क्रान्तिकारी राजनीति का अंग बनाया गया था।

भारतीय परिदृश्य की आगे पड़ताल करने से पहले यह जरूरी है कि भू-स्वामित्व के रूपों तथा कृषि में पूंजीवाद के प्रवेश से सम्बन्धित मार्क्स के महत्वपूर्ण अवलोकनों को दर्ज कर लिया जाये। मार्क्स ने बताया है कि आधुनिक भू-सम्पत्ति, इसका स्वामित्व ''प्राकृतिक शक्तियों के स्वामित्व की परिस्थितियों का एक परिणाम है जो पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से पैदा नहीं हुए है वरन इसे दिये गये हैं''।[6] पूंजी भू-सम्पत्ति के विभिन्न रूपों—सामन्ती भू-जागीर, सामुदायिक सम्पत्ति, छोटी जोत आदि को अपने मातहत करती है और उन्हें पुन: अपने ढर्रे में ढाल लेती है। यह एक महत्वपूर्ण अवलोकन है जिसका इस बात पर प्रभाव पड़ता है कि हम अपने आंकड़ों का किस तरह वर्गीकरण करते हैं। आंकड़े दिखाते हैं कि भू-स्वामित्व में जबर्दस्त गैर-बराबरी है। बस इस विषमतापूर्ण पैटर्न को दिखाकर यह कह दिया जाता है कि भूमि सम्बन्ध अभी भी सामन्ती है, हालांकि, अन्य चीजें बदल गयी हैं। ऐसे अवलोकनों की जांच-पड़ताल करते हुए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भू-सम्पत्ति, चूंकि प्राक्-पूंजीवादी या सामन्ती काल से प्राप्त हुई है, अत: पूंजी के प्रभाव से इसकी अन्तर्वस्तु बदल चुकी होने के बाद भी यह सामन्ती प्रतीत होती है। इसके मूल्यांकन के लिए जरूरी है कि हम उत्पादन-सम्बन्धों की तह में जायें।

भारत में बड़ी भू-सम्पत्ति पर किस तरह से कारोबार होता है? ऊपर वाले 1 प्रतिशत

4. लेनिन : कलेक्टेड वर्क्स : खण्ड- 22, पृ. 70

5. दूसरे रास्ते की बात तभी तक की जा सकती है जब तक सामन्तवाद विरोधी कार्यभारों की तादाद काफी बड़ी हो। कृषि में पूंजीवादी सम्बन्ध दोनों में से किसी भी रास्ते के द्वारा प्रभावी बन सकते हैं। उस हालत में मजदूर वर्ग समाजवाद के अपने एजेण्डा को आगे लाता है। लेनिन ने लिखा है़''सामाजिक जनवाद, जो सर्वहारा वर्ग की पार्टी होती है, बुर्जुआ क्रान्ति के इस या उस सम्भावित निष्कर्षों के साथ कहीं से भी समाजवाद के भविष्य को नहीं जोड़ता है।'' (सामाजिक जनवाद का कृषि कार्यक्रम, क. वर्क्स -13, अनुवाद हमारा है)

6. 'थ्योरीज ऑफ सरप्लस वैल्यू : भाग- 2, पृ. 152

भूधारकों के पास करीब 15 प्रतिशत जमीन है। बटाईदारी सहित सभी किस्म की काश्तकारी 17.8 प्रतिशत होल्डिंग पर तथा 7.4 प्रतिशत परिचालित भूमि पर होती है। इसमें सभी वर्गों के भूमिधारकों द्वारा पट्टे पर दी गयी जमीन शामिल है।[7] यह बताता है कि बड़े भूधारकों की बहुसंख्या अपनी आमदनी के लिए काश्तकारी व्यवस्था पर निर्भर नहीं है। (ऊपर वाले 1 प्रतिशत भू-धारी 15 प्रतिशत जमीन के मालिक हैं पर कुल काश्तकारी सभी जमीन के 7.47 प्रतिशत पर होती है।

यहां यह ध्यान दिया जा सकता है कि काश्तकारी पूंजीवादी किस्म की भी होती है। पर यहां यह विचारणीय बिन्दु नहीं है। यहां हम इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि गैर बराबरी वाले भू-स्वामित्व के पैटर्न का यह अर्थ नहीं होता कि अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों की प्रबलता है। सिर्फ भू-स्वामित्व के पैटर्न के आधार पर 'भूमि-सम्बन्धों' को तब भी अर्द्ध-सामन्ती कहना गलत है जबकि बाकी के उत्पादन सम्बन्ध माल-उत्पादन की आम प्रणाली पर आधारित हों। फिर भी कुछेक भू-जागीरों पर पुराने अर्द्ध-सामन्ती हालतों के अन्तर्गत क्रियाकलाप जारी है।

तथाकथित हरित क्रान्ति तकनीक ने निर्णायक तौर पर गरीब किसानों को भी बाजार-सम्बन्धों के भंवरजाल में खींच लिया है। उसे भी आज अपने *उत्पादन के साधन* बाजार से प्राप्त करने होते हैं। एच.वाई.वी. (उच्च उत्पादकता वाले) बीज का उपयोग तथा उससे आवश्यक रूप से जुड़े खाद, कीटनाशी (+पानी) आदि ने गरीब किसानों को भी बाजार की दया का पात्र बना दिया है। खेती हो रही भूमि के कुल क्षेत्रफल के करीब 71 प्रतिशत में आज एच.आई.वी. का उपयोग होता है।।[8] पूरे भारत में इसने किसानों के विभेदीकरण को बढ़ावा दिया है और उत्तरोत्तर गरीब तबके धीरे-धीरे खेती से बाहर होते जा रहे हैं (जमींदारों और धनी किसानों को पट्टे पर अपनी जमीन देने की प्रवृत्ति बदतर होती हालतें और अन्ततोगत्वा जमीन से हाथ धोना)। साम्राज्यवादी फोर्ड फाउण्डेशन ने 'टेक्नोक्रेटिक' रुख पर आधारित इस दाम-उद्दीपन की अनुशंसा की थी। आज यह बाजार-भाव ही है जो ग्रामीण पूंजीपतियों (जमींदारों और धनी किसानों) की आमदनी में इजाफा करते हुए, गरीब किसानों [9] के लिए बर्बादी लाता है। खेती उनके लिए बोझ बन गयी है—खेती में ज्यादा लागत की मांग होती है। फिर भी उतनी उपज नहीं होती कि खेती की एक तर्कसंगत पद्धति कायम रहे। तात्कालिक फायदे की लालच में किसानों ने अबतक चली आ रही परम्परागत फसल प्रणाली की जगह उन फसलों की खेती की जिससे अधिक फसल और सरकार समर्थित बाजार भाव की आशा थी। कृषि ने पुराना लय-ताल खो दिया। कृषि एकल-प्रणाली तथा बाजार के उतार-चढ़ाव का शिकार हो गई, पूरा कार्य-व्यापार किसानों के लिए सांप-छछूंदर की स्थिति में बदल गया। गरीब किसान के पास जमीन है पर खेती करने का साधन नहीं है। ऐसी परिस्थिति में मेहनतकश किसानों के लिए सम्पत्ति का, जमीन का उपभोग एक अर्थहीन खोखला मुहावरा बन जाता है। किसान का उत्पाद निरन्तर बाजार के उतार-चढ़ाव, फसल पैटर्न में बाजार द्वारा प्रेरित बदलाव के अधीन रहता है और मंहगे निवेश के बोझ तले दबा होता है। वह भारतीय तथा विदेशी एकाधिकारियों की चालबाजियों के अधीन होता है जो दामों और बाजार की हालतों की तोड़मरोड़ का कौशल दिखाते रहते हैं।[10] इस प्रकार वस्तुत: वह भारतीय तथा साम्राज्यवादी पूंजी के अधीन है।

बाजार-भाव पर निर्भरता तथा माल-उत्पादन की आम प्रणाली की अधीनता गरीब किसान के अस्तित्व की हालतों पर कहर बरपाते हैं। भारतीय कृषि में आये बदलावों से इन मेहनतकशों ने फायदा नहीं उठाया है वरन वे अवांछनीय परिस्थिति में फेंक दिये गये हैं। वे वास्तव में अर्द्ध-सर्वहारा हैं तथा मजदूर वर्ग के भरोसेमंद दोस्त हैं।

खेतिहर उत्पादन की परिस्थितियां आजकल मुद्रा-पूंजी की मांग करती हैं। ऐसा होने पर ही यह लाभ दे सकती है और एक ठीक-ठाक जीवन-यापन मुहैया हो सकता है। गरीब किसान के पास केवल जमीन की ही किल्लत नहीं है, उनके पास तो जमीन पर खेती करने के साधनों का भी अभाव है।

जमींदार व धनी किसान कृषि विकास के सभी संस्थागत उत्तोलकों को अपने फायदे में घुमा-फिरा लेते हैं। वे सहकारी संस्थाओं पर नियंत्रण कायम रखते हैं जिसने उन्हें ज्यादा मजबूत और ज्यादा धनी बनने में मदद पहुंचायी है। वे हजारों तरीकों से अफसरशाही के साथ जुड़े होते हैं तथा राज्य मशीनरी पर भी उन्हीं का दबदबा है। इसके चलते कृषि के लिए मिलने वाली सरकारी सहायता को गटक जाने में उन्हें मदद मिलती है। कृषि में बढ़ती हुई लागत को केवल वे ही जुटा सकते हैं जिनकी उधार देने वाली संस्थाओं तक पहुंच हों, जिन्हें भण्डारण की सुविधा हों, खरीद-बिक्री के लिए सहकारी संस्थाएं जिनके हाथ में हों। तभी खेती बड़ी मात्रा में अतिरिक्त पैदा कर सकती है और वे लाभ कमा सकते हैं।

आज ग्रामीण इलाके का यह अन्तरविरोधी चित्र उभर कर सामने आता है—जहां गरीब किसान और मजदूर तंगी का जीवन जी रहे हैं, वहीं धनी किसान और जमींदार और अधिक वैभवशाली हो रहे हैं। अन्तरविरोध यह है कि मुट्ठी भर लोगों का विकास विशाल बहुसंख्या के लिए अविकास बन जाता है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और एक-दूसरे से अलग होने वाले नहीं है।

हमारा आन्दोलन एक ही प्रक्रिया के दो पहलूओं के रूप में विकास और अविकास को देखने की मंशा नहीं रखता है। सोच कुछ इस तरह की है कि पूंजीवादी विकास से किसानों के हर तबके को फायदा पहुंचाया जा सकता है। इस विकास ने बहुसंख्यक जनता को हाशिये पर ढकेल दिया है फिर भी हम इसी के लिए लालायित रहते हैं। एम.एल. खेमे के अन्दर आज की कार्यसूची में विकास तेजी से एक अहम मुद्दा बनता जा रहा है। विकास के लिए, उत्पादन बढ़ाने के लिए क्रान्तिकारी समूह किसानों के हर तबके को गोलबन्द करना चाहते हैं। जिन उत्पादन-सम्बन्धों के अधीन हम जी रहे हैं उसने आज ऐसी हालतें पैदा कर दी हैं जहां अन्न से गोदामों के पटे रहने पर भी गरीब भूख और कुपोषण के शिकार हैं, देश की आय में वृद्धि तो होती है पर प्रति व्यक्ति अन्न की खपत स्थिर ही रहती है। वहां नेक इरादे से लोग इन्हीं उत्पादन-सम्बन्धों के अन्तर्गत उत्पादन बढ़ाने की चाहत रखते हैं। साम्राज्यवादी विश्व अर्थव्यवस्था ने दुनिया को ऐसी जगह पर पहुंचा दिया है जहां हम देखते हैं कि सरकार खेतिहर उत्पादन के विकास पर अंकुश लगाना चाहती है। (डंकल प्रस्तावों की स्वीकृति, नई आर्थिक नीति के बाद कृषि निवेशों में सब्सिडी पर कटौती, उदाहरण के लिए हम यह भी देख सकते हैं कि कृषि-मंत्रालय के द्वारा आठवीं योजना के अन्त के लिए खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य 21 करोड़ टन से घटाकर 19.6 करोड़ टन कर दिया गया, आदि, आदि) पर विकास और लाभकारी मूल्य के बारे में बात करना तो आज का फैशन ही बन गया है।

गरीब किसान और खेतिहर मजदूर वर्ग की दशा सुधारने के लिए सहकारी प्रयास की कार्रवाई तो समझ में आ सकती है। पर इसका क्या अर्थ है कि सामान्य तौर पर किसानों के विकास की बात की जाये? यह तो मालिक के रूप में किसान की बोली बोलना है, यह तो उनके मन की बात है जो किसान अपनी सम्पत्ति संचित करना चाहता है, यह तो कारोबारी किसान की तरफदारी है। लगता है जैसे सामन्ती अवशेषों के खिलाफ शानदार

7. परिशिष्ट' अ: तालिका-1 व 2

8. परिशिष्ट 'अ', तालिका-6

9. हम केवल भू-स्वामित्व के अनुसार किसानों का वर्गीकरण नहीं करते हैं बल्कि उनकी उत्पादक सम्पत्ति के मूल्य की भी गणना करते हैं। हम उनकी आमदनी का भी लेखा-जोखा करते हैं। आज के दिन खेती में मुद्रा-पूंजी की जरूरत होती है। अत: केवल भू-स्वामित्व के मुताबिक वर्गीकरण अर्थहीन है।

10. इस तरह के तोड़-मरोड़ से पैदा होने वाली अतार्किकता के उदाहरण के तौर पर देखें परिशिष्ट- 'अ', तालिका-5

लड़ाई के बाद हमारे आन्दोलन में पीछे लौटने के लक्षण दिखायी पड़ने लगे हैं। **अतः खेतिहर मजदूर व गरीब किसान के हितों और उद्देश्यों को मजबूती के साथ सामने लाना आज समय की पुकार है।** केवल मजदूर वर्गीय लाइन ही हमारे आन्दोलन को उस स्थिति से बाहर निकाल सकती है, जहां यह पहुंच गया है। नक्सलवादी समूह अपने बीच हथियारबन्द झगड़ों में उलझे हैं। यह ठीक बात है कि क्रान्ति कोई दावत नहीं होती, अत: हर चीज ठौर-ठिकाने से नहीं चल सकती है। न ही हम सारे प्रकरण को कम्युनिस्ट नैतिकता का प्रश्न बना सकते हैं। इन सबों के तो वर्ग-कारण हैं। हम देखते हैं कि जमीन की खरीद-बिक्री के लिए झगड़े होते हैं, जमीन की बन्दोबस्ती को लेकर झगड़े होते हैं तथा झगड़े मालिक के रूप किसान के कारोबार से सम्बन्धित मामलों को लेकर होते हैं। आन्दोलन के इसमें फंसते जाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है और तब इसकी स्वाभाविक परिणति के तौर पर वे सारी चीजें दिखाई पड़ती हैं जो मालिक किसान की मानसिकता से जुड़ी होती है—जैसे सदियों पुरानी निजी सम्पत्ति की भयंकर सहजवृत्ति और इसके लिये हिंसा पर उतारू रहने की ओर झुकाव, उसका पिछड़ापन, उसके पूर्वाग्रह आदि।

गरीब किसान और मजदूरों के लिए विकास! कैसा विकास? वही विकास जो उनकी तबाही और बर्बादी लाया है। खेतिहर मजदूरों को कहा जाता है कि विकास उनकी जीवन-दशा सुधारेगा, लाभकारी मूल्य के चलते उन्हें ऊंची मजदूरी मिलेगी। पर अफसोस की बात है कि किसी ऐसे अन्तर्सम्बन्ध का व्यावहारिक नमूना नहीं मिलता।[11] केरल के संगठित और जुझारू खेतिहर मजदूर पंजाब के अपनी बिरादरीवालों से अच्छी मजदूरी पाते हैं, जबकि पंजाब विकसित और आधुनिक खेती का इलाका है। विकास के लिए धनी किसानों के साथ मिलकर टीम बनाने के लिए खेतिहर मजदूरों को कहना ताकि मजदूरी बढ़ सके—यह तो उत्पादकता के साथ जुड़ी मजदूरी वाला पूंजीवादी तर्क है। सी.आई.टी.यू. तथा सी.पी.आई. (एम.) मजदूरों को यह सलाह देते हुए कभी नहीं थकते कि शान्ति व्यवस्था बरकरार रखनी चाहिए और उत्पादकता बढ़ानी चाहिए ताकि उद्योग न बन्द हों और उन्हें अच्छी मजदूरी मिल सके। उनसे यह पूछा जा सकता है कि क्या उद्योग व्यवस्था के संकट के कारण बन्द हो रहे हैं जिसके अपने नियम हैं या यह इस कारण बन्द हो रहे हैं कि मजदूर विकास कार्य में सहयोग नहीं कर रहे हैं? ऐसा सहयोग तो वर्ग-समन्वयवादी लाइन है।

यह खेतिहर मजदूरों का संगठन और संघर्ष ही है जो इनके लिए काम करने की बेहतर परिस्थितियों की गारण्टी कर सकता है। हमें उन तमाम सुधारों के लिए संघर्ष करना चाहिए जिससे मजदूर वर्ग और गरीब किसान को राहत मिले और जो उनके संघर्ष की क्षमता को बढ़ाये। कर्ज से राहत, सहयोग समितियों में संगठित होना जैसे तमाम उपायों की प्रकृति हालांकि सुधारों की है और इनकी सीमा है पर ये गरीबों को अपनी कमर सीधी करने में मदद करते हैं। हर तरह की निर्भरता के खिलाफ, सामन्ती संस्थाओं के खिलाफ संघर्ष को गम्भीरता से लिया जाना चाहिए। जो संघर्ष चल रहे हैं वे अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों को समाप्त करने में बहुत हद तक सफल रहे हैं और बस इतना ही कुछ इस व्यवस्था के भीतर हासिल किया जा सकता है।

ये सब संघर्ष आंशिक संघर्ष हैं। मुख्य नारों को राज्यसत्ता के सवाल के साथ अवश्य जोड़ा जाना चाहिए। नक्सलबाड़ी ने इस सवाल को क्रान्तिकारी ढंग से पेश करने की कोशिश की थी, पर लगता है इसे भुला दिया गया है। मजदूर वर्ग की पार्टी यानी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा इस सवाल को राज्यसत्ता जीतने की अपनी नीति के अंग के रूप में समझा जाता है। पर आज इस सवाल को दर-किनार कर दिया गया है, मजदूर वर्ग की सत्ता को कायम और सुदृढ़ करने के सवाल की उपेक्षा की गई है और जमीन दखल को अपने आप में क्रान्तिकारी कार्रवाई की कसौटी माना जाता है। हम देखते हैं कि भारत में पार्टी-साहित्य जमीन दखल के ब्यौरों से भरा रहता है—इनमें अधिकांश 'सीलिंग से फालतू' जमीन होती है जिसकी अधिकारी सरकार है या जो व्यक्तिगत मिल्कियत में है। सुधार के कदम के रूप में मेहनतकश जनता को तात्कालिक राहत देने के लिए यह सब बहुत बढ़िया है, पर क्या इसे ही वर्ग-संघर्ष कहा जाता है? हम यह पूछ सकते हैं कि इस कार्यकलाप की राजनीति कहां है? नक्सलबाड़ी की राजनीति कहां है—शासक वर्गों के भूमि सुधारों और संशोधनवादी पार्टियों द्वारा इनको दिये जाने वाले समर्थन के मुकाबले नक्सलबाड़ी ने जमीन के साथ राज्यसत्ता का जो प्रस्तुतिकरण किया था वह कहां है? भारतीय पूंजीवाद के धीमे, क्रमिक विकास का रास्ता बहुत-सी मांगों को पूरा करने की सम्भावना अपने साथ रखता है जिसे 'अर्द्ध सामन्ती सम्बन्धों के टूटने के रूप में वर्णित किया जाता है। जहां तक इन मांगों को सामान्य स्थानीय पैमाने पर पूरा किया जाता है वहां तक ये एम.एल. समूहों के स्थानीय (Localistic) उपस्थिति के लिए तर्काधार का काम करते हैं, उन्हें सामाजिक आधार मुहैया करते हैं। पूंजीवाद के विकास की चिन्ता में डूबे होने के चलते आज कार्यभारों का गैर-राजनैतिक अर्थवादी निरूपण हो रहा है। जैसे-जैसे पुराने मुद्दे समाप्त हो रहे हैं हम पाते हैं कि विकास कार्य की चिन्ता बढ़ रही है। ऐसी स्थिति में जैसा कि हमने पहले भी कहा है, पूरे के पूरे आन्दोलन के उल्टी दिशा में चले जाने का खतरा मंडरा रहा है—मालिक किसान के सरोकारों, कारोबार करने वाले किसानों के संचयन की तरफदारी करके। पर हमारे सामने यह स्पष्ट होना चाहिए कि ये ऐसी चीजें हैं जिन्हें मजदूरवर्ग की कार्यसूची से बिल्कुल बाहर होना चाहिए।

खैर, आइये हम देखें कि यह विकास है क्या! विकास का लक्ष्य है उत्पादन में वृद्धि। बहुत अच्छी बात है। पर किसान इस उत्पादन का क्या करेगा? वह इस बाजार में बेचेगा। क्या इस बढ़े हुए उत्पादन से किसानों को ज्यादा लाभ मिल पायेगा? जूट पैदा करने वाले अपने उत्पाद का क्या करेंगे जब जूट का उद्योग ही मर रहा है। उत्तर प्रदेश के वाणिज्यिक सब्जी उत्पादकों का क्या होगा जब जानवर भी अनबिकी गोभी को खाने को तैयार न हो। और बिहार के किसान की हालत? इस वर्ष आलू की जो बम्पर फसल हुई उसका क्या हुआ? एक खराब साल ही उन गरीब किसानों की रीढ़ तोड़ देने के लिए काफी है जिनका अस्तित्व एक क्षीण धागे के सहारे टिका है जो घटनाओं के किसी दुर्भाग्यपूर्ण मोड़ पर टूट जा सकता है। गरीब किसान को आधुनिक निवेश से खेती करनी होती है। मान लीजिये कि विकास कार्य के साथ ये सब उन्हें मुहैया किया जा सकता है पर उन्हें तो फिर ऋण चुकता करना होगा न। अगर बाजार उन्हें धोखा दे देता है तो वे आगे और ऋणग्रस्तता के शिकार होंगे।

धनी किसान तो अपने घाटे की भरपाई कर सकते हैं, उनमें बर्दाश्त करने की अधिक क्षमता है, वे इतने समर्थ हैं कि अपने उत्पाद को जमा रख सकते हैं। माल-उत्पादन के नियम सम्पत्तिशाली की मदद करते हैं। सहयोग के सभी कार्यों पर आखिरकार धनी किसान अपना आधिपत्य जमा ही लेंगे और उससे अपना मतलब साध लेंगे। उदाहरण के लिए गुजरात जैसे समृद्ध राज्य में गन्ना पैदा करने वाले धनी किसान जानबूझकर छोटे किसानों को गन्ना सहयोग समितियों से बाहर रखते हैं। छोटे किसानों को सहयोग समितियों के सदस्य धनी किसानों के हाथों अपना गन्ना कम दाम पर बेचना पड़ता है।

विकास के फलाफल को भी बाजार के नियमों के अधीन रहना पड़ेगा। बेचनेवाला खरीदनेवाले को नहीं जानता है, उसे पहले से इसकी जानकारी नहीं होती कि उसका उत्पाद बाजार में बिकेगा या नहीं। अन्तर्राज्यीय आवागमन की स्वतंत्रता ने आज अखिल भारतीय बाजार के प्रसार को बढ़ाया है और इस तरह माल बाजार को और ज्यादा केन्द्रीकृत किया है। विश्व अर्थव्यवस्था में हाल के बदलावों ने विश्व बाजार को और मजबूत किया है। मालों की मांग और उनके दाम बाजार

11. परिशिष्ट - 'अ', तालिका-3

के अंधे नियमों के अधीन हैं। माल-विनिमय की व्यवस्था, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार आदि सब मिलकर बाजार को भारतीय तथा अन्तरराष्ट्रीय एकाधिकारियों और सट्टेबाजों की तोड़-मरोड़ के अधीन करते हैं। निवेश की किस्म और दाम भी इनके अधीन हैं। अत: स्थानीय स्तर पर विकास की आकांक्षा अखिल भारतीय तथा विश्व-स्तर के बाजार-सम्बन्धों के अधीन है। विकास की आकांक्षा का बाजार के मालिक भारतीय और साम्राज्यवादी पूंजीपतियों के साथ अन्तरविरोध खड़ा हो जाता है। और इस तरह अगर सटीक शब्दों में कहा जाये तो विकास की आकांक्षा समाजीकरण की आकांक्षा का, बाजार सम्बन्धों, जिसने मुट्ठीभर लोगों का विकास किया है तथा विशाल बहुसंख्या को हाशिये पर ढकेल दिया है, की समाप्ति की आकांक्षा की वाहक बन जाती है।

बाजार को नियंत्रित करने की इच्छा का अर्थ होता है वास्तव में उत्पादन तथा वितरण को पूरे समाज के स्तर पर केन्द्रीय तौर पर नियंत्रित करना। माल-उत्पादन बाजार के द्वारा सारे उत्पादकों को सामाजिक उत्पादन की एक सम्पूर्ण इकाई में जोड़ देता है। आज यह सामाजिक उत्पादन व्यक्तिगत उत्पादकों के आधार पर होता है। जब हम समाजीकरण करते हैं तब हम इसे मेहनतकशों यानी मजदूरों और गरीब किसानों के हक में करते हैं। तब हम अपने संसाधनों के बारे में शब्द के सही अर्थ में योजना बना सकते हैं। केवल सामाजीकरण ही करोड़ों उजड़े किसानों को साधन मुहैया कर सकता है। लेनिन कहा करते थे कि आप जमीन को नहीं खा सकते। और आज जब कृषि मुद्रा-पूंजी की, यानी उत्पादन के आधुनिक साधनों की मांग कर रही है तो पूंजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों के रहते हुए यह गरीब किसानों को कहां से मिलेगी? शुरुआत में इसे जमींदारों और धनी किसानों से हासिल किया जा सकता है। जमींदारों की सारी जमीन और उत्पादन के उनके सभी साधनों को जब्त करना होगा तथा धनी किसानों को सामूहिक उपयोग के लिए उत्पादन के साधनों को सौंप देने को मजबूर किया जायेगा। ग्रामीण इलाकों के प्रचण्ड वर्ग संघर्ष में ये वर्ग निश्चित तौर पर गरीब किसानों और खेतिहर मजदूरों के खिलाफ खड़े हो जाते हैं। धनी किसानों की आज जमींदारों से मिलीभगत है।

देश और राज्य के संसाधनों को एक साथ करके ही समाजीकरण किया जा सकता है। राज्य की ऋण देने वाली संस्थाएं, बैंक सभी केन्द्रीकृत हैं और सामाजिक लेखाजोखा में इनका उपयोग हो सकता है। अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्ध जहां स्थानीय तौर पर चकनाचूर किये जा रहे हैं वहीं माल उत्पादन के उत्पादन-सम्बन्धों से केन्द्रीय तौर पर ही निपटा जा सकता है।

इस केन्द्रीय कार्यभार को केवल तभी पूरा किया जा सकता है जब मेहनतकशों के साथ मैत्री करके मजदूर वर्ग राज्यसत्ता पर कब्जा करे तथा तमाम संसाधनों को अपने हित, अपने विकास के लिए उपयोग करे।[12] यही आज का मुख्य कार्यभार है जो उन तमाम मुद्दों का समाधान निकाल सकता है जो कृषि क्षेत्र में उठ रहे हैं। और केवल सर्वहारा राज्य ही यह कार्यभार अपने कंधों पर ले सकता है जो बाजार की अंधी शक्तियों को समाप्त कर समाजीकरण कर सकता है। इसी कदम के द्वारा ही कृषि क्षेत्र के साम्राज्यवाद-विरोधी कार्यभारों को हल किया जा सकता है। *इस प्रकार केन्द्रीय कार्यभार मूल रूप से राज्यसत्ता के सवाल के साथ जुड़ा है। नक्सलवादी आन्दोलन ऐतिहासिक तौर पर खेतिहर मजदूर और गरीब किसान के दावों से जुड़ा रहा है। अगर हमें उल्टी दिशा नहीं लेनी है और आगे बढ़ते जाना है तो इन वर्गों के संघर्षों के तार्किक नतीजे को मजबूती के साथ आज की कार्यसूची पर लाना होगा।* ●

12. सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा घटता जा रहा है, फिर भी इसे काम करने वाली प्रचण्ड बहुसंख्या (1991 की जनगणना के अनुसार 74.3 प्रतिशत) का बोझ उठाना है। कृषि में किसी भी पैमाने का सुधार इस समस्या को हल नहीं कर सकता। केवल पूरे अर्थतंत्र का समाजीकरण ही इस समस्या को हल कर सकता है। मुनाफे के लिए नहीं बल्कि जरूरत के लिये उत्पादन—केवल ऐसी ही एक व्यवस्था काम करने वाली आबादी का समुचित बंटवारा सुनिश्चित कर सकती है। ऐसे अर्थतंत्र में श्रमशक्ति एक माल नहीं होगी और मुख्य चिन्ता की बात यह नहीं होगी कि अतिरिक्त मूल्य या उत्पादन ज्यादा से ज्यादा किस तरह बढ़ाया जाये! ऐसे समाज में श्रम-सघन उद्योग के उस निम्नपूंजीवादी रामबाण नुस्खे की जरूरत ही नहीं रह जायेगी जिसकी वकालत बहुतेरे मा-ले संगठन भी किया करते हैं।

परिशिष्ट—अ

तालिका-एक अखिल भारतीय स्तर पर गृहस्थियों और उनके स्वामित्व में भूमि का वितरण (प्रतिशत में)

स्वामित्व (क्षेत्र) के के आकार के अनुसार समूह	NSS-8(1953-54)		NSS-17(1961-62)		NSS-26(1971-72)		NSS-37(1982)	
	गृहस्थियां	स्वामित्व में क्षेत्र	गृहस्थियां	स्वामित्व में क्षेत्र	गृहस्थियां	स्वामित्व में क्षेत्र	गृहस्थियां	स्वामित्व में क्षेत्र
भूमिहीन	23.09	–	11.68	–	9.94	–	11.33	–
0.5 एकड़ से कम	41.10	0.45	37.90	0.54	37.42	0.69	39.93	0.90
1.0 एकड़ से कम	47.26	1.37	44.21	1.59	44.87	2.07	48.21	2.75
2.5 एकड़ से कम	61.24	6.23	66.06	7.59	62.62	9.76	66.64	12.22
5.0 एकड़ से कम	74.73	16.32	75.22	19.98	78.11	24.44	81.34	28.71
7.5 एकड़ से कम	82.55	26.28	83.51	31.55	86.00	37.14	88.61	42.55
10.0 एकड़ से कम	87.23	34.72	88.08	40.52	90.05	46.36	92.12	52.09
15 एकड़ से कम	92.28	47.50	93.17	54.49	94.67	60.93	96.02	66.73
20.0 एकड़ से कम	94.94	57.08	95.64	64.15	96.17	70.19	97.66	75.55
25.0 एकड़ से कम	96.40	63.83	97.15	71.15	97.88	77.09	98.57	81.90
30.0 एकड़ से कम	97.40	69.55	98.01	77.08	98.55	81.89	99.01	85.73
50.0 एकड़ से कम	99.06	82.46	99.40	88.87	99.59	92.14	99.76	94.57
सभी आकार के	100.00	100.00	100.00	100.00	100.00	100.00	100.00	100.00

स्रोत : NSS (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण) की भूमि जोतों पर रिपोर्ट [एग्रेरियन क्वेश्चन इन इंडिया (*दि कम्युनिस्ट*)] से साभार

तालिका-दो **कृषि भूमि का लीज़ पर लेन-देन 1953-54 से 1982 (प्रतिशत में)**

राज्य	लीज पर ली गई कृषि भूमि NSS-8 (1953-54)	NSS-26 (1971-72)	NSS-37 (1982)	लीज पर दी गई कृषि भूमि NSS-8 (1953-54)	NSS-26 (1971-72)	NSS-37 (1982)
आंध्र प्रदेश	18.34	9.17	6.51	13.3	8.9	6.30
बिहार	12.32	14.62	10.42	7.0	6.8	4.95
गुजरात (महाराष्ट्र के साथ)	22.32	4.27	2.01	11.6	2.3	1.67
हरियाणा	39.78	23.50	19.65	30.1	8.1	10.64
पंजाब	--	29.91	18.99	--	17.7	11.07
जम्मू कश्मीर	22.17	7.71	2.81	16.1	3.2	0.96
कर्नाटक	16.67	15.68	6.63	15.9	7.9	5.01
केरल	23.63	8.57	2.29	15.7	3.0	0.43
मध्य प्रदेश	19.13	7.93	3.81	11.0	3.6	3.28
महाराष्ट्र (गुजरात के साथ)	22.32	6.60	5.58	11.6	3.2	2.70
उड़ीसा	12.58	13.72	8.04	8.0	7.0	5.45
राजस्थान	20.92	5.43	4.35	6.4	4.1	3.14
तमिलनाडु	27.53	13.44	13.39	15.4	8.9	5.89
उत्तर प्रदेश	11.38	12.75	11.09	5.8	6.4	4.80
पश्चिम बंगाल	25.43	19.50	12.31	15.5	9.0	2.48
अखिल भारत	20.43	10.84	7.47	11.4	5.8	4.30

स्रोत : भूमि जोतों पर एन.एस.एस. की रिपोर्टें, 'सर्वेक्षण' वाल्यूम X नं. 2 (पूर्वोक्त से)

तालिका - तीन **वास्तविक कृषि मजदूरी के रुझान (आधार वर्ष : 1970-71)**

राज्य	वास्तविक मजदूरी सूचकांक : पुरुष 1970-1 1971-2	1987-8 1988-9	प्रतिशत वृद्धि (कालम 1)	वास्तविक मजदूरी सूचकांक : स्त्रियां 1970-1 1971-2	1987-8 1988-9	प्रतिशत वृद्धि (कालम 2)
उच्च मजदूरी क्षेत्र						
पंजाब	99.2	108.2	9.1	112.7	129.2	14.6
हरियाणा	98.7	98.1	0.7	99.8	118.9	19.1
हिमांचल प्रदेश	105.3	119.8	13.8	98.9	119.7	21.0
केरल	105.6	161.7	53.6	113.1	168.9	49.3
निम्न मजदूरी क्षेत्र						
आंध्र प्रदेश	97.6	155.4	59.2	97.1	152.9	57.5
बिहार	98.5	150.0	55.2	97.7	170.2	74.3
उड़ीसा	99.8	141.7	42.0	99.4	159.0	60.0
मध्य प्रदेश	99.7	158.4	59.0	98.8	175.6	73.7

स्रोत : भारत सरकार, राष्ट्रीय ग्रामीण श्रम आयोग की रिपोर्ट (1999b), वा. 1 पृ. 74
सी.एच. हनुमंतराव, *एग्रीकल्चरल ग्रोथ, रूरल पावर्टी एण्ड एनवायरनमेंटल डिग्रेडेशन इन इंडिया*

तालिका–चार सम्पूर्ण खाद्य सामग्री का सरकारी स्टाक (मिलियन टन)

अप्रैल–95	30	सितम्बर–95	30.6	फरवरी–96	26.7
मई–95	37.5	अक्टूबर–95	31.9	मार्च–96	23.3
जून–95	36.5	नवम्बर–95	30.5	अप्रैल–96	26.5
जुलाई	34.8	दिसम्बर–95	29.2	मई–96	27.8
अगस्त–95	32.7	जनवरी–96	28.2	जुलाई–96	25.7

स्रोत : सीएमआईई मंथली रिव्यू आफ दि इण्डियन इकानमी
(किरीट पारिख सं. *इण्डिया डेवलपमेंट रिपोर्ट* से)

सर्वाधिक 37.5 टन का भण्डार साधारणतया रहने वाले बफर स्टाक से 50 प्रतिशत ज्यादा था और सरकार के लिए एक सरदर्द बन गया था। ऐसी स्थिति तब है जब आबादी का बड़ा हिस्सा भयंकर कुपोषण और भूख से त्रस्त है।

तालिका–पांच उदारीकरण--एक अतार्किक कृषि

(राष्ट्रीय स्तर पर एनपीके उर्वरक का आदर्श अनुपात 4 : 2 : 1 है)

वर्ष	यूरिया (एन)	डी.ए.पी. (पी)	एमओपी (के)	एनपीके अनुपात
1984–85	2150	3350	1200	उपलब्ध नहीं
1991–92	3060	4680	1700	5.9:1.9:1
1992–93	2760	7500	5600	9.5:3.2:1
1993–94	2760	7300	4800	उपलब्ध नहीं

तालिका–छह

खाद्यान्नों की खेती के कुल क्षेत्र में अधिक उपज देने वाली नई किस्मों का प्रतिशत

राज्य	1988–90
आंध्र प्रदेश	74
असम	51
बिहार	75
गुजरात	68
हरियाणा	83
हिमाचल प्रदेश	64
जम्मू–कश्मीर	71
कर्नाटक	48
केरल	77
मध्यप्रदेश	49
महाराष्ट्र	63
उड़ीसा	51
पंजाब	91
राजस्थान	36
तमिलनाडु	98
उत्तर प्रदेश	73
पश्चिम बंगाल	50
समस्त भारत	64

स्रोत : बेसिक स्टैटिस्टिक्स रिलेटिंग टु इण्डियन इकानमी, वा. 2, स्टेट्स, सितम्बर 1991, सीएमआइई

परिशिष्ट–ब

छोटे जोतों की अधिक उत्पादकता और क्लासिकी मार्क्सवादी विचार

भारत में यह देखने को मिला है कि जोतों के आकार और उपज के बीच वास्तविक क्रियात्मक क्षेत्र की दृष्टि से प्रतिलोमी सम्बन्ध है। हमारे मार्क्सवादी-लेनिनवादी खेमे में छोटी खेती के पक्ष में इसे तर्क के रूप में पेश किया जाता है। इस तरह के ''उत्पादकतावादी'' तर्क को क्लासिकी मार्क्सवाद द्वारा खण्डित किया गया है। छोटी जोतों की स्थितियों को मार्क्सवाद कहीं से भी महिमामण्डित नहीं करता।

छोटी जोत पैदावार की उच्च गहनता रखती हैं जो ज्यादा और गहन शारीरिक श्रम द्वारा सम्भव हो पाता है। बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के शब्दों में इस श्रम का स्रोत है—''सस्ता पारिवारिक श्रम''। यह ''सस्ता पारिवारिक श्रम'' बहुत कड़वी सच्चाई पर पर्दा डालता है जैसा कि हम आगे देखेंगे। बड़ी जोत मशीनरी के उपयोग द्वारा श्रम की लागत पर कम खर्च करते हैं और उनका ध्यान कुल उत्पाद के तादाद पर रहता है। महत्व की बात यह है कि वे श्रम पर बचत करते हैं। एंगेल्स ने ''फ्रांस और जर्मनी में किसानों का सवाल'' में लिखा है—''श्रम की यह बचत ही बड़े पैमाने की कृषि का एक प्रधान लाभ है।''

काउत्स्की (जब वह मार्क्सवादी थे) ने पूंजीवादी कृषि विकास का विशेष अध्ययन किया और यह अवलोकित किया कि छोटी जोत बड़ी जोतों के मुकाबले केवल ''अतिश्रम और न्यून उपभोग'' के द्वारा ही टिक पाते हैं।

लेनिन ने लिखा है—''छोटे किसान को अत्यधिक उद्यमशीलता और मितव्ययिता द्वारा (अस्तित्व के अपने संघर्ष में उनके पास इसके अलावा दूसरे शस्त्रास्त्र हैं ही नहीं) इन लाभप्रद स्थितियों (बड़े फार्म द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली मशीनरी आदि-सं.) के अभाव की आवश्यक तौर से क्षतिपूर्ति करनी पड़ती है और इसी कारण ये गुण मात्र आकस्मिक नहीं होते हैं, वरन पूंजीवादी समाज में हमेशा और अनिवार्य रूप से छोटे किसान की पहचान बनाते हैं। बुर्जुआ अर्थशास्त्री ... इसे मितव्ययिता, अध्यवसाय आदि का गुण कहते हैं.... इसे किसानों की एक खूबी मानते हैं। समाजवादी इसे **अतिश्रम और न्यून उपभोग** कहते हैं और पूंजीवाद को इसके लिए जिम्मेवार ठहराते हैं। मैनिलोव की तरह भाषण दे-देकर जो धोखा दिया जा रहा है, सामाजिक अधोगति को गुण के रूप में चित्रित कर और इसे जारी रखने की जो चेष्टा की जा रही है उसके प्रति वे किसान की आंखें खोलने की कोशिश करते हैं'' *(लेनिन, क. व. -5, पे. 206)*

यही तो बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों की मधुर बातों का अर्थ है—

''श्रम की उच्च गहनता'' + ''सस्ता पारिवारिक श्रम = बच्चे सहित पूरे परिवार के द्वारा पारिवारिक अतिश्रम और

''सस्ता'' = न्यूनउपभोग

और यह कि छोटी जोतों के ''बजट'' का विश्लेषण किया गया तो पाया गया कि उनकी पारिवारिक आय प्रचलित मजदूरी दरों की भी बराबरी नहीं करती है।

ऐसे उत्पादकतावादी सरोकार तो केवल बुर्जुआ ही रख सकता है। समाजीकरण और योजनाबद्ध उत्पादन से ऊंचा उत्पादन स्तर प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि तब खेती-योग्य जमीन पर श्रेष्ठतम ढंग से खेती हो सकती है। आज जमीन के अच्छे खासे रकबे पर ढंग की खेती नहीं हो पाती। चूंकि या तो संसाधनों का अभाव रहता है या फिर जमीन का अतिशोषण होता है। खैर, हम किसानों को उसकी गरीबी और न्यून सांस्कृतिक स्तर से छुटकारा दिलाना चाहते हैं, न कि उसका इस्तेमाल उच्च उत्पादकता वाली मशीन जैसा करना चाहते हैं।

परिशिष्ट–स

पूंजीवाद के सुन्दर चित्र खींचने के विरुद्ध

यहां यह पूर्वाग्रह पाला जाता है कि पूंजीवाद के आगे बढ़ने के साथ (विकास के साथ!) गरीबी, बदहाली का उन्मूलन होता है। (इसीलिए तो विकास के लिए आज लोग चिल्ला रहे हैं। लेकिन मार्क्सवादी-लेनिनवादी दृष्टिकोण हमें यह बताता है—

''पूंजी के संचय के साथ-साथ इस नियम के फलस्वरूप गरीबी का भी संचय होता जाता है। इसलिए, यदि एक छोर पर धन का संचय होता है तो उसके साथ-साथ दूसरे छोर पर, यानी उस वर्ग के छोर पर, जो खुद अपने श्रम की पैदावार को पूंजी के रूप में तैयार करता है— गरीबी, यातनापूर्ण परिश्रम, दासता, अज्ञान, पाशविकता और मानसिक पतन का संचय होता जाता है।'' (*कार्ल मार्क्स, पूंजी-1, पृष्ठ-722*) और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के परिणामों के बारे में लेनिन कहते हैं - ''...एक विस्तारित सामाजिक जनवादी (कम्युनिस्ट -सं) कार्यक्रम जो इसे स्पष्ट नहीं करता कि पूंजीवाद स्वाभाविक तौर पर जनता की गरीबी और बदहाली लाता ही है और जो इस गरीबी और बदहाली के खिलाफ संघर्ष को सामाजिक जनवादी (कम्युनिस्ट-सं) आकांक्षाओं की अन्तर्वस्तु नहीं मानता, हमारे आन्दोलन के निर्णायक पहलू को नजरअंदाज करता है और एक स्पष्ट त्रुटि का शिकार है।'' (*लेनिन, क.व.-6, पेज-48*)

कई कारकों के चलते यह नियम एक प्रवृत्ति के रूप में काम करता है। इन कारकों में मुख्य है—मजदूरों का वर्ग संघर्ष। यदि कोई विकसित पूंजीवादी देश तथा भारत के बीच गरीबी के 'मानदण्डों' की तुलना करता है, तो उसे ऐसा निर्धनीकरण की मार्क्स की अवधारणा को समझ कर ही करना चाहिए। वे गरीबी की वृद्धि को सामाजिक अर्थों में भी समझते थे। लेनिन कहते हैं—''गरीबी भौतिक अर्थ में नहीं वरन् सामाजिक अर्थ में बढ़ती है यानी यह पूंजीपति वर्ग के उपभोग तथा सम्पूर्ण समाज के उपभोग के बढ़ते स्तर और जनता के जीवन-यापन के स्तर के बीच की विषमता के रूप में बढ़ती है।'' (हमें विकसित पूंजीवादी देशों की गरीबी पर ध्यान देते हुए यह भी याद रखना चाहिए कि साम्राज्यवादी देश अपने मजदूर वर्ग के एक हिस्से को अपने लूट के टुकड़े भी देता है।)

●

शहीदे आजम की जेल नोटबुक

एक महान विचारयात्रा का दुर्लभ साक्ष्य ● भारतीय इतिहास का एक दुर्लभ दस्तावेज

●

हिन्दी में पहली बार प्रकाशित

पृष्ठ : 200, मूल्य : 50 रुपए (पेपरबैक) 100 रुपए (हार्डबैक)

परिकल्पना की दो नई प्रस्तुतियां

अब इंसाफ होने वाला है

उर्दू की प्रगतिशील कहानियों का प्रतिनिधि चयन

सम्पादन एवं अनुवाद : ***शकील सिद्दीकी***

पृष्ठ 240 मूल्य : 75 रु. (पेपरबैक) 150 रु. (सजिल्द)

मध्यवर्ग का शोकगीत

हान्स माग्नुस एंत्सेंसबर्गर की कविताएं

सम्पादन एवं अनुवाद : ***सुरेश सलिल***

पृष्ठ 72 मूल्य : 25 रु. (पेपरबैक) 50 रु. (सजिल्द)

परिकल्पना की पुस्तकों के मुख्य वितरक

जनचेतना, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर

लखनऊ-226 010 ✆ 308896

घोषणापत्र : प्रपत्र–1

पत्रिका का नाम	- दायित्वबोध
आवर्तिता	- त्रैमासिक
भाषा	- हिन्दी
प्रकाशन का स्थान	- गोरखपुर
प्रकाशक का नाम	- विश्वनाथ मिश्र
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- एम.आई.जी. 134, राप्तीनगर, फेज-I चरण, पो. आरोग्य मंदिर, गोरखपुर
स्वामी का नाम	- विश्वनाथ मिश्र
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- एम.आई.जी. 134, राप्तीनगर, फेज-I चरण, पो. आरोग्य मंदिर, गोरखपुर
मुद्रक का नाम	- विश्वनाथ मिश्र
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- एम.आई.जी. 134, राप्तीनगर, फेज-I चरण, पो. आरोग्य मंदिर, गोरखपुर
मुद्रणालय का नाम	- आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर

मैं विश्वनाथ मिश्र, यह घोषणा करता हूं कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर

विश्वनाथ मिश्र

(प्रकाशक/स्वामी/मुद्रक)

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन के 150वें वर्ष के अवसर पर

कम्युनिस्ट लीग (1847-1852) का इतिहास

● डी. र्याज़ानोफ़

(डी. र्याज़ानोफ़ महान अक्टूबर क्रान्ति के बाद समाजवादी सोवियत संघ में स्थापित 'मार्क्स-एंगेल्स संस्थान' के निदेशक और मार्क्सवाद के अधिकारी विद्वानों में से एक थे। प्रस्तुत निबन्ध र्याज़ानोफ़ की व्याख्यापरक टिप्पणियों सहित प्रकाशित '**कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र**' के विश्वप्रसिद्ध संस्करण की भूमिका है। यह पाठ 1930 में सर्वप्रथम प्रकाशित अंग्रेजी संस्करण से किया गया अनुवाद है। -सम्पादक)

कम्युनिस्ट लीग नामक सर्वहारा का वह प्रथम अन्तरराष्ट्रीय संगठन, जिसका कार्यक्रम एक कम्युनिस्ट कार्यक्रम था, 1847 में अस्तित्व में आया। मार्क्स (1818-1883) और एंगेल्स (1810-1895) ने इसकी स्थापना में सक्रिय भूमिका निभायी थी। इसके पहले ब्रिटिश और फ्रांसीसी हमदर्दों के सहयोग से जर्मन क्रान्तिवादियों ने अन्तरराष्ट्रीय पैमाने पर एक क्रान्तिकारी संगठन कायम करने के लिए कई प्रयास किये थे। लीग की स्थापना के लगभग चालीस वर्ष बाद, 1885 में, एंगेल्स ने जर्मनी के उस क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास की रूपरेखा लिखी थी, जिसने अन्ततः कम्युनिस्ट लीग को जन्म दिया था। यह रेखाचित्र कम्युनिस्टों पर चलाये गये प्रसिद्ध कोलोन मुकदमे के बारे में मार्क्स द्वारा लिखे गये पर्चे के पुनर्मुद्रण की भूमिका के रूप में छपा था। तब से यह सिर्फ मेहरिंग के लिए ही नहीं बल्कि लीग के इतिहास के बारे में लिखने वाले उन जैसे तमाम लेखकों के लिए सूचनाओं का प्रमुख स्रोत बना रहा है। इसलिए, मैं भी एंगेल्स के शब्दों को हूबहू यहां प्रस्तुत कर रहा हूं।

''सन् 1834 में, जर्मन शरणार्थियों के एक ग्रुप ने पेरिस में एक गुप्त सोसायटी स्थापित की जिसे 'निर्वासितों की लीग' नाम से जाना जाता था। संगठन अपनी स्पिरिट में जनतांत्रिक और रिपब्लिकन था। सन् 1836 में, अतिवादियों ने इससे अपना नाता तोड़ लिया और स्वयं को 'न्यायप्रियों का फेडरेशन' (Federation of the Just) में संगठित किया। इस संगठन के सदस्य मुख्यतः सर्वहारा थे। मूल संगठन, जिसके प्रति सिर्फ जैकोबस वैनेडी जैसे कुछ मूढ़मति लोग ही वफादार बने हुए थे, जल्दी ही पूरी तरह निष्क्रिय हो गया। सन् 1840 में, जब पुलिस ने इसके कुछ हिस्सों को खोज निकाला तो फिर यह अपने पुराने रूप की परछाईं भी न रहा, जबकि, फेडरेशन तेजी से विकसित होता रहा। मूलतः यह फ्रांसीसी मजदूरवर्गीय कम्युनिज्म का जर्मन संस्करण था जो अपनी सैद्धान्तिक धारणाओं को मुख्यतः बाबूववादी परम्परा से निःसृत करता था और जो इस बार पेरिस में एक निश्चित आकार और रूप ग्रहण कर रहा था। इन मण्डलियों में सामानों के सामुदायीकरण की मांग पर ''समानता'' के प्राकृतिक निष्कर्ष के रूप में चर्चा होती थी। 'न्यायप्रियों के फेडरेशन' का उद्देश्य वही था जो उस दौर के पेरिस की अन्य गुप्त सोसायटियों का था। इसकी गतिविधियां प्रचार कार्य और षड्यंत्रकारी कार्रवाइयों के बीच समान रूप से बंटी हुई थीं। पेरिस अभी भी क्रान्तिकारी कार्रवाइयों का केन्द्रीय बिन्दु माना जाता था, यद्यपि जर्मनी में भी सम्भावित क्रान्तिकारी उभार की तैयारी का काम कार्यक्रम से अलग नहीं हुआ था। लेकिन, फिर भी, चूंकि पेरिस को ऐसी जगह के रूप में देखा जाता था, जहां निर्णायक युद्ध लड़े जायेंगे, फेडरेशन की असलियत फ्रांसीसी गुप्त सोसायटियों की जर्मन शाखा से अधिक नहीं थी। विशेषतः इसका सम्बन्ध ब्लांकी (1805-1881) और बार्बेस (1809-1870) के नेतृत्व वाली सोसायटी (Societi des Saisons) से था। वास्तव में, फेडरेशन इस सोसायटी के साथ इतने घनिष्ठ सम्पर्क में था कि जब 12 मई, 1839 के विद्रोह में फ्रांसीसी उठ खड़े हुए तो 'न्यायप्रियों का फेडरेशन' के सदस्य अपने फ्रांसीसी भाइयों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़े व उनके साथ ही वे साझा पराजय के शिकार हुए।

''कार्ल शैपर और हेनरिख बावेर को गिरफ्तार कर लिया गया। लुई फिलिप की सरकार ने मुकदमे के इन्तजार में लम्बे समय से कारावास भुगत रहे शैपर और बावेर को फ्रांस से निष्कासित कर चैन की सांस ली। दोनों व्यक्ति लन्दन आये। शैपर, गीसेने विश्वविद्यालय में वानिकी के छात्र रहे थे और सन् 1832 में जार्ज बुख्नेर (1813-1857) के षड्यंत्र में भाग लिया था। 3 अप्रैल 1833 को वे फ्रैंकफुर्ट-आन-द-मेन में पुलिस थाने पर हुए उपद्रव में शामिल हुए थे। इस बहादुराना कार्रवाई के बाद वे विदेश चले गये और फरवरी 1834 में सैवॉय में मैजिनी की सेना में शामिल हो गये। वीरोचित गठन, स्वभाव से दृढ़ और ऊर्जावान, जान जोखिम में डालने को सदैव तत्पर रहने वाले शैपर सन् 1830 के दशक के पेशेवर क्रान्तिवादियों के प्रतिरूप थे। एक जननेता से कम्युनिस्ट के रूप में उनका लगातार सधा हुआ विकास यह साबित करता है कि उनका मस्तिष्क यद्यपि बहुत कुशाग्र नहीं था लेकिन इसके बावजूद नये विचारों के प्रति वह ग्रहणशील थे। किसी विचार से सहमत हो जाने के बाद वे अपनी धारणाओं पर दुराग्रही ढंग से अडिग रहते थे और अपने इसी भावावेश के कारण अपने बेहतर निर्णयों की भी अनदेखी कर जाते थे। 12 मई, 1839 के विद्रोह के बाद उसमें हुई चूकों की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने के लिए वह सदैव तैयार रहते थे। वह जीवनपर्यन्त हर कसौटी पर खरे ठहरते रहे और जर्मन मजदूर वर्ग के आन्दोलन को प्राप्त उनकी सेवाओं को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

''हेनरिख बावेर फ्रैंकोनिया के रहने वाले थे। पेशे से मोची बावेर ठिगने कद के जीवन्त हंसमुख, सजग और तेज-तर्रार व्यक्ति थे। उनके छोटे ढांचे में चतुराई और संकल्पशक्ति का भण्डार था।''

''लन्दन आ जाने के बाद शैपर ने, जो पेरिस में कम्पोजिटर के रूप में जीविकोपार्जन कर रहे थे, भाषाओं को पढ़ाने वाले अध्यापक के रूप में खड़े होने की कोशिश की। उन्होंने और बावेर ने फेडरेशन के टूटे हुए सूत्रों को इकट्ठा किया और लन्दन को इसकी गतिविधियों का केन्द्र बनाया। जोसेफ मॉल (जिनका देहान्त 1849 में हुआ) भी उनके साथ हो लिए (सम्भवत: वह पेरिस में ही इनके साथी बन चुके थे)। मॉल घड़ीसाज थे और कोलोन के निवासी थे। वह औसत कदकाठी के पर हरक्यूलियस जैसी शक्ति से सम्पन्न थे। मैंने उन्हें और शैपर को न जाने कितनी बार सैकड़ों हमलावरों से सभाकक्ष के प्रवेश द्वार की सफलतापूर्वक सुरक्षा करते देखा है। वह अपने दोनों कामरेडों की तुलना में कहीं से उन्नीस न थे—उतने ही ऊर्जावान, और दृढ़निश्चयी परन्तु मेधा के मामले में वे बीस पड़ते थे। न केवल वह जन्मजात कूटनीतिवादी थे, जैसाकि उनके असंख्य कूटनीतिक मिशनों की सफलताएं सत्यापित करती हैं, बल्कि वह शैपर और बावेर की तुलना में सैद्धान्तिक मसलों को भी ज्यादा आसानी से समझ लेते थे। मेरा इन लोगों से परिचय लन्दन में 1843 के साल में हुआ। वे पहले सर्वहारा क्रान्तिकारी थे, जिनसे मेरी उस समय तक भेंट हुई थी। यद्यपि, उन आरम्भिक दिनों में तफसील के कुछ मसलों में मेरा और उनका नजरिया भिन्न था, (क्योंकि वे जिस हद तक संकीर्णमना समानतावादी कम्युनिज्म* को मानते थे मैं उतनी ही संकीर्णतापूर्ण एक दार्शनिक अहम्मन्यता के साथ उनके विरोध में खड़ा था!), लेकिन मैं उस जबर्दस्त प्रभाव को कभी नहीं भूल सकता, जो उन दिनों पुरुषत्व की दहलीज पर खड़े मुझ जैसे तरुण पर इन तीन व्यक्तियों ने डाला था।

''लन्दन में संघ बनाने या सार्वजनिक सभायें करने की आजादी से उनकी गतिविधियों को संचालित करने में भरपूर मदद मिली, हालांकि स्विटरजरलैण्ड की तुलना में यह आजादी काफी कम थी। 7 फरवरी सन् 1840 को 'जर्मन मजदूरों की शैक्षिक सोसायटी' की स्थापना हुई। यह कोई भूमिगत संस्था नहीं थी, बल्कि खुल्लमखुल्ला ढंग से अपनी गतिविधियां संचालित करती थी। यह आलेख लिखते समय (सन् 1885) तक इसका अस्तित्व बरकरार था। यह सोसायटी फेडरेशन में भरती के लिए जमीन तैयार करती थी; और चूंकि कम्युनिस्ट सोसायटी के सर्वाधिक सक्रिय और बुद्धिमान सदस्य थे, इसलिए, हमेशा की तरह, इस चीज का विशेष ध्यान रखते थे कि सोसायटी का नेतृत्व फेडरेशन के लोगों के हाथ में बना रही। बहुत जल्दी ही, फेडरेशन इस बात का दावा करने की स्थिति में आ गया कि उनके पास कई 'कम्यून' हैं, जिसे उन दिनों लन्दन में वे 'कुटीर' कहा करते थे। यहां लन्दन में भी, स्विट्जरलैण्ड और अन्य जगहों की ही भांति, रणकौशल परिस्थितियों से निर्देशित होता था। जहां भी मजदूरों का कोई एसोसिएशन गठित करना मुमकिन होता था वे इसी ढंग से काम करते थे। जहां इस ढंग से काम करने में कानूनी प्रतिबन्ध अड़ंगा डालते थे ये संगठन सामूहिक गायन सोसायटियों, जिम्नास्टिक सोसायटियों और इसी तरह की अन्य सोसायटियों का रूप ले लेते थे। इनके बीच सूचनाओं का आदान-प्रदान मुख्यत: विभिन्न ग्रुपों के बीच निरन्तर आने-जाने वाले सदस्यों के द्वारा होता था। जहां जरूरी होता, ये भ्रमणकारी सदस्य दूतों का काम भी करते। वास्तव में उस समय की सरकारें अपनी हरकतों से खुद ही फेडरेशन की गतिविधियों को बढ़ाने में मदद करती रहती थीं। अपनी अक्लमंदी में वे अपने खिलाफ सक्रिय मजदूरों को निर्वासित कर देती थीं। ऐसे दस में से नौ मामलों में इस प्रकार निर्वासित मजदूर फेडरेशन के सदस्य होते थे और निर्वासन के बाद वे दूत बन जाते थे।

''पुनर्गठित फेडरेशन तेजी से फला-फूला। स्विट्जरलैण्ड में इसका विस्तार विशेष रूप से उल्लेखनीय था। यहां वाइटलिंग (1808-1870), ऑगस्ट बेकर (1814-1875, जो अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, लेकिन जिनकी अस्थिरचित्तता ठीक उसी तरह उनके दुख का कारण बनी जैसे उद्देश्य के प्रति ढुलमुलपन ने कई अन्य जर्मनों को गड्ढे में गिराया) और इन जैसे अन्य व्यक्तियों ने मजबूत संगठन खड़ा किया जिसके सिद्धान्त कमोबेश वाइटलिंग की कम्युनिस्टवादी व्यवस्था से गढ़े गये थे। लेकिन, जर्मन सर्वहारा के स्वतंत्र दर्शन के इस प्रथम आलोड़न के रूप में वाइटलिंग की व्यवस्था के महत्व को मैं मार्क्स से बेहतर ढंग से नहीं व्यक्त कर सकता। 1844 में पेरिस से निकलने वाले 'वोरवार्ट्स' में उन्होंने यह लिखा था—''क्या जर्मन बुर्जुआ वर्ग, अपने तमाम दार्शनिकों और दिव्यपुरुषों समेत, बुर्जुआ राजनीतिक मुक्ति को निरूपित करने वाला कोई ऐसा ग्रन्थ दिखा सकता है, जो वाइटलिंग की रचना 'सौहार्द्र और स्वतंत्रता की गारण्टियां' (Guarantees of Harmony and Freedom) के पसंगे में भी आता हो? जो भी व्यक्ति जर्मन राजनीतिक साहित्य के सारहीन और निस्पन्द औसतपन के साथ जर्मन मजदूर वर्ग की इस जबर्दस्त और प्रतिभाशाली प्रथम रचना से तुलना करता है, जो सर्वहारा की विशाल शिशु-जूती से बुर्जुआ वर्ग के बौने और घिसे हुए राजनीतिक जूते की तुलना करता है, वह यह भविष्यवाणी किये बिना नहीं रह सकता कि 'सिंड्रेला' का कद अभी बहुत अधिक बढ़ेगा। यह विशालकाय प्रतिभा आज भी हमारे सामने खड़ी है और अपनी सम्पूर्ण ऊंचाई प्राप्त करने के पूर्व इसे अभी काफी लम्बा सफर तय करना है।

''जर्मनी में कई ग्रुप बने, लेकिन जैसा उनका स्वरूप था, उसे देखते हुए उनके टिके रहने की सम्भावना बहुत कम थी। हालांकि जितनी संख्या में ये अल्पजीवी ग्रुप नष्ट होते थे उससे अधिक संख्या में नये ग्रुप उनके स्थान की भरपाई कर देते थे। शुरुआती ग्रुपों के अस्तित्व में आने के सात वर्षों बाद ही अर्थात 1846 में ही जर्मन पुलिस फेडरेशन से जुड़े अन्तिम लोगों—बर्लिन में मेण्टेल (जन्म 1812) और मैग्डेबर्ग में बेक को ढूंढ निकालने में सफल हो सकी। लेकिन पुलिस के अधिकारी अब इस स्थिति में नहीं थे कि वे अपना खोजी कार्रवाई आगे जारी रख सकें।

''1840 में पेरिस छोड़ने और स्विट्जरलैण्ड जाकर शरण लेने के पूर्व तक वाइटलिंग फेडरेशन के बिखरे हुए तत्वों को इकट्ठा कर चुके थे।

''फेडरेशन का नाभिक दर्जियों से बना था। दर्जीगिरी करने वाले जर्मन स्विट्जरलैण्ड, पेरिस, लन्दन—हर जगह पाये जाते थे। पेरिस में दर्जियों के बीच जर्मन भाषा इतनी अधिक बोली जाती थी कि 1846 में मैं एक ऐसे नार्वेयाई दर्जी को जानता था जो समुद्री मार्ग से ड्रोन्थीम से चलकर पेरिस पहुंचा था और जिसने पेरिस में 18 महीने रहने के दौरान फ्रांसीसी भाषा का मुश्किल से कोई शब्द बोला होगा जबकि उसने शानदार ढंग से जर्मन भाषा बोलना सीख लिया था। 1847 में फेडरेशन के अधीन दो 'कम्यून' थे। इनमें से एक में मुख्यत: दर्जी थे और दूसरे में फर्नीचर बनाने वाले।

''गतिविधियों का केन्द्र पेरिस से लन्दन स्थापित होने के साथ ही एक नयी परिघटना अस्तित्व में आयी। एक जर्मन संगठन से आगे बढ़ते हुए फेडरेशन धीरे-धीरे अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण करने लगा। जर्मन और स्विस लोगों के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रीयताओं के लोग भी, जिनके लिए जर्मन भाषा सम्प्रेषण का माध्यम बन सकती थी, फेडरेशन में आने-जाने लगे। इनमें स्कैण्डिनेवियन, डच, हंगारी, बोहेमियन और दक्षिणी स्लाव जातियों के लोग शामिल थे और इसके साथ ही रूसी ओर अल्सेशियाई लोग भी थे। 1847 में, ब्रिटिश सेना का एक ग्रेनेडियर पूरी वर्दी में नियमित मीटिंगों में शरीक होता था। जल्दी ही, फेडरेशन का 'कम्युनिस्ट वर्कर्स 'एजुकेशनल

* समानतावादी कम्युनिज्म से मेरा तात्पर्य कम्युनिज्म के उस सिद्धान्त से है जो अनन्य रूप से या मुख्यत: समानता की मांग पर आधारित था।

सोसायटी' के रूप में पुनर्जन्म हुआ। इसके सदस्यता पत्र पर यह नारा अंकित होता था—'सभी मनुष्य आपस में भाई हैं।' यह कम से कम बीस भाषाओं में लिखा होता था। हालांकि इनमें से कुछेक अनुवादों को बेहतर बनाये जाने की जरूरत थी। इस सोसायटी के अतिरिक्त, जो खुले रूप में काम करती थी, एक गुप्त संगठन भी था। इसने भी जल्दी ही अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर लिया। शुरुआत में इसके अन्तरराष्ट्रीय पहलू का दायरा सीमित था, लेकिन इसके सदस्यों की मिलीजुली राष्ट्रीयताओं के कारण और यह अहसास गहराने के कारण कि क्रान्ति के प्रभावी होने के लिए इसका समूचे यूरोप के पैमाने पर होना जरूरी है, अपना दायरा बढ़ाने का दबाव बढ़ता गया। इस प्रकार यह भावना बलवती होती गयी कि आगे बढ़ने से ज्यादा जरूरी है विस्तार करना। इस प्रकार अन्तरराष्ट्रीयतावाद की बुनियाद डाली गयी।

''जिन लोगों ने मई 1839 की आम बगावत में लड़ाई लड़ी थी और उसके बाद लन्दन में शरण ली थी, उन्होंने फेडरेशन के सदस्यों और फ्रांसीसी क्रान्तिवादियों के बीच सम्पर्क कायम कर लिया। पोलिश उग्रपरिवर्तनवादियों ने भी ऐसा ही किया। जो पोलिश शरणार्थी ज्यादा मुखर थे वे इतालवी शरणार्थियों की निगाह में मैजिनी (1805-1872) की तरह थे। हालांकि वे कम्युनिस्टों के प्रति शत्रुता भाव रखते थे। अपने आन्दोलन की विशेष रूप से ब्रिटिश प्रकृति के कारण फेडरेशन ने चार्टिस्टों को गैरक्रान्तिकारी मानकर उपेक्षा की थी। बाद के दिनों में लन्दन में मैं फेडरेशन के नेतृत्व के साथ उनका सम्पर्क करा सका।

''परिस्थितियों ने फेडरेशन के चरित्र में एक अन्य बदलाव लाने के लिए प्रेरित किया। उन दिनों की यह आम धारणा थी कि पेरिस को क्रान्तियों की जन्मभूमि के रूप में देखा जाता था। लेकिन आन्दोलन का पेरिसवासी षड्यंत्रकारियों से सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका था। फेडरेशन का आकार जैसे-जैसे बढ़ता गया वैसे-वैसे इसकी चेतना का धरातल भी उन्नत होता गया। इसके सदस्य अधिकाधिक यह महसूस करने लगे कि फेडरेशन द्वारा प्रचारित हो रहे सिद्धान्त जर्मन मजदूर वर्ग में अपनी जड़ें जमाते जा रहे हैं और यह भी कि जर्मन मजदूर समूचे यूरोप के—चाहे वे उत्तर के हों या पूर्व के—मजदूर वर्ग के ध्वजवाहक हैं। वाइटलिंग कम्युनिज्म के ऐसे सिद्धान्तकार थे जो अपने फ्रांसीसी प्रतिद्वन्द्वियों की बराबरी में खड़े हो सकते थे। 12 मई, 1839 के अनुभव ने यह सबक सिखा दिया था कि अपरिपक्व उभार व्यर्थ हैं। यद्यपि, ऐसी हर घटना को अब भी क्रान्तिकारी विस्फोट के सम्भावित आरम्भ-बिन्दु के रूप में देखा जाता था और यद्यपि अर्द्ध-षड्यंत्रकारी ढंग के तौर-तरीके अभी प्रचलन में थे लेकिन वे क्रान्तिकारी नाफरमानी के अवशेषों से अधिक न थे और जो ज्यादा बुद्धिमत्तापूर्ण और बेहतर नजरियों से टकरा रहे थे।

''फेडरेशन के सामाजिक सिद्धान्त, जिस भी रूप में वे मौजूद थे, गलत जमीन पर खड़े थे। ऐसा उस समय की स्थितियों के कारण था। फेडरेशन के जो सर्वहारा सदस्य थे वे सभी अकुशल मजदूर थे। वे बड़े शहरों तक में उन लोगों द्वारा शोषित होते थे जो ज्यादातर छोटे पैमाने के मालिक होते थे। उन दिनों के लन्दन में बड़े पैमाने के सिलाई कारखाने, तथाकथित 'कन्फेक्शनरी' और बड़े पूंजीपतियों के लिए कामों का घरेलू उद्योगों में रूपान्तरण अभी अपनी शैशवावस्था में ही था। शोषक छोटा मालिक होता था और मजदूर स्वयं छोटा मालिक बनने की उम्मीदों में जीते थे। इसके अतिरिक्त, जर्मन कारीगर पुराने शिल्प संघों की भावना से भी पीछा नहीं छुड़ा पाये थे। वे अभी तक पूर्ण विकसित सर्वहारा नहीं बने थे, निम्न बुर्जुआ वर्ग के पिछलग्गू थे और उस समय तक बुर्जुआ वर्ग यानी बड़े पूंजीपतियों के प्रत्यक्ष विरोध नहीं बने थे। ये कारीगर, जो शाश्वत गौरव के हकदार हैं, अपनी सहजवृत्ति से अपने वर्ग के भावी विकास को पहले से ही देख चुके थे और यद्यपि वे इस तथ्य के पूर्ण संज्ञानी नहीं बने थे, लेकिन स्वयं को एक सर्वहारा की पार्टी में संगठित करने की दिशा में अग्रसर होते जा रहे थे। फिर भी, यह असम्भव था कि वे अपने पेशे के अन्तर्जात पूर्वाग्रहों के वशीभूत लड़खड़ा न उठते हों। विशेष रूप से तब, जब मौजूदा समाज की आलोचना की तफसीलों की बात आती थी यानी कि जब उनसे आर्थिक तथ्यों की जांच-पड़ताल के ब्योरों की मांग होती थी। फेडरेशन के किसी भी सदस्य ने कभी राजनीतिक अर्थशास्त्र की कोई एक पुस्तक भी पढ़ी होगा, इस पर मुझे विश्वास नहीं होता, लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था! 'समानता' 'भाईचारा', 'न्याय' की भावना सैद्धान्तिक सीढ़ी पर चढ़ने के लिए पांव बन जाती थी।

''फेडरेशन और वाइटलिंग द्वारा ईजाद किये गये कम्युनिस्ट सिद्धान्त के साथ-साथ कम्युनिज्म के एक बिल्कुल भिन्न सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हो रहा था। मैनचेस्टर में रहते हुए, दु:स्सह कष्टों से गुजरने के बाद मैं यह चीज जान पाया था कि आर्थिक कारक, जिनकी भूमिका को अब तक इतिहासकारों ने नगण्य या बिलकुल महत्व नहीं दिया है, कम से कम आधुनिक दशाओं के तहत दुनिया में एक निर्णायक शक्ति हैं; कि वे ही समकालीन वर्ग शत्रुताओं की वजहें हैं; कि उन भूभागों में जहां महान औद्योगिक विकासों (जैसे इंग्लैण्ड में) के कारण ये शत्रुताएं खुले रूप में सामने आ गयी हैं, और परिणामस्वरूप वे एक नयी राजनीतिक पार्टी और नये राजनीतिक संघर्षों को जन्म दे रही हैं, जिसके परिणामस्वरूप वे राजनीतिक जीवन के स्वरूप को पूर्णत: बदल रही हैं। इसके पहले, 1844 में ही, मार्क्स ने 'Deutsch-Franzosische Jahrbucher' पत्रिका में लिखते हुए दिखाया था कि वह भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं। वे इस सोच पर अडिग रहे कि राज्य बुर्जुआ समाज को निर्धारित और नियंत्रित नहीं करता वरन् बुर्जुआ समाज राज्य को निर्धारित एवं नियंत्रित करता है। इसलिए राजनीतिक विकास की राजनीति और इतिहास की छानबीन आर्थिक दशाओं और उनके विकास की रौशनी में करनी चाहिए, इसके उल्टे ढंग से नहीं, जैसा कि पहले होता रहा है। 1844 की गर्मियों में, जब मैं पेरिस में मार्क्स से मिला तब यह स्पष्ट हो गया कि सैद्धान्तिक मामलों में हम दोनों के बीच पूर्ण सामंजस्य है। इस समय से हम दोनों के साझा कार्यों की शुरुआत मानी जा सकती है। 1845 के वसन्त में, जब हम ब्रुसेल्स में दुबारा मिले, मार्क्स पहले ही इतिहास के भौतिकवादी सिद्धान्त के मुख्य बिन्दुओं को विस्तार दे चुके थे। अब हम लोगों ने इस सिद्धान्त की नानाविध तफसीलों पर काम करना तय किया।

''इतिहास के विज्ञान का क्रान्तिकारीकरण कर देने वाले इस सिद्धान्त का, जिसे सामने लाने में मुख्यत: मार्क्स की ही भूमिका थी (क्योंकि इस मामले में मैंने सहायक की भूमिका ही निभायी थी), मजदूर आन्दोलन के लिए अत्यधिक महत्व था। फ्रांसीसियों और जर्मनों के बीच कम्युनिज्म और ब्रिटिशों के बीच चार्टिज्म को अब संयोगवश घटित होने वाली परिघटना के रूप में नहीं देखा जाता था, बल्कि यह सोच बनने लगी कि इनके प्रकट होने के सुनिश्चित कारण हैं। ये आन्दोलन अब आधुनिक जीवन के परिणास्वरूप उभरे सर्वहारा वर्ग, एक उत्पीड़ित वर्ग, की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के रूप में देखे जाने लगे थे। ये शासक वर्ग, अर्थात पूंजीपति वर्ग के खिलाफ ऐतिहासिक रूप से आवश्यक संघर्ष के अधिक या कम विकसित रूपों में प्रकट हुए थे। यद्यपि वर्ग संघर्ष के रूपों के मामले में यह पहले के वर्ग संघर्षों से इस मायने में भिन्न थे कि आज का उत्पीड़ित वर्ग, सर्वहारा, पूरे समाज को, वर्ग विभेदों से मुक्त किये बिना अपनी मुक्ति हासिल नहीं कर सकता। सर्वहारा की विजय वर्ग युद्धों पर हमेशा के लिए विराम लगा देगी। कम्युनिज्म का अभिप्राय अब तुरत-फुरत अपनी पूर्णता हासिल कर लेने वाले सामाजिक आदर्श के काल्पनिक विस्तार के रूप में नहीं रह गया था। इसके विपरीत, कम्युनिज्म का अभिप्राय प्रकृति और परिस्थितियों की समझदारी, इससे निकलने वाले सामान्य लक्ष्यों और उस संघर्ष की समझदारी के रूप में लिया जाने लगा था जिसमें सर्वहारा प्रवेश कर चुका था।

''इन वैज्ञानिक निष्कर्षों को पेशेवर लालबुझक्कड़ों की ज्ञानवृद्धि के लिए भारी-भरकम

वृहदग्रन्थों में लिखकर प्रतिपादित करने की हमारी कोई मंशा नहीं थी। बल्कि हम बिल्कुल भिन्न रास्ते पर चलना चाहते थे। हम दोनों अपना बोरिया-बिस्तर लेकर राजनीतिक आन्दोलनों में कूद पड़े थे। पढ़े-लिखे समाज में (विशेषकर, जर्मनी के पश्चिमी प्रान्तों में) हमारे कुछ सम्पर्क थे और संगठित सर्वहारा के बीच निकट सम्बन्ध थे। एक कर्तव्य के रूप में हमें अपने दृष्टिकोण को एक मजबूत बुनियाद देनी थी, लेकिन यह जिम्मेदारी भी हमारे सिर पर कमतर न थी कि इन विश्वासों के प्रति आमतौर पर यूरोपीय सर्वहारा और विशेष रूप से जर्मन सर्वहारा के भीतर निष्ठा पैदा की जाये। अपना काम व्यवस्थित ढंग से शुरू करने के पहले इस मसले पर नजरिया साफ कर लेने में हम लोगों को ज्यादा समय नहीं लगा। हमने ब्रुसेल्स में 'जर्मन वर्कर्स सोसायटी' की स्थापना की और 'Deutshe Brusseler Zeitung' पत्रिका पर अधिकार कर लिया। यह नियमित पत्रिका फरवरी क्रान्ति (1848-अनु.) तक हमारे हाथ में रही। जूलियन हार्नी की मध्यस्थता से हम चार्टिस्टों के सम्पर्क में आये। मैंने चार्टिस्ट आन्दोलन के केन्द्रीय मुखपत्र 'नार्दर्न स्टार' के लिए लेख लिखे, जिसके सम्पादक हार्नी थे। हमने ब्रुसेल्स के डेमोक्रेटों के साथ भी सहयोग किया। मार्क्स ब्रुसेल्स में स्थापित एक अन्तरराष्ट्रीय संगठन 'डेमोक्रेटिक लीग' के जर्मन भाग के उपाध्यक्ष थे। आगे चलकर, हमलोग फ्रांसीसी डेमोक्रेटों के साथ जुड़े जो 'ला रिफार्म' (La Reforme) नामक अखबार निकालते थे, जिसमें मैं लिखा करता था। मुख्तसर यह, कि हमने रैडिकल और सर्वहारा संगठनों के साथ सम्बन्ध कायम करने में सब कुछ किया जो अपेक्षित था।

'''न्यायप्रियों के फेडरेशन' के साथ हमारे सम्बन्ध कुछ इस प्रकार थे। बेशक, हमें इसकी मौजूदगी के बारे में पता था। शैपर ने 1843 में ही मशविरा दिया था कि मैं इसका सदस्य बन जाऊं। लेकिन स्पष्ट कारणों से मैंने इस आमंत्रण को अस्वीकार कर दिया था। इसके बावजूद, हमारा लन्दन के 'कम्यून' के साथ जीवन्त पत्र-व्यवहार था और डा. एवरबेक के साथ तो, जो उस समय तक के 'पेरिस कम्यूनों' की एक अगुवा शख्सियत थे, हम और भी नजदीकी से जुड़े थे। 'फेडरेशन' की अन्दरूनी परिस्थिति के बारे में ज्यादा उलझन में डाले बिना सभी महत्वपूर्ण मुद्दों से हमें अवगत कराया जाता था। जुबानी, पत्रों के द्वारा और अखबारों के जरिये अपने सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को हम सदस्यों के संज्ञान में डालते रहते थे। इसके अतिरिक्त हम विशेष अवसरों पर (उदाहरण के लिए, जैसे उस समय गठन की प्रक्रिया से गुजर रही कम्युनिस्ट पार्टी के आन्तरिक मामलों के सम्बन्ध में) लिथोग्राफ से निकाले गये सर्कुलर जारी करते थे और उन्हें दुनिया भर में फैले अपने मित्रों और संवाददाताओं के पास डाक से भेज देते थे।

''हरमन क्रीग (1820-1850) नामक एक युवा छात्र वेस्टफेलिया से चलकर अमेरिका पहुंचा। उसने खुद को फेडरेशन का दूत बनने के लिए प्रस्तुत किया और सनक की हद तक जोशीले अपने एक साथी हैरो हैरिंग तथा फेडरेशन की साख के बलबूते दक्षिणी अमेरिका में क्रान्ति शुरू करने का प्रस्ताव रखा। उसने एक अखबार की स्थापना की जिसमें फेडरेशन के नाम का सहारा लेते हुए उसने प्रेम पर आधारित या ठीक-ठीक कहें तो प्रेम से सराबोर कम्युनिज्म के एक अतिशय भावुकताभरे स्वरूप का प्रतिपादन किया। हमने तत्काल एक सर्कुलर के जरिये कम्युनिज्म के लिए पराये इस विचार पर धावा बोल दिया जिसने अपना अपेक्षित असर छोड़ा। जहां तक फेडरेशन का सम्बन्ध है, क्रीग का फिर नाम नहीं सुना गया।

''बाद के दिनों में वाइटलिंग ब्रुसेल्स आ गये। लेकिन अब वे दर्जीगिरी करने वाले उस प्रकार के सरल-हृदय यात्री नहीं रह गये थे जो स्वयं अपनी प्रतिभा से कुछ अचम्भित सा रहा करता था और जो एक समय यह जानने के लिए बेकल रहा करता था कि कम्युनिस्ट दुनिया ठीक-ठीक कैसी होगी। अब वह एक ऐसे महान व्यक्ति थे जिनकी श्रेष्ठता ने उन्हें अपने ईर्ष्यालुओं के निशाने पर चढ़ा दिया था, जो हमेशा अपने प्रतिद्वंद्वियों व अपने छुपे दुश्मनों को सन्देह की नजर से देखते थे क्योंकि उनकी नजर में वे उन्हें फंसाने के लिए जाल रचा करते थे। अब वे एक पैगम्बर की तरह एक देश से दूसरे देश में भ्रमण करते थे, एक सिद्धपुरुष की तरह पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने के नुस्खे बांटते फिरते थे और इस कल्पनालोक में विचरण करते थे कि जिस किसी से उनका सामना होता है वह इन नुस्खों को चुराने की कोशिश करता है। लन्दन और ब्रुसेल्स में वे पहले ही फेडरेशन के सदस्यों से उलझ चुके थे। ब्रुसेल्स में मार्क्स और उनकी पत्नी ने वाइटलिंग का एक बेहद करीबी मानवेतर पुरखे जैसा स्वागत किया था। लेकिन वाइटलिंग की दोनों में से किसी से पट नहीं पायी। अन्तत: वे इस उम्मीद में अमेरिका चले गये कि शायद वहां वे अपने पैगम्बरी मिशन को आगे बढ़ा सकें।

''इन अनेकानेक परिस्थितियों ने फेडरेशन में बदलाव लाने पर मजबूर किया। यह बदला हुआ दृष्टिकोण विशेष रूप से लन्दन के सदस्यों में दिखायी देता था। सैद्धान्तिक मामलों में फ्रांसीसी समानतावादी कम्युनिज्म और वाइटलिंग छाप कम्युनिज्म—दोनों की कमियां दिन-ब-दिन उजागर होती जा रही थीं। कम्युनिज्म को पुराने ईसाई रिवाजों की ओर लौटाने के वाइटिंग के प्रयासों ने—जैसाकि ''अकिंचन पापियों के लिए ईसोपदेश'' में उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य परामर्शों के रूप में जगमगाते रहते थे—स्विट्जरलैण्ड में आन्दोलन को अलब्रेख्त (1809-1872) जैसे मूर्खों के हाथों में सौंप दिया या कुहेलमान जैसे फर्जी पैगम्बरों को अपनी धंधेबाजी के लिए इस्तेमाल करने का मौका दे दिया। 'सच्चा समाजवाद' (देखिये कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, जहां 'जर्मन या सच्चे समाजवाद' की चर्चा की गयी है), अर्थात कुछेक विद्वानों द्वारा रचा गया आडम्बर, फ्रांसीसी समाजवादी उक्तियों का हेगेलवादी जर्मन संस्करण था, जिसपर प्रेम के बारे में भावुकतावादी उच्छवासों का लेप लगा दिया गया था। फेडरेशन के अन्दर ये तुच्छताएं क्रीग और तत्सम्बन्धी साहित्य के अन्य पाठकों द्वारा घुसायी गयी थीं और अबतक फेडरेशन के पुराने क्रान्तिवादियों की ही भांति यह फूहड़ रीढ़विहीन सिद्धान्त भी जुगुप्सापूर्ण बन चुका था। अब तक जड़ें जमायी हुई सैद्धान्तिक धारणाएं स्पष्टत: कमजोर पड़ती जा रही थीं और इन सिद्धान्तों में उभरने वाली त्रुटियां अधिकाधिक स्पष्टत: परिभाषित होती जा रही थीं। परिणामत:, लन्दन में फेडरेशन के जिम्मेदार लोग उत्तरोत्तर इस बात पर सहमत होते जा रहे थे कि मार्क्स और मेरे द्वारा उद्घाटित किये जा रहे नये सिद्धान्त सही हैं। निस्सन्देह, इस विश्वास को प्रोत्साहित करने में उन दो व्यक्तियों का महत्वपूर्ण योगदान है, जो उस समय लन्दन के 'कम्यून' के सदस्य हुआ करते थे और जो सैद्धान्तिक पटुता में अन्य नेताओं से काफी आगे बढ़े हुए थे। ये थे—कार्ल फैण्डर (1876 में देहान्त) जो हीलब्रान के मिनियेचर पेण्टर (लघु चित्रकार) थे और दूसरे जार्ज इकैरियस (1889 में देहान्त), जो थुरिंगन के दर्जी थे।*

''इस लम्बी दास्तान को अब मैं संक्षिप्त करता हूं। मॉल 1847 के वसन्त में ब्रुसेल्स से आये। वे मार्क्स से मिले और पेरिस आकर मुझसे मिले। अपने साथियों के जबर्दस्त आग्रह पर वे हमें फेडरेशन में शामिल कराने के लिए एक बार और आमंत्रित करने का मिशन लेकर आये थे। वे हमारे विचारों को आम तौर पर सही मानने लगे थे और इसी प्रकार वे इस पर भी सहमत थे कि फेडरेशन के परम्परागत स्वरूप और षड्यंत्रकारी तौर-तरीकों से छुटकारा पाने का समय आ गया है। उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि यदि हम फेडरेशन में शामिल होते हैं तो एक कांग्रेस में हमें एक घोषणापत्र की शक्ल में सदस्यों के सामने कम्युनिज्म के हमारे सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का मौका

* फैण्डर बुद्धिमान, मौलिक, मजाकिया, चुटीले व्यंग्य करने वाले और द्वंद्ववादी व्यक्ति थे। इकैरियस कई वर्षों तक अन्तरराष्ट्रीय कामगार एसोसियेशन के महासचिव के रूप में काम कर चुके थे। जिसकी आम परिषद में इकैरियस, फैण्डर, लेस्नेर (1825-1910) लोचनेर (1826 में जन्म) मार्क्स और स्वयं मैं भी शामिल था। आगे चलकर इकैरियस ब्रिटेन के ट्रेड यूनियन आन्दोलन के प्रति पूर्णत: समर्पित हो गये।

दिया जायेगा जिसे बाद में फेडरेशन के घोषणापत्र के रूप में प्रकाशित किया जायेगा। उन्होंने अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहा कि ऐसा करके हम पुराने फेडरेशन के स्थान पर एक नया संगठन कायम करने में योगदान देंगे जो वक्त और हमारे साझा लक्ष्यों के ज्यादा अनुरूप होगा।

''बेशक, जर्मन मजदूरों के बीच प्रचार के लिए एक ऐसे संगठन की आवश्यकता थी। साथ ही, हमने यह अहसास करने में भी चूक नहीं कि इसका शुद्ध स्थानीय चरित्र नहीं होगा वरन् यह जर्मनी के बाहर भी और गुप्त स्वरूप वाला होना चाहिए। अब, बात यह थी कि ठीक ऐसा ही एक संगठन फेडरेशन के रूप में पहले से मौजूद था। अब तक हम लोग जिस चीज की भर्त्सना करते रहे थे उसे स्वयं फेडरेशन ही त्रुटिपूर्ण मान रहा था और हमें स्वयं पुनर्संगठन काम में मदद करने के लिए कहा गया था। क्या हम इनकार कर सकते थे? कतई नहीं। यह तय कर हम लोग फेडरेशन के सदस्य बन गये। ब्रुसेल्स के हमारे अपने दोस्तों के जरिये मार्क्स को एक 'कम्यून' से सम्पर्क कायम करने में कामयाबी मिल गयी। जहां तक मेरी बात है, मैं पेरिस में मौजूद तीनों 'कम्यूनों' में गया।

''1847 की गर्मियों में फेडरेशन की पहली कांग्रेस लन्दन में हुई। विल्हेल्म वोल्फ ब्रुसेल्स 'कम्यून' के प्रतिनिधि थे और मैं पेरिस के 'कम्यूनों का। विचार-विमर्श का मुख्य विषय पुनर्संगठन का प्रश्न था। संगठन के पुराने रहस्यात्मक स्वरूप के हर अवशेष को और षड्यंत्रकारी दिनों की विरासत को अब खारिज कर दिया गया था। फेडरेशन को अब कम्यूनों, सर्किलों, नेतृत्वकारी सर्किलों, केन्द्रीय कमेटी और कांग्रेस में संगठित किया गया। इसका नाम कम्युनिस्ट लीग रखा गया। कन्वेंशन के पहले अनुच्छेद में लिखा गया—''लीग का उद्देश्य बुर्जुआ वर्ग को उखाड़ फेंकना, सर्वहारा के शासन को स्थापित करना, वर्ग विरोधों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का समूल नाश और एक नयी सामाजिक व्यवस्था की नींव रखना है जहां न वर्ग होंगे और न ही निजी सम्पत्ति।'' संगठन पूर्णतया जनतांत्रिक था। इसके पदाधिकारी चुने जाते थे और वापस बुलाये जा सकते थे। षड्यंत्रकारी तौर-तरीकों की ओर लौटने की किसी भी संभावना को सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर देने के लिए अकेले यही चीज पर्याप्त थी क्योंकि इसे सफल होने के लिए तानाशाही की जरूरत होती है। इस प्रकार, जहां तक कम से कम शान्ति के दिनों का सवाल है, फेडरेशन एक प्रचार सोसायटी में तब्दील हो गया। इन नये नियमों को—जिन्होंने हमें एक जनतांत्रिक कार्यप्रणाली में बांध दिया था—'कम्यूनों' के बीच विचार-विमर्श के लिए प्रस्तुत किया गया। दूसरी कांग्रेस में इनपर पुन: विचार किया गया और अन्तत: कांग्रेस ने 8 दिसम्बर 1847 को इन्हें स्वीकार कर लिया। इन्हें पूर्ण प्रकाशित रूप में वेर्मुथ और स्टीबर (Wermuth and Steeber, 1818-1882) द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के कम्युनिस्ट षड्यंत्रों के बारे में लिखी गयी पुस्तक में (खण्ड-एक, पृ. 239, परिशिष्ट VIII) देखा जा सकता है। (र्याज़ानोफ द्वारा कम्युनिस्ट घोषणापत्र की व्याख्या सहित प्रकाशित संस्करण, प्रस्तुत आलेख जिसकी भूमिका का अनुवाद है, में भी इसे देखा जा सकता है -अनु.)।

''दूसरी कांग्रेस इसी वर्ष (1847) नवम्बर के अन्तिम और दिसम्बर के शुरुआती दिनों में सम्पन्न हुई थी। इस बार मार्क्स मौजूद थे और लम्बी बहसों के दौरान (कांग्रेस कम से कम दस दिनों तक चली) उन्होंने हमारे नये सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की। अन्तत: अन्तरविरोधों और आशंकाओं का समाधान हो गया, नया सिद्धान्त सर्वसम्मत से स्वीकार कर लिया गया और मार्क्स एवं मुझे घोषणापत्र का प्रारूप तैयार करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। हमने बिना कोई देर किये इस काम को पूरा किया। फरवरी क्रान्ति शुरू होने के कुछ हफ्ते पहले पाण्डुलिपि लन्दन भेज दी गयी, जहां इसे छापा गया। उस समय से यह पूरी दुनिया में फैल चुका है, लगभग सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है और आज भी यह दुनिया भर के सर्वहारा आन्दोलन के मार्गदर्शक की भूमिका निभा रहा है। फेडरेशन के सूत्रवाक्य —'सभी मनुष्य आपस में भाई हैं' का स्थान इस नये नारे—दुनिया के मजदूरो एक हो!—ने ले लिया। यह संघर्ष के अन्तरराष्ट्रीय चरित्र की सार्वजनिक घोषणा थी। सत्रह वर्षों बाद भी आज यह युद्धघोष अन्तरराष्ट्रीय मजदूर संघ (इण्टरनेशनल वर्किंगमेन्स एसोसियेशन) के आदर्श-वाक्य के रूप में पूरी दुनिया में गूंज रहा है और दुनिया भर के संघर्षरत सर्वहारा ने इसे अपने झण्डे पर अंकित कर लिया है।''

बाद के अनुसन्धानकर्ताओं (उदाहरणार्थ मेहरिंग, 1846-1919, गुस्ताव मेयर, और ग्रुनबर्ग, 1861 में जन्म) द्वारा उपलब्ध कराये गये तथ्यों और दस्तावेजों से एंगेल्स द्वारा बनायी गयी इस मूल तस्वीर पर यहां-वहां कुछ नयी रोशनी जरूर पड़ती है परन्तु मुख्यत: यह चित्र स्वयं में उतना पूर्ण है जितना हो सकता है।

दस वर्ष पहले 'Erthullingen' की पूर्वलिखित भूमिका के विस्तृत आलोचनात्मक विश्लेषण और काफी पहले ही मार्क्स द्वारा अपनी पुस्तक 'Herr Vogt' में उपलब्ध कराये गये तथ्यों का एंगेल्स के इस ब्यौरे (जो सुदूर विगत की घटनाओं के स्मरण पर आधारित है) से मिलान करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि एंगेल्स द्वारा बताया गया 1848 से पहले का 'कम्युनिस्ट लीग का इतिहास' जर्मन सामाजिक जनवादियों को सीख देने के उद्देश्य से लिखा गया एक ब्यौरा था जो अस्सी के दशक में 1846-1848 के दिनों के जर्मन कम्युनिस्टों की अवस्थितियों की ओर लौट रहे थे और अपनी गतिविधियों को भूमिगत ढंग से संचालित करने के लिए बाध्य कर दिये गये थे। इस जरूरत के दबाव में एंगेल्स ने स्वयं और मार्क्स द्वारा उस समय अपनाये गये रुख को गलत ढंग से प्रस्तुत कर दिया है।*

यदि हम 1847 में ब्रुसेल्स और पेरिस में मॉल के दौरे के बारे में एंगेल्स द्वारा कही गयी बातों पर विश्वास करें तो यह चीज सामने आती है कि जैसे उस समय तक वह और मार्क्स मजदूर-आन्दोलनों और 'न्यायप्रियों का फेडरेशन' के कार्यों के महज तमाशबीन थे। कालान्तर में फेडरेशन के नेता मार्क्स और एंगेल्स के विचारों की उत्कृष्टता के मुरीद बनकर उन्हें फेडरेशन में शामिल करने और उस समूह को संगठित और ज्ञानशील बनाने का प्रस्ताव लेकर पहुंचे जहां भ्रमों और सार-संग्रहवाद का बोलबाला था।

सच्चाई यह है कि मार्क्स और एंगेल्स काफी पहले से फेडरेशन को व्यावहारिक मदद देते रहे थे, लेकिन 1846 तक उनकी मुख्य गतिविधियां बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के बीच सीमित थीं। उन दिनों मजदूर वर्ग को संगठित करने के स्वतंत्र प्रयास उन्होंने नहीं शुरू किये थे और मजदूर वर्ग से जुड़े प्रमुख बुद्धिजीवियों से परिचय हासिल करने से आगे नहीं बढ़ पाये थे।

एंगेल्स के ब्यौरे में एक अन्य बिन्दु भी त्रुटिपूर्ण है। उनके अनुसार 12 मई, 1839 के पेरिस उभार की असफलता और शैपर एवं उनके साथियों द्वारा पलायन कर लन्दन पहुंचने के बाद फेडरेशन का मुख्यालय वहां स्थानान्तरित हो गया। सच्चाई यह है कि 1840 के बाद इसके मौजूद रहने का कोई प्रमाण हम नहीं पा सके। फेडरेशन के नाम से जारी किया गया न कोई घोषणापत्र और न ही कोई रिपोर्ट हमें मिल सकी। जो चीज दावे के साथ कही जा सकती है वह यह कि इंग्लैण्ड और स्विट्जरलैण्ड में अपने निर्वासन के दौरान फेडरेशन के सदस्य कभी-कभार क्रान्तिकारी प्रचार की कार्रवाईयां संचालित करते थे।

शैपर और उनके मित्रों द्वारा स्थापित 'वर्कर्स एजुकेशनल सोसायटी' जिसे फेडरेशन की गतिविधियों के लिए एक आड़ का काम करना था, वह जल्दी ही खुद एक केन्द्र बन गया और इसने कई विदेशियों को अपनी कतारों में शामिल होने के लिए आकर्षित किया, जबकि इसके सदस्यों के बीच अंग्रेजी की तुलना में जर्मन भाषा ज्यादा

* मैंने इन निष्कर्षों को ''Sovremenny Mir'' में 1914 में मार्क्स-एंगेल्स के पत्र-व्यवहार की समीक्षा करते हुए आलेखों की एक श्रृंखला में प्रतिपादित किया है।

बोली जाती थी। अगस्त, 1844 में, प्रशा और स्विस अधिकारियों द्वारा चलाये गये कई मुकदमों और उत्पीड़नों को झेलकर और कई बार कारावासों को भुगतने के बाद वाइटलिंग लन्दन पहुंचे। उनके सम्मान में एक विशाल जलसा आयोजित किया गया था। जर्मन क्रान्तिवादियों की ओर से शैपर ने इस आयोजन को संगठित करने में सक्रिय भूमिका निभायी और ओवेनपन्थियों व चार्टिस्टों ने उनकी तहेदिल से मदद की। लन्दन में होने वाला व्यापक पैमाने पर यह पहला जमावड़ा था। इसके तुरन्त बाद एक और प्रदर्शन हुआ जिसमें भी शैपर ने अगुवा भूमिका निभायी। उसी वर्ष अक्टूबर में 'सभी राष्ट्रों के जनतांत्रिक मित्र' नामक एक अन्तरराष्ट्रीय सोसायटी की स्थापना हुई। इस संगठन के उद्देश्य थे—सभी देशों के क्रान्तिवादियों के बीच आपसी सम्पर्क कायम करना; राष्ट्रों के बीच बन्धुत्वपूर्ण रिश्तों को सुदृढ़ करना और राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकारों को हासिल करना।

1845 की गर्मियों में, मार्क्स और एंगेल्स दो बार इंग्लैण्ड गये। कुल मिलाकर वहां वे छह सप्ताह रहे, उसमें भी अधिकतर मैनचेस्टर में। वहां मार्क्स अपने राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों को व्याख्यायित करने के लिए सामग्री एकत्र कर रहे थे और एंगेल्स इंग्लैण्ड में मजदूर आन्दोलन के इतिहास पर अपनी रचना तैयार कर रहे थे। इससे भी पहले 1842 और 1844 में, मार्क्स और एंगेल्स ने कुछ जर्मन और अंग्रेज क्रान्तिवादियों से मुलाकात की थी। इसलिए, यह सम्भव है कि 1845 की गर्मियों में इन यात्राओं के दौरान वे व्हिजुलोम फेडरेशन के सदस्यों, जर्मन वर्कर्स एजूकेशनल सोसायटी के नेताओं और शैपर एवं उनके साथियों के सम्पर्क में आये हों। इसकी भी पर्याप्त सम्भावना है कि इसी दौरान उनका कुछ चार्टिस्टों, उदाहरण के लिए, हार्नी (1817-1899) से, जो चार्टिस्ट पत्रिका ''नार्दर्न स्टार'' के अग्रणी लेखक थे और अर्नेस्ट जोन्स (1819-1869) से सम्पर्क हुआ हो। उस समय इन दोनों व्यक्तियों का कम्युनिज्म के सिद्धान्तों के प्रति तगड़ा झुकाव बन चुका था। सम्भवत: इसी दौरान वे वाइटलिंग से भी मिले होंगे, क्योंकि वे उस समय लन्दन में ही रह रहे थे और वहां 'वर्कर्स क्लब' में आयोजित चर्चाओं में सक्रिय हिस्सेदारी करते थे।

1845 और 1846 के वर्षों में, बहसों ने क्रमश: आगे बढ़ते हुए उग्र रूप धारण कर लिया। बहसों की यह गर्मी जर्मन समाजवादियों और कम्युनिस्टों की विभिन्न धाराओं के प्रतिनिधियों द्वारा लिखे जाने वाले बेशुमार लेखों से बढ़ती ही गयी। एंगेल्स द्वारा मार्क्स को लिखे गये पत्रों से यह पता चलता है कि कैसे कई नगरों में कम्युनिस्ट ग्रुप अस्तित्व में आये। हालांकि, इन ग्रुपों के बीच आपस में कोई सम्पर्क नहीं था और न ही व्यापक पैमाने पर पढ़ी जाने वाली कोई पत्रिका ही थी जो इन्हें एक दूसरे से जोड़ती। इन ग्रुपों की सदस्यता ''बुर्जुआ बुद्धिजीवियों'' की लेशमात्र की मिलावट के बिना विशुद्ध मजदूर-सदस्यता थी। ये पूरे जर्मनी में—वेस्टफेलिया, राइन प्रान्त, सिलेशिया और बर्लिन में—बिखरे हुए थे। दूसरी ओर समाजवाद और कम्युनिज्म से हमदर्दी रखने वाले 'विद्वानों', 'बुद्धिजीवियों' के नियंत्रण में कई अखबार थे जिनके माध्यम से वे कम्युनिस्ट प्रचार करते रहते थे। इस मामले में वे मजदूर वर्ग के अपने बिरादरों से लाभप्रद स्थिति में थे। लेकिन ये बुद्धिजीवी समाजवाद विषयक अपने शोध-प्रबन्धों को लिखकर और विशेष रूप से ''सुसंस्कृत'' वर्गों के लिए अपीलें जारी कर संतुष्ट थे तथा राजनीतिक गतिविधियों से दूर रहा करते थे। वे न सबको समेटकर चलने वाले संगठन की जरूरत महसूस करते थे और न ही उनके बीच मौजूद मजदूर-वर्गीय कम्युनिस्टों के बिखरे हुए ग्रुपों के सम्पर्क में रहते थे।

मामले ने उस समय बिल्कुल भिन्न मोड़ ले लिया जब मार्क्स और एंगेल्स ''राजनीति'' और समाजवाद के बीच एका कायम करने में समर्थ हो गये और साथ ही जब उन्होंने इस प्रश्न का भी उत्तर दे दिया कि मजदूर वर्ग के आन्दोलन के साथ समाजवाद को कैसे जोड़ा जा सकता है। इसी के साथ दोनों के बीच अब चली आ रही दूरी भी खत्म हो गयी। उन्होंने यह दिखाया कि समाजवाद या कम्युनिज्म मजदूर आन्दोलन की उच्चतम अभिव्यक्तियां हैं, कि कम्युनिज्म पूर्ण जनतंत्र की पूर्वापेक्षा है, कि कम्युनिस्ट समाज सिर्फ और सिर्फ मजदूर वर्ग ही स्थापित कर सकता है और यह कि नयी सामाजिक व्यवस्था को जन्म देने का पूरा दारोमदार मजदूर वर्ग यानी सर्वहारा वर्ग पर है। इस प्रकार अब मजदूरों का कार्यभार विजित किये जाने वाले लक्ष्य की सुस्पष्ट चेतना के साथ राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करना और मजदूरों के हितों की नुमाइन्दगी करने वाली एक स्वतंत्र राजनीतिक पार्टी का निर्माण करना था। अब सर्वहारा वर्ग अनिवार्यत: इस लक्ष्य को हासिल करने के काम से हाथ खींच नहीं सकता था और न ही अपने में सिमटी हुई इकाइयों में सिकुड़ सकता था और न ही छोटे सम्प्रदायों में विघटित हो सकता था। इसके विपरीत, उसे अनिवार्यत: सामाजिक जीवन की हर हलचल में शिरकत करना था, हर कार्रवाई से जरूरी सबक हासिल करना था और समकालीन जीवन के सभी क्षेत्रों में हिस्सेदारी करनी थी।

यहां यह उल्लेख कर देना जरूरी है कि विभिन्न कम्युनिस्ट ग्रुपों में बिखरे बुद्धिजीवियों और मजदूरों को एकताबद्ध करने का रास्ता कोई आसान नहीं था। एक ओर 'सच्चे समाजवाद' की पुरानी मान्यताओं के खिलाफ युद्ध छेड़ना था। और दूसरी ओर, मजदूरों के पूर्वाग्रहों पर भी विजय हासिल करनी थी और साथ ही ''साहित्यिक भद्रजनों'' के प्रति उनके अविश्वास को भी दूर करना था।

एक सुगठित संघर्षशील निकाय को जन्म देने की दिशा में पहले कदम के रूप में एक सांगठनिक केन्द्र का निर्माण जरूरी था जो प्रचारात्मक गतिविधियों पर केन्द्रित हो। सरलतम तरीका यही था कि जर्मनी के कम्युनिस्ट ग्रुपों के एकीकरण द्वारा इस काम की शुरुआत की जाये। उस समय, सांगठनिक दृष्टिकोण से ये ग्रुप रूस में 1898 तक मौजूद रहे सामाजिक जनवादी ग्रुपों के बिल्कुल समान थे।

इन सभी कम्युनिस्ट ग्रुपों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन बुलाने की पहल वर्ष 1845 के अवसान और 1846 के आरम्भ के समय हुई थी।

मैं सौभाग्यशाली हूं कि मुझे उस सर्कुलर की एक प्रति मिल गयी जिसमें इस तरह का सम्मेलन बुलाने की जरूरत सुझायी गयी थी। जर्मन प्रतिनिधियों के एकत्र होने के लिए सर्वाधिक सुविधाजनक स्थान स्विट्जरलैण्ड का वर्वियर्स नामक स्थान माना गया। यहां हेस रह रहे थे और मार्क्स और वाइटलिंग दोनों, जिनकी उपस्थिति को हर व्यक्ति आवश्यक समझता था, बिना किसी असुविधा के यहां आसानी से पहुंच सकते थे।

मैं अभी तक यह बात पक्के तौर पर कहने की स्थिति में नहीं हूं कि 1846 की गर्मियों में आयोजित होने वाला सम्मेलन हुआ भी या नहीं। यह सम्भव है कि यह योजना खटाई में पड़ गयी हो क्योंकि मार्क्स और वाइटलिंग के बीच मतभेदों को दूर करने के प्रयासों का नतीजा सिफर निकला। मई, 1846 में मार्क्स और उनके दोस्तों ने क्रीग पर, जो जर्मन या ''सच्चे समाजवाद'' का सबसे प्रभावशाली प्रवक्ता था और वाइटलिंग के साथ मिलकर जर्मन ग्रुपों के बीच इसका घनीभूत प्रचार कर रहा था, अपने हमलों को नये सिरे से और ज्यादा उग्र ढंग से शुरू कर दिया था।

मार्क्स और एंगेल्स अब उन कम्युनिस्टों को साथ लेकर, जो उनके दृष्टिकोण से सहमत थे, विशेष ग्रुपों को गठित करने का मन बना चुके थे। इन दो मित्रों के इर्दगिर्द ब्रुसेल्स में एक अच्छी-खासी जमात इकट्ठा हो गयी थी। इन लोगों में विल्हेल्म वोल्फ (1809-1864), जिनकी स्मृति में बीस साल बाद मार्क्स ने **'पूंजी'** के प्रथम खण्ड को समर्पित किया, सेबेस्टियन सीलर, जोसेफ वेडेमेयर (1866 में देहान्त) और बेल्जियमवासी फिलिप जिगोट थे। आगे चलकर एक अन्य बेल्जियमवासी तेदेस्को, जिन्होंने इस ग्रुप के लिए अत्यधिक योगदान किया, के साथ ही कुछ अन्य ऐसे ही कार्यकर्ता गोलबन्द हुए। कुछ आगापीछा करने के बाद हेस ने भी मार्क्स के निष्कर्षों को स्वीकार कर लिया और इस छोटी सी मण्डली में शामिल हो गये।

ब्रुसेल्स का यह ग्रुप नये कम्युनिस्ट संगठन के लिए मुख्य नाभिक बन गया जिसे शुरुआत से ही एक अन्तरराष्ट्रीय बुनियाद पर खड़ा किया गया था। मार्क्स और एंगेल्स प्रूदों (1809-1865) को भी अपने विचारों से सहमत करना चाहते थे और साथ ही वे चार्टिस्टों को भी अपनी कतारों में शामिल करने की उम्मीद रखते थे। इस धारणा को प्रस्थान-बिन्दु बनाकर कि यूरोप क्रान्ति के नये विस्फोट की देहरी पर खड़ा है, जो हर जगह बुर्जुआ वर्ग के हाथों में सत्ता देने के साथ ही सर्वहारा के राजनीतिक संगठन के लिए रास्ता तैयार करेगा, उन्होंने प्रूदों को अपनी फौज में शामिल होने का न्यौता दिया जिससे 'कार्रवाई के क्षण'' अर्थात क्रान्ति के लिए तैयार रहा जा सके।

प्रूदों ने आमंत्रण को ठुकरा दिया। मार्क्स को लिखा उनका पत्र हालांकि गड्डमड्ड विचारों से भरा हुआ था लेकिन उससे यह साफ नजर आता है कि दोनों के विचारों में कितनी जबर्दस्त भिन्नताएं थीं। मार्क्स के प्रस्ताव पर उनके जवाब को हम साहित्य की दुनिया की एक सैर से ज्यादा नहीं मान सकते, या फिर, जैसा कि मेहरिंग का सुझाव है, हम इसपर किसी सड़कछाप पत्राचार ब्यूरो द्वारा रातभर जागकर बड़ी मशक्कत से तैयार चिट्ठी का ठप्पा लगा सकते हैं।

1845 में, अपने सहयोगी चार्टिस्टों और लन्दन में निर्वासन में रह रहे कुछ लोगों के साथ मिलकर हार्नी ने एक अन्तरराष्ट्रीय सोसायटी की स्थापना की जिसका नाम 'बन्धुत्ववादी जनवादी' (फ्रैटर्नल डेमोक्रेट्स) रखा गया। मार्क्स के प्रस्ताव के प्रति उसने भी कुछ हद तक दुराग्रहपूर्ण रुख अपनाया लेकिन इस शर्त पर नये संगठन से जुड़ने का आश्वासन दिया कि लन्दन में रह रहे जर्मन निर्वासितों, इनमें भी सर्वोपरि रूप से शैपर, को भी शामिल होने के लिए आमंत्रित किया जाये।

यह स्पष्ट करना कठिन है कि मार्क्स और एंगेल्स ने नये संगठन के लिए 'कम्युनिस्ट पत्राचार समिति' (Kommunistisches Korrespondenz-kommittee) नाम ही क्यों चुना। हो सकता है, वे फ्रांसीसी क्रान्ति की स्मृतियों से प्रेरित हुए हों क्योंकि विभिन्न नगरों के क्लबों से सम्पर्क कायम रखने के लिए जैकोबैं क्लब ने 'पत्राचार समिति' बना रखी थी। यह भी हो सकता है कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली क्रान्तिकारी सोसायटियां, जिन्हें 'पत्राचार सोसायटियां' कहा जाता था, उनके दिमाग में रही हों। जो भी वजह रही हो, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'कम्युनिस्ट पत्राचार समिति' केवल साहित्यिक और प्रकाशन ब्यूरो नहीं था।

ब्रुसेल्स में इस समिति को स्थापित हुए ज्यादा अर्सा नहीं गुजरा था कि इसी प्रकार की एक समिति लन्दन में भी स्थापित हो गयी। हार्नी और 'जर्मन वर्कर्स क्लब' के ज्यादा प्रभावी सदस्य इस समिति में शामिल हो गये। 1846 की पतझड़ में, एंगेल्स इस उम्मीद के साथ ब्रुसेल्स से पेरिस चले गये कि वे इसी का अनुसरण करते हुए कम्पोजिटर जुंग के सहयोग से, जो पहले ब्रुसेल्स रहते थे, फ्रांसीसी राजधानी में भी एक समिति बना सकेंगे। एंगेल्स को यहां कार्ल ग्रुनन द्वारा तैयार किये गये प्रूदोंपन्थी हितोपदेश के जर्मन संस्करण को स्वीकारने वालों और कैबे (1788-1856) के अनुयायियों के कड़े विरोध का सामना करना पड़ा।

1847 की गर्मियों तक नवगठित समितियों की इतनी शक्ति हो चुकी थी कि वे लन्दन में तैयारी सम्मेलन बुलाने के लिए समर्थ हो सकें। तदनुसार लोग एकत्र हुए और यहां सभी समितियों को **कम्युनिस्ट लीग** नामक एक निकाय में एकताबद्ध करने का निर्णय लिया गया। एक आरजी संविधान बनाया गया। इस पर सभी समितियों में विचार करना था और आगामी सम्मेलन में एक निश्चित स्वरूप देना था। संक्षेप में, यह कि अगले सम्मेलन को आस्थाओं के आत्मस्वीकार का सम्मेलन होना था।

एंगेल्स और मार्क्स के इस दौरान के पत्रों से साबित होता है कि समितियों के भीतर के झगड़े तैयारी सम्मेलन के बाद भी शान्त नहीं हुए थे। असन्तोष केवल पेरिस के ग्रुपों के अन्दर नहीं था जहां पुरानी प्रवृत्तियां अब भी जीवित थीं। लन्दनवासियों में भी विवाद गम्भीर रूप से मौजूद था। कम्युनिस्टों को एक ओर कैबे के गुट के साथ लोहा लेना था, जो आप्रवासन की एक योजना के समर्थन में अड़े हुए थे और दूसरी ओर हर्जेन के शिष्यों के साथ भी भिड़ना था, जो बुर्जुआ जनवाद के समर्थक थे।

इन विवादों पर कुछ रौशनी कम्युनिस्ट लीग के लन्दन के सदस्यों द्वारा निकाली गयी एक मार्क्सवादी पत्रिका के प्रायोगिक अंक का अध्ययन करने पर पड़ती है। ''Kammunistische Zeitshriff'' नामक यह पत्रिका सितम्बर 1847 में निकली थी।* पत्रिका के शीर्षक के ठीक नीचे मार्क्स का नया नारा—'दुनिया के मजदूरो, एक हो!' छपा हुआ है। यह सूत्रवाक्य **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** के प्रकाशन के छह महीने पहले जारी किया गया था और जिसे 'बन्धुत्ववादी जनवादियों' के नारे—'सभी मनुष्य आपस में भाई हैं' का स्थान लेने के लिए जारी किया गया था। लेखों में लेखकों के नाम नहीं दिये गये हैं। लीग के कार्यक्रम और नीति की रूपरेखा प्रस्तुत करने वाला लेख सम्भवत: इसके लन्दन के सदस्यों और शैपर एवं उनके मित्रों द्वारा संयुक्त रूप से लिखा गया था। इस लेख के अन्त में दुनिया के सर्वहाराओं को एक होने का आह्वान किया गया है, ''जहां कानून इजाजत देते हों वहां खुले रूप से, क्योंकि हमारी गतिविधियों को दिन के उजाले से डरने की जरूरत नहीं है और वहां गुप्त रूप से जहां आतताइयों की स्वेच्छाचारिता हमें गुप्त रूप से काम करने पर बाध्य कर देती है।''

दूसरा लेख कैबे की आप्रवासन सम्बन्धी योजना का बारीकी से विश्लेषण करता है और इसे खारिज करता है। एक तीसरा लेख, जिसके बारे में सबसे अधिक सम्भावना यही है कि इसे एंगेल्स ने लिखा है, प्रशा की राजनीतिक परिस्थिति का एक अभिलाक्षणिक चित्र खींचता है। पत्रिका एक 'राजनीतिक और सामाजिक सर्वेक्षण'' के साथ समाप्त होती है जिसके बारे में यह आसानी से कहा जा सकता है कि यह विल्हेल्म वोल्फ की शैली है।

लीग का दूसरा सम्मेलन नवम्बर-दिसम्बर 1847 में सम्पन्न हुआ। एक लम्बी बहस के बाद नये नियम स्वीकार कर लिये गये और एंगेल्स के सुझाव पर ''आस्था की घोषणा'' के बजाय एक 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। इस दस्तावेज को लिखने की जिम्मेदारी मार्क्स को दी गयी, ''आस्था की घोषणा'' सम्बन्धी एक अन्य दस्तावेज भी, जिसे एंगेल्स ने तैयार किया था, कांग्रेस में प्रस्तुत किया गया था। कहने की जरूरत नहीं, कि मार्क्स को अपने मित्र से हर सम्भव मदद मिली। जब हम घोषणापत्र की तुलना एंगेल्स के आलेख से करते हैं (जिसे बाद में बर्न्सटीन ने छापा था और जिसके अनूदित पाठ का पुनर्प्रकाशन *कम्युनिज्म के सिद्धान्त'* शीर्षक से किया गया है।) तो हमें इसका अहसास होता है कि मार्क्स की मृत्यु के बाद घोषणापत्र के नये संस्करण की भूमिका में जब एंगेल्स ने यह लिखा कि ''घोषणापत्र की मूलभूत प्रस्थापना, जो इसकी नाभिक है, मार्क्स की है,'' तो वह कितना सही कह रहे थे। निश्चित रूप से, कांग्रेस की भी यही राय थी कि घोषणापत्र के उत्तरदायी लेखक मार्क्स ही हैं। यह बात लन्दन में स्थित केन्द्रीय समिति द्वारा ब्रुसेल्स की क्षेत्रीय समिति को 26 जनवरी 1848 को लिखे पत्र से भी स्पष्ट होती है। केन्द्रीय समिति ने इसी दिन प्रस्ताव पारित किया था और क्षेत्रीय समिति को सम्प्रेषित कर दिया था। इसमें यह भी उल्लेख था कि मार्क्स, अपनी आदत के अनुसार, अपनी रचना को विस्तार देने के काम में अत्यधिक समय लगा रहे हैं,

---

* कुछ समय पहले विएना विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा. ग्रुनबर्ग ने इसका पुनर्मुद्रण किया था। इस पत्रिका की एक प्रति, जो फ्रेडरिक लेजनर के पास थी, जो कम्युनिस्ट लीग के एक सदस्य और मार्क्स एवं एंगेल्स के अभिन्न मित्र थे, 1912 में मेरे हाथ लग गयी। यह दस्तावेज अब मास्को स्थित मार्क्स-एंगेल्स इन्स्टीट्यूट में रखा हुआ है। (र्याजानोफ द्वारा सम्पादित 'घोषणापत्र' के संस्करण) इस पुस्तक के परिशिष्टों में इसका अनूदित पाठ छपा है।

जिससे इसके प्रकाशन में विलम्ब हो रहा है।

''केन्द्रीय समिति ब्रुसेल्स स्थित अपनी क्षेत्रीय समिति को यह जिम्मेदारी सौंपती है कि वह सिटिजन मार्क्स से संवाद स्थापित करे और उन्हें यह बताये कि यदि कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, जिसे लिखने की जिम्मेदारी उन्होंने हाल में ही सम्पन्न कांग्रेस में ली है, इस वर्ष की पहली फरवरी तक लन्दन नहीं पहुंच जाता तो उनके खिलाफ आगे की कार्रवाई की जायेगी। यदि सिटिजन मार्क्स इस तिथि तक अपना काम पूरा नहीं कर पाते तो केन्द्रीय समिति यह अनुरोध करती है कि सिटिजन मार्क्स के पास मौजूद दस्तावेजों को तत्काल वापस ले लिया जाये।''

''केन्द्रीय समिति की ओर से और उसके आदेशानुसार

''शैपर, बावेर, मॉल'' *

पत्र के इस नाराजगी भरे तेवर के पर्याप्त कारण थे। क्रान्तिकारी तूफान की सुदूर गड़गड़ाहटें पहले ही सुनी जा चुकी थीं। जनवरी की शुरुआत में उत्तरी इटली में हालात सिर पर आ धमके थे। बारह जनवरी को सिसिली और पालेरमो में खुला विद्रोह शुरू हो चुका था और एक अस्थायी सरकार कायम हो चुकी थी। फ्रांस में किसी भी दिन क्रान्ति की शुरुआत हो सकती थी। दरअसल, पेरिस में जब फरवरी की आम बगावत शुरू हुई तो घोषणापत्र का प्रकाशन अपने अन्तिम चरण में था। घोषणापत्र की पहली प्रतियां जर्मनी में वहां की मार्च क्रान्ति के कुछ सप्ताह बाद ही पहुंच सकीं। वहां लीग की नवगठित समिति द्वारा ''कम्युनिस्ट पार्टी की मांगें'' शीर्षक से घोषणापत्र का एक नया संस्करण भी छापा गया। जब क्रान्ति शुरू हुई तो लन्दन ग्रुप ने (जिसे नियमानुसार केन्द्रीय समिति के रूप में काम करना था) अपनी शक्तियां ब्रुसेल्स ग्रुप को हस्तान्तरित कर दीं। लेकिन ग्रुप के नेतृत्वकारी सदस्यों को ब्रुसेल्स से ही निष्कासित कर दिया गया और उन्हें पेरिस में जाकर शरण लेनी पड़ी। इनमें मार्क्स भी थे। पेरिस में इन लोगों को शरणार्थी जर्मन जनवादियों से टकराना पड़ा जो जर्मनी पर सशस्त्र हमले की तैयारी कर रहे थे। अन्ततः ब्रुसेल्स ग्रुप के सदस्यों को किसी प्रकार अलग-अलग टिकने के ठिकाने मिल गये। वर्ष 1848 की उथल-पुथल के दौरान कम्युनिस्ट लीग ने लगभग नगण्य भूमिका निभाई क्योंकि यह अभी तक संगठन की शुरुआती मंजिल में ही था। फ्रांस में इसका सबसे कम उसर महसूस किया गया, क्योंकि इससे हमदर्दी रखने वाले लोग ब्लांकीवादियों की कतारों में शामिल हो गये थे और वहां मई 1848 में सभी क्रान्तिकारियों को एक साथ पराजय का सामना करना पड़ा। इंग्लैण्ड में, जहां हार्नी और जोन्स चार्टिस्टों के बीच प्रचार कार्य चला रहे थे, लन्दन के जनवादियों की 10 अप्रैल को हुई पराजय और इसके बाद जून में पेरिस के सर्वहारा वर्ग की पराजय ने बुर्जुआ वर्ग की सभी शक्तियों को क्रान्ति के विरुद्ध एकजुट कर दिया जिससे उन्होंने चार्टिस्टों के उद्देश्यों से सहानुभूति रखने वाले लगभग सभी निम्न बुर्जुआओं को उनसे अलग कर दिया। जर्मनी में लीग के सदस्यों ने व्यक्तिगत हैसियत से कुछ हद तक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी लेकिन वे किसी भी रूप में लीग के प्रतिनिधि के रूप में वहां काम नहीं कर रहे थे।

जर्मन और आस्ट्रियाई क्रान्तियों की क्रमशः मई और जून 1849 में हुई पराजय के बाद लीग के कई पुराने सदस्य स्विट्जरलैण्ड और फ्रांस में शरण लेने पर बाध्य हुए। इसके बाद, पेरिस में लेद्रू-रॉलिन की पार्टी की पराजय के बाद वे इंग्लैण्ड चले गये। लन्दन में संगठन को पुनर्जीवित करने का एक प्रयास हुआ लेकिन रणकौशल के सवाल पर तीखे मतभेदों के कारण यह निष्फल साबित हुआ। इनमें, शैपर और विलिच (1810-1878) जैसे पुराने लोग थे जो बिना कोई विलम्ब किये, किसी भी जगह और सभी जगह क्रान्ति का स्वप्न देख रहे थे। मार्क्स और एंगेल्स ने, लन्दन में, सभी क्रान्तिवादियों के नेता के तौर पर जर्मनों से सम्पर्क करने का हरसम्भव प्रयास किया परन्तु वे सफल नहीं हो सके।

कम्युनिस्ट लीग के एक दूत, नाथजुंग (1821-1880) 19 मई, 1851 को गिरफ्तार कर लिये गये। इस घटना के तत्काल बाद कोलोन स्थित केन्द्रीय समिति पर छापा मारा गया। इस मामले में जिन कम्युनिस्टों को गिरफ्तार किया गया था (इनमें फ्रेडरिक लेजनर भी थे) उन्हें मुकदमे के इन्तजार में अठारह महीने तक जेल में रहना पड़ा। मुकदमा 4 अक्टूबर से 12 नवम्बर 1852 तक चला। अभियुक्तों को तीन साल से लेकर छह साल तक के कारावास की सजा मिली। इस निर्णय के बाद लीग ने स्वयं को भंग करने का फैसला किया।

मजदूर आन्दोलन को पुनः मजबूत होने और पुनः एक अन्तरराष्ट्रीय संगठन बनाने लायक सक्षम होने में बारह वर्ष लगे। इस बार पहलकदमी फ्रांसीसी एवं अंग्रेज मजदूरों ने ली, लेकिन 'अन्तरराष्ट्रीय मजदूर संघ' (इण्टरनेशनल वर्किंगमेन्स एसोसिएशन) के संविधान और नियमों को सूत्रबद्ध करने की जिम्मेदारी फिर मार्क्स पर आ गयी। यह नया अन्तरराष्ट्रीय संगठन, जिसे आमतौर पर प्रथम इण्टरनेशनल कहा जाता है, लन्दन में 28 सितम्बर, 1864 को स्थापित हुआ था और इसके सदस्य आने वाले दशक में उभरे समूचे यूरोपीय और अमेरिकी मजदूर आन्दोलन की प्रेरक शक्ति बने।

प्रथम इण्टरनेशनल की जेनेवा (1866), लुसाने (1867), ब्रुसेल्स (1868) और बेसल (1869) में सम्पन्न कांग्रेसों में मजदूर वर्ग के बुनियादी कार्यक्रम के प्रश्न पर फ्रांसीसी प्रूदोंपंथियों, ब्रिटिश ट्रेड यूनियनवादियों और जर्मन मार्क्सवादियों के बीच भीषण संघर्ष चला।

बलपूर्वक परिवर्तन में विश्वास रखने वाले अराजकतावादियों बाकूनिन और उसके अनुयायियों तथा मार्क्सवादियों के बीच संघर्ष 1868 में शुरू हुआ और 1871 में पेरिस कम्यून की पराजय (1871) के बाद हेग कांग्रेस (1872) में अपने चरम पर पहुंच गया। हेग कांग्रेस के बाद इण्टरनेशनल की आम परिषद न्यूयार्क चली गयी और अगले चार वर्षों तक इसने अपनी पूरी क्षमतानुसार कार्य किया। इसके बाद औपचारिक रूप से इण्टरनेशनल का अस्तित्व समाप्त हो गया।

बारह वर्षों बाद मजदूर आन्दोलन एक बार फिर जोर पकड़ रहा था और **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर अमल करते हुए, फिर से यह महसूस किया जाने लगा कि आन्दोलन को एक बार फिर से अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर संगठित करने का समय आ गया है। इसलिए, जुलाई 1889 में, पेरिस में दूसरे इण्टरनेशनल की स्थापना की गयी। इस संगठन ने पच्चीस वर्षों तक अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग को संगठित करने में बहुत बड़ी भूमिका निभायी लेकिन अगस्त, 1914 में विश्वयुद्ध शुरू होने पर इसने बुर्जुआ वर्ग के सामने शर्मनाक ढंग से घुटने टेक दिये।

अनुवाद : **अरविंद सिंह**

* यह पत्र मैंने खोजा था और प्रकाशन के लिए कामरेड मेहरिंग को सौंप दिया था।

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र

• कार्ल मार्क्स-फ्रेडरिक एंगेल्स

मार्क्स व एंगेल्स द्वारा लिखी सभी अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिकाओं सहित अविकल प्रकाशित

मूल्य : 10 रुपए मात्र

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें :
राहुल फाउण्डेशन, 3/274 विश्वास खण्ड
गोमतीनगर, लखनऊ-226001

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज

पूंजीवादी पथगामी पार्टी के भीतर बैठा बुर्जुआ वर्ग है

• फांग कांग

तेङ सियाओ-पिङ (देङ श्याओपिङ) की आलोचना करने और सही फैसलों को उलटने वाली दक्षिणपंथी भटकाववादी हवा को पलटने के महान संघर्ष में अध्यक्ष माओ ने इंगित किया है: ''समाजवादी क्रान्ति होने के साथ ही वे (पूंजीवादी पथगामी –सं.) खुद निशाने पर आ जाते हैं। कृषि के समाजवादी रूपांतरण के समय इसका विरोध करने वाले लोग पार्टी में मौजूद थे, और जब बुर्जुआ अधिकारों की आलोचना करने की बात आती है तो उन्हें बुरा लगता है। आप समाजवादी क्रान्ति कर रहे हैं पर आपको पता नहीं है कि बुर्जुआ वर्ग कहां है। यह, ठीक कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर है, सत्ता में बैठे वे लोग हैं जो पूंजीवादी रास्ता अपना रहे हैं। पूंजीवादी पथगामी अब भी पूंजीवादी रास्ते पर हैं।'' इस वैज्ञानिक थीसिस ने पार्टी में पूंजीवादी पथगामियों के बुर्जुआ सारतत्व को चीरकर सामने ला दिया है, समाजवाद की पूरी ऐतिहासिक अवधि में क्रान्तिकारी संघर्ष के मुख्य निशाने को और साफ किया है, और वर्ग संघर्ष तथा सर्वहारा अधिनायकत्व पर मार्क्सवादी- लेनिनवादी सिद्धान्त की हिफाजत की है तथा उसे और विकसित किया है। सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत क्रान्ति को जारी रखने और संशोधनवाद से लड़ने और उसे पैदा होने से रोकने के लिए यह हमारे हाथों में एक शक्तिशाली हथियार है।

समाजवाद की ऐतिहासिक अवधि में वर्ग संघर्ष की एक महत्वपूर्ण विशेषता

पूंजीवादी पथगामियों—पार्टी के भीतर बुर्जुआ वर्ग—का आविर्भाव समाजवाद की अवधि में वर्ग संघर्ष की एक महत्वपूर्ण विशेषता है और सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत वर्ग सम्बन्धों में बदलाव से इसका नजदीकी रिश्ता है। जनवादी क्रान्ति के दौर में हमारे समाज का प्रधान अंतरविरोध एक ओर सर्वहारा वर्ग एवं जनसमुदाय तथा दूसरी ओर साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और नौकरशाह-पूंजीवाद के बीच का था। उस समय भी पार्टी के भीतर अवसरवादी, संशोधनवादी और विभिन्न अवसरवादी लाइनों के सरदार मौजूद थे। वे पार्टी के भीतर बुर्जुआ तथा अन्य शोषक वर्गों के एजेंट थे। लेकिन समग्रता में वे मुख्यत: बुर्जुआ वर्ग के पुछल्ले थे। चूंकि उस समय शासक की कमान सामन्ती भूस्वामी और दलाल पूंजीपति वर्गों के हाथों में थी, इसलिए बुर्जुआ वर्ग का केंद्रक और मुख्य शक्ति, उसका हेडक्वार्टर और उसके मुख्य राजनीतिक प्रतिनिधि पार्टी के बाहर थे, भीतर नहीं।

नई जनवादी क्रान्ति की विजय के बाद साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और दलाल-पूंजीवाद का शासन उखाड़ फेंका गया और राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने में सर्वहारा वर्ग ने पूरे देश की जनता का नेतृत्व किया। तब से चीन समाजवादी क्रान्ति की ऐतिहासिक अवधि में प्रवेश कर चुका है और सर्वहारा तथा बुर्जुआ के बीच का अन्तरविरोध हमारे समाज का प्रधान अन्तरविरोध बन गया है। चूंकि हमारी पार्टी शासक पार्टी बन गई है, इसलिए अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन तथा बुर्जुआ और संशोधनवादी लाइन के बीच संघर्ष न केवल हमारी पार्टी की प्रकृति को, बल्कि पूरे देश के चरित्र और सम्भावनाओं को निर्धारित करते हैं। तब से लेकर, पार्टी के बाहर और भीतर—दोनों तरह के बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध हमारा संघर्ष क्रमश: सभी दायरों में सभी क्षेत्रों में गहराई के साथ विकसित हुआ है, जिसके केन्द्र में यह प्रश्न रहा है कि समाजवादी क्रान्ति को आगे बढ़ाया जाये या नहीं। *सान फान* और *वू फान* आन्दोलन*, उत्पादन के साधनों का समाजवादी रूपांतरण और दक्षिणपंथ विरोधी संघर्ष,** ये सभी नये चीन की स्थापना के बाद सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच बड़े संघर्ष थे। इन संघर्षों में पार्टी के बाहर के बुर्जुआ वर्ग के पास अभी इतनी ताकत बची हुई थी कि वह सर्वहारा के साथ जोर आजमाइश कर सके और वह अपने पैरोकारों को सामने लाने में भी समर्थ था। लेकिन उस समय भी एक जटिल स्थिति विकसित हो गई थी जिसमें पार्टी के भीतर और बाहर का बुर्जुआ वर्ग एक-दूसरे से मिलकर काम करता था। पार्टी पर अपने बेलगाम हमलों में पार्टी के बाहर के बुर्जुआ तथा अन्य शोषक वर्गों को पार्टी के भीतर बैठे बुर्जुआ वर्ग से समर्थन और मदद मिलती थी। पार्टी में दो लाइनों के संघर्ष के जरिए, हमने पार्टी के भीतर के बुर्जुआ वर्ग की समाजवादी क्रान्ति विरोधी गतिविधियों को उजागर किया, इसकी संशोधनवादी लाइन की आलोचना की और इस प्रकार समाजवादी रूपांतरण में विभिन्न प्रमुख अभियानों की सफलता सुनिश्चित की।

समाजवादी क्रान्ति के लगातार गहरे होते जाने के साथ पार्टी के बाहर का बुर्जुआ वर्ग, जो शासित होने की स्थिति में है, आर्थिक तौर पर उत्पादन के अपने साधन खो चुका है और राजनीतिक एवं विचारधारात्मक मंचों पर उसे एक के बाद एक मात का सामना करना पड़ा है। परिणामस्वरूप उसकी शक्ति लगातार कम होती गई है। पार्टी पर बुर्जुआ दक्षिणपंथियों के हमले के दौरान तथाकथित ''चाङ-लो गठजोड़''*** उनका नेतृत्व कर रहा था, लेकिन दक्षिणपंथी

* ये दो आंदोलन दिसम्बर 1951 और जून 1952 के बीच चलाये गये थे। पहला आंदोलन ''तीन बुराइयों'' यानी भ्रष्टाचार, बर्बादी और कम्युनिस्ट पार्टी तथा सरकार के अंगों में नौकरशाही के विरुद्ध था जबकि दूसरा ''पांच बुराई'' विरोधी आंदोलन था जो भ्रष्टाचार तथा राष्ट्रीय पूंजीपतियों द्वारा षड्यंत्र के विरुद्ध केंद्रित था।

** 1957 में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने पार्टी के बाहर के ''बुर्जुआ दक्षिणपंथियों'' के विरुद्ध संघर्ष छेड़ा जो उस समय पार्टी के शुद्धिकरण आंदोलन का लाभ उठाकर समाजवादी व्यवस्था पर बड़े हमले कर रहे थे।

*** चाङ पो-चुन तथा लो लुङ-चिन चीनी सरकार में गैर पार्टी मंत्री थे जो पार्टी के बाहर की बुर्जुआ दक्षिणपंथी शक्तियों से जुड़े हुए थे। इन दोनों ने कम्युनिस्ट पार्टी को उखाड़ फेंकने और सर्वहारा शासन का तख्तापलट करने का षड्यंत्र किया था।

विरोधी संघर्ष के बाद पार्टी के बाहर के बुर्जुआ वर्ग के लिए सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध चौतरफा संघर्ष छेड़ने, सर्वहारा अधिनायकत्व के खिलाफ षड्यंत्र करने और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने के वास्ते खुलेआम समर्थन जुटाना बहुत मुश्किल हो गया है।

समाजवाद की पूरी ऐतिहासिक अवधि में प्रधान अन्तरविरोध सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच रहता है। वर्ग शक्ति सन्तुलन बदल जाने के साथ सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच संघर्ष पार्टी में लगातार गहरे और तीखे होते ढंग से अभिव्यक्त होता है। अत: पार्टी में पूंजीवादी पथगामी बुर्जुआ वर्ग के मुख्य नेतृत्व के रूप में उभरते हैं और सर्वहारा अधिनायकत्व को उलट देने तथा पूंजीवादी पुनर्स्थापना का मुख्य खतरा इन्हीं से होता है। समाजवादी क्रान्ति चलाने के दौरान हमें सिर्फ यही नहीं देखना चाहिए कि पुराना बुर्जुआ वर्ग और उसके बुद्धिजीवी अब भी समाज में मौजूद हैं और बड़ी संख्या में निम्न पूंजीपति वर्ग के लोग अब भी अपनी विचारधारा को बदलने की प्रक्रिया में ही हैं, बल्कि हमें खासतौर पर पार्टी के भीतर छिपे बुर्जुआ वर्ग, यानी सत्ता में बैठे पार्टी के वे लोग जो पूंजीवादी रास्ते पर चल पड़े हैं, से सावधान रहना चाहिए। पार्टी के भीतर बैठे ल्यू शाओ–ची, लिन पियाओ ओर देङ सियाओ पिङ जैसे पूंजीवादी पथगामियों के खिलाफ दृढ़तापूर्वक संघर्ष चलाने और अपनी क्रान्ति की धार को पार्टी के भीतर के बुर्जुआ वर्ग पर केन्द्रित करके ही बुर्जुआ वर्ग और समाज में फैली तमाम पूंजीवादी शक्तियों के विरुद्ध विजय सुनिश्चित की जा सकती है। केवल तभी यह कहा जा सकता है कि समाजवादी क्रान्ति के मुख्य लक्ष्य को ठीक से समझ लिया गया है। जो कोई भी यह समझने में असफल रहता है कि बुर्जुआ वर्ग ऐन पार्टी के भीतर है, वह एक संतुलित दिमाग वाला सर्वहारा क्रान्तिकारी नहीं हो सकता।

पेरिस कम्यून के ऐतिहासिक अनुभव का समाहार करते हुए एंगेल्स ने इंगित किया था कि सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना के बाद यह ध्यान रखना जरूरी है कि, ''राज्य और राज्य के अंग समाज के सेवकों से समाज के स्वामियों में न रूपांतरित हो जायें'' ''ताकि उनके अपने विशेष हित पूरे होते रहें।'' (कार्ल मार्क्स कृत *फ्रांस में गृहयुद्ध* की एंगेल्स द्वारा लिखी भूमिका)।

अक्टूबर क्रान्ति की विजय के बाद लेनिन ने सोवियत संघ की वास्तविक स्थितियों का विश्लेषण किया और स्पष्ट रूप से बताया कि देश में एक नया बुर्जुआ वर्ग मौजूद है और वह सोवियत सरकार के कर्मचारियों तथा छोटे उत्पादकों के बीच से उभर रहा है। सोवियत संघ के संशोधनवादी हो जाने से मिले ऐतिहासिक सबक और चीन में सर्वहारा अधिनायकत्व लागू करने में मिले अनुभवों की रोशनी में माओ ने यह महत्वपूर्ण थीसिस प्रस्तुत की कि बुर्जुआ वर्ग ''ठीक कम्युनिस्ट पार्टी के ठीक भीतर छुपा हुआ है, यानी सत्ता में शामिल वे लोग जो पूंजीवादी रास्ता अपना रहे हैं।'' यह मार्क्सवाद–लेनिनवाद का एक महत्वपूर्ण विकास है। चीन लोक गणराज्य की स्थापना के बाद से पिछले 20 वर्षों में अध्यक्ष माओ ने पार्टी के भीतर के बुर्जुआ वर्ग का न केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विश्लेषण किया है बल्कि व्यवहार में इसके विरुद्ध बार–बार संघर्षों में हमारा नेतृत्व किया है। संशोधनवादी लाइन के सरदार काओ काङ, पेङ ते–हुआई, ल्यू शाओ–ची, लिन पियाओ और तेङ सियाओ–पिङ, ये सभी पार्टी के भीतर बुर्जुआ वर्ग के कमांडर थे और समाजवादी दौर में चले अनेक दो लाइनों के संघर्ष सर्वहारा वर्ग द्वारा पार्टी के भीतर बैठे उस बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध छेड़े संघर्ष थे जिसके ये सरगना थे। इन्हीं संघर्षों के दौरान सर्वहारा अधिनायकत्व की हमारी समाजवादी व्यवस्था निरंतर सुदृढ़ और विकसित हुई है।

पूंजीवादी पथगामियों की वर्गीय प्रकृति

अपनी कृति *चीनी समाज में वर्गों का विश्लेषण* में अध्यक्ष माओ चिन्हित करते हैं : ''असली दोस्तों और असली दुश्मनों में फर्क करने के लिए हमें चीनी समाज में विभिन्न वर्गों की आर्थिक स्थिति का और क्रान्ति के प्रति उनके अलग–अलग रुख का विश्लेषण करना चाहिए।'' इसलिए, यह बहुत जरूरी है कि हम मार्क्सवादी वैज्ञानिक पद्धति लागू करके पूंजीवादी पथगामियों की बुर्जुआ प्रकृति को, राजनीतिक और आर्थिक, दोनों की दृष्टि से उजागर करें ताकि हम यह स्पष्ट रूप से देख सकें कि बुर्जुआ वर्ग ठीक कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर मौजूद है।

पार्टी में पूंजीवादी पथगामियों की सबसे मूलभूत राजनीतिक अभिलाक्षकिणता यह है कि वे संशोधनवादी लाइन को आगे बढ़ाते हैं और पूंजीवादी रास्ते से चिपके रहते हैं। उनका विश्लेषण करते समय, हमें सर्वप्रथम और सर्वोपरि तौर पर इस अभिलाक्षणिकता को पकड़ना चाहिए और राजनीतिक लाइन के दृष्टिकोण से उनके सारतत्व की स्पष्ट समझदारी हासिल करनी चाहिए। संशोधनवादी लाइन को आगे धकेलने के साझा प्रयास के आधार पर ही पूंजीवादी पथगामी पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने की नाकाम कोशिश में पार्टी में एक राजनीतिक धड़ा बनाते हैं। अतीत में कई अवसरों पर उभरी संशोधनवादी लाइन के सभी सरदार इसी लाइन के आम प्रतिनिधि थे। ल्यू शाओ–ची, लिन पियाओ और तेङ सियाओ–पिङ जैसे इन सरदारों के हाथ में पार्टी और राज्यसत्ता का बहुत बड़ा हिस्सा था, इसलिए वे भगोड़ों और गद्दारों को भर्ती करने, अपने स्वार्थ के लिए गुट बनाने और बुर्जुआ हेडक्वार्टर गठित करने, सर्वहारा अधिनायकत्व के उपकरणों को बुर्जुआ अधिनायकत्व के उपकरणों में तब्दील करने और कुछ समय के लिए बहुत से ऐसे लोगों को झांसा देने में सक्षम थे जिनकी वास्तविक स्थिति की समझदारी और चेतना का स्तर कम था। ऐसे लोग फुसलाकर संशोधनवादी लाइन के पीछे खड़े किये गये।

पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के अपने प्रयासों में वे पार्टी के बाहर के बुर्जुआ वर्ग से ज्यादा निर्मम और खतरनाक थे। पार्टी में पूंजीवादी पथगामियों द्वारा धकेली जा रही संशोधनवादी लाइन पुराने और नये बुर्जुआ वर्ग और सभी शोषक वर्गों के हितों का बड़े सान्द्र रूप में प्रतिनिधित्व करती है और यह पूंजीवादी पथगामियों की बुर्जुआ प्रकृति को साफ कर देता है।

समाजवाद का दौर ''मरणासन्न पूंजीवाद और उदीयमान कम्युनिज्म के बीच संघर्ष का दौर'' होता है। (लेनिन : *सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति*) पार्टी के भीतर के बुर्जुआ वर्ग के रूप में पूंजीवादी पथगामी निस्संदेह कुल मिलाकर पराभव की ओर अग्रसर बुर्जुआ वर्ग के ही हिस्से हैं। चूंकि बुर्जुआ वर्ग एक मरणासन्न और पतनशील वर्ग है, इसलिए उसकी प्रतिक्रियावादी प्रकृति और भी ज्यादा स्पष्ट है। ''संशोधनवाद के सत्ता में आने का अर्थ है बुर्जुआ वर्ग का सत्ता में आना।'' (माओ, वाङ हुङ–वेन की ''पार्टी संविधान में संशोधन पर रिपोर्ट'' में उद्धृत, 10वीं पार्टी कांग्रेस, 1973; रेमण्ड लोट्टा, सं. *ऐण्ड माओ मेक्स फाइव* में संकलित, पृ. 96) संशोधनवाद लागू करने की सनक में लिन पियाओ *प्रोजेक्ट ''571'' की रूपरेखा* तैयार करने और क्रान्ति–विरोधी हथियारबन्द तख्तापलट की कोशिश करने की हद तक चला गया जबकि चुपचाप सतत रूप से संशोधनवाद लागू करने वाले तेङ सियाओ–पिङ ने (चाउ एन–लाई की मृत्यु के बाद –सं.) तिएन आन मेन चौक पर क्रान्तिविरोधी राजनीतिक दंगे जैसी घटना को अंजाम दिया। वर्ग संघर्ष के इन उद्वेलनकारी तथ्यों ने पार्टी के भीतर बैठे बुर्जुआ वर्ग के प्रतिक्रियावादी चरित्र को बेहद तीखे और स्पष्ट रूप से नंगा कर दिया है।

आर्थिक रूप से, पूंजीवादी पथगामियों के पार्टी के भीतर का बुर्जुआ वर्ग होने का कारण यह है कि वे पतनशील पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करते हैं। समाजवादी दौर में, सर्वहारा अधिरचना और उत्पादन सम्बन्धों

के उन हिस्सों को लगातार रूपान्तरित करते रहना चाहता है जो समाजवादी आर्थिक आधार और उत्पादक शक्तियों के तथा समाजवादी क्रान्ति को अन्त तक जारी रखने के अनुकूल नहीं हैं। लेकिन पार्टी में पूंजीवादी पथगामी अधिरचना और उत्पादन सम्बन्धों के उन हिस्सों को बचाये रखने की हर सम्भव कोशिश करते हैं जो समाजवादी आर्थिक आधार और उत्पादक शक्तियों के विकास को बाधित करते हैं। उनकी असफल कोशिश होती है पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करना।

यदि हम *महान शुरुआत* में प्रतिपादित वर्गों के अर्थ के बारे में लेनिन की शिक्षाओं और उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के रूपान्तरण के बुनियादी रूप से पूरा हो चुकने के बाद समाजवादी समाज में वर्गों और वर्ग संघर्ष के सम्बन्ध में *जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में* अध्यक्ष माओ के विश्लेषण के आधार पर पार्टी के पूंजीवादी पथगामियों की उत्पादन सम्बन्धों में स्थिति का परीक्षण करें तो हमें उनकी बुर्जुआ प्रकृति की काफी स्पष्ट समझदारी मिल सकती है। हम वास्तविक जीवन में देख सकते हैं कि जैसे ही किन्हीं इकाइयों या विभागों में नेतृत्व ल्यू शाओ–ची, लिन पियाओ और तेङ सियाओ–पिङ जैसे पूंजीवादी पथगामियों के नियंत्रण में आ गया, उन्होंने अपने अधिकार का इस्तेमाल संशोधनवादी लाइन को आगे बढ़ाने और लोगों के बीच समाजवादी आपसी सम्बन्धों को नियोक्ता और कर्मचारियों के बीच के पूंजीवादी सम्बन्धों में तब्दील करने में किया। उन्होंने वितरण के सम्बन्ध में बुर्जुआ अधिकार का विस्तार करने और दूसरों के श्रम के फलों को बिना मुआवजा दिये हड़प लेने के लिए वैध और अनेक अवैध हथकण्डों का इस्तेमाल किया। राजकीय या सामूहिक स्वामित्व वाले उत्पादन या उपभोग के साधनों को बेच डालने के लिए भी उन्होंने अपनी हैसियत और अधिकार का इस्तेमाल किया जिसका नतीजा यह हुआ कि समाजवादी स्वामित्व केवल नाम का रह गया और वास्तव में यह पूंजीवादी पथगामियों के नियंत्रण में पूंजीवादी स्वामित्व में बदल गया। अन्तिम विश्लेषण में, ल्यू शाओ–ची, लिन प्याओ और तेङ सियाओ–पिङ द्वारा आगे बढ़ाई जा रही संशोधनवादी लाइन का उद्देश्य सड़े हुए और पतनशील पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को बचाना, ''सर्वहारा के शोषण–उत्पीड़न की बुर्जुआ विचारधारा और पूंजीवादी व्यवस्था से चिपके रहना'' और पूरे बुर्जुआ वर्ग के आर्थिक हितों की सेवा करना है ताकि हमारे देश को फिर से पुराने अर्द्धसामन्ती–अर्द्धऔपनिवेशिक चीन के अंधेरे दौर में पीछे घसीटा जा सके।*

पूंजीवादी पथगामियों के पैदा होने की वर्गीय और ऐतिहासिक जड़ें

समाजवादी समाज में पूंजीवादी पथगामियों—पार्टी के भीतर का बुर्जुआ वर्ग—का पैदा होना कोई आकस्मिक घटना नहीं है बल्कि इसकी गहरी वर्गीय और ऐतिहासिक जड़ें है। सही फैसलों को उलटने के दक्षिणपंथी भटकाववादी प्रयास को विफल करने के संघर्ष में अध्यक्ष माओ ने बताया है : ''जनवादी क्रान्ति के बाद मजदूर तथा गरीब और निम्न मध्यम किसान खड़े नहीं रहते, वे क्रान्ति चाहते हैं। दूसरी ओर अनेक पार्टी सदस्य आगे नहीं बढ़ना चाहते, कुछ तो पीछे हट चुके हैं और क्रान्ति का विरोध करते हैं। क्यों? क्योंकि वे उच्चाधिकारी बन चुके हैं और उच्चाधिकारियों के हितों की रक्षा करना चाहते हैं।'' माओ की इस शिक्षा से पार्टी में पूंजीवादी पथगामी तिलमिला उठे हैं। जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति की राह पर आना एक बुनियादी बदलाव है और इस दौरान क्रान्तिकारी कतारों के बीच विभाजन होना लाजिमी है। मजदूर तथा गरीब और निम्न मध्यम किसान क्रान्ति चाहते हैं। अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी लाइन उनकी मांगों को प्रतिबिम्बित करती है और देशभर में जनता को समाजवादी क्रान्ति जारी रखने के लिए मार्गदर्शन देती है लेकिन पार्टी में कुछ ऐसे लोग, जो बुर्जुआ जनवादी विचारों से चिपके हैं और बदलने के लिए तैयार नहीं हैं, आगे नहीं जाना चाहते हैं।

इन लोगों की नजरों में चीनी जनता की पीठ पर सवार तीन पहाड़ों—साम्राज्यवाद, सामन्तवाद तथा नौकरशाह–पूंजीवाद को उखाड़ फेंका गया है और उन्होंने खुद भी अपार राजनीतिक और भौतिक लाभ पा लिये हैं, इसलिए क्रान्ति पूरी हो चुकी है। इनमें से कुछ, जिनकी क्रान्तिकारी भावना ढीली पड़ गई थी, समय के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सके। कुछ अन्य प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ रुख से चिपक गये और अपने खुद के हितों, जो सारत: बुर्जुआ वर्ग के ही हित हैं, को बचाने के लिए खुले तौर पर सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व का विरोध करने लगे। इतिहास के पहिए को उल्टा घुमाने और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का असफल प्रयास करने वाले ये लोग ही सत्ता में बैठे पार्टी के वे पदाधिकारी हैं जो पूंजीवादी रास्ता अपना रहे हैं। पुराना बेशर्म पूंजीवादी पथगामी तेङ सियाओ–पिङ ऐसा ही व्यक्ति है जो बुर्जुआ जनवादी से पूंजीवादी पथगामी में तब्दील हो गया।

पूंजीवादी पथगामियों द्वारा समाजवादी क्रान्ति का विरोध करने का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि वे बुर्जुआ अधिकारों पर अंकुश लगाने के खिलाफ होते हैं। अध्यक्ष माओ ने इंगित किया है: ''लेनिन ने (क्रान्ति के बाद भी –सं.) पूंजीपतियों से रहित एक बुर्जुआ राज्य की बात की है जिसमें बुर्जुआ अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं। हमने खुद ऐसा ही राज्य निर्मित किया है, जो पुराने समाज से ज्यादा भिन्न नहीं है। यहां अब भी रैंक और ग्रेड, वेतन के आठ ग्रेड, काम के अनुसार वितरण तथा समान मूल्यों का विनिमय मौजूद है।'' समाजवाद के दौर में बुर्जुआ अधिकार अपरिहार्य है और पुराने समाज से बचे रह गये इस जन्मचिन्ह को रातोरात नहीं मिटाया जा सकता। लेकिन सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत इस पर अंकुश रहना चाहिए वरना यह पूंजीवाद की पुनर्स्थापना तक ले जायेगा। बुर्जुआ अधिकार नये बुर्जुआ तत्वों के पैदा होने का एक महत्वपूर्ण आर्थिक आधार है। पार्टी में कुछ ऐसे लोग जिनका विश्व दृष्टिकोण पूरी तरह बदला नहीं है और जो बुर्जुआ अधिकारों को मजबूत करने तथा फैलाने की पुरजोर कोशिश करते हैं, उनका कदम–बा–कदम पूंजीवादी पथगामियों या बुर्जुआ वर्ग के सदस्यों में तब्दील हो जाना लाजिमी है। बुर्जुआ अधिकार को फैलाना, सारत: पूरे बुर्जुआ वर्ग के हितों की हिफाजत करना और पूंजीवादी पुनर्स्थापना के सामाजिक आधारों को मजबूत करना है। बुर्जुआ अधिकार की आलोचना की बात सुनकर तेङ सियाओ–पिङ इस कदर दुखी और डरा हुआ इसीलिए था क्योंकि बुर्जुआ अधिकार पार्टी के भीतर के बुर्जुआ का प्राण होता है और बुर्जुआ अधिकार पर किसी भी अंकुश का मतलब होता है क्रान्ति की धार को उसके विरुद्ध मोड़ना। समाजवाद के दौर में बुर्जुआ अधिकार के प्रति कोई कैसा रुख अपनाता है—इस पर अंकुश रखना या इसे फैलाना—यह इस बात का पता लगाने का एक महत्वपूर्ण मानदण्ड है कि वह क्रान्ति जारी रख रहा है, या स्थिर खड़ा है या यहां तक कि क्रान्ति का विरोध कर रहा है। इस मुद्दे पर पार्टी के भीतर पूंजीवादी पथगामियों के विरुद्ध हमारा संघर्ष अभी लम्बे समय तक चलता रहेगा। ●

* ''उत्पादन के साधनों के आवंटन और प्रबंधन की शक्ति तथा उत्पादों के वितरण की शक्ति सघन रूप में राजनीतिक नेतृत्व की शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है... हो सकता है कि वे (पूंजीवादी पथगामी) पुराने पूंजीपतियों की तरह व्यक्तिगत रूप से पूंजी के मालिक न हों, फैक्टरियां या बैंक न चलाते हों, लेकिन उनकी राजनीतिक लाइन, जो पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की जोरशोर से हिमायत करती है, सघन रूप में पूरे बुर्जुआ वर्ग के आर्थिक हितों और राजनीतिक आकांक्षाओं को परिलक्षित करती है।'' (चुआङ लान, ''पूंजीवादी पथगामी पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के प्रतिनिधि हैं'', रेमण्ड लोट्टा, सं., *ऐंड माओ मेक्स फाइव'* में संकलित)

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति

थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र

(A Short Organum for the Theater)

'ए शॉर्ट ऑर्गनम फॉर दि थिएटर' 1948 में स्विट्जरलैंड में लिखा गया था जहां उस वक्त ब्रेष्ट ज्यूरिच के पास रह रहे थे। 18 अगस्त '48 की उनकी डायरी के एक नोट के अनुसार, 'ऑर्गनम—*दि मेस्सिंगकॉफ* का संक्षिप्त रूप, कमोबेश पूरा हो गया है।' ब्रेष्ट ने नाटक के सिद्धान्त पर अपनी वृहत रचना (जो पूरी नहीं हो सकी) *मेस्सिंगकॉफ* का नाम जहां गैलीलियो से लिया था वहीं 'ऑर्गनम' अपने रूप और शैली दोनों की दृष्टि से पुनर्जागरण काल के दूसरे महान वैज्ञानिक फ्रांसिस बेकन की रचना *नोवम ऑर्गनम* से जुड़ता है जिनका नाम ब्रेष्ट के लेखन में कई बार आता है। जर्मन आलोचक डा. रीनहोल्ड ग्रिम्स का कहना है कि बेकन की पुस्तक ने ब्रेष्ट को इसलिए भी आकृष्ट किया क्योंकि वह अरस्तू के *ऑर्गनम* के विरुद्ध निर्देशित थी, और अरस्तू न केवल गैर-अरस्तूवादी आधुनिक नाटक का अन्तर्निहित शत्रु था बल्कि *गैलीलियो* (नाटक) का विचारधारात्मक खलनायक भी था।

वेर्सुची पत्रिका में 1953 में पुन:प्रकाशित होने पर 'शार्ट ऑर्गनम' के साथ दी हुई टिप्पणी में इसे 'वैज्ञानिक युग के थिएटर का एक वर्णन' कहा गया था। बाद में ब्रेष्ट ने इसके लिए कई परिशिष्ट लिखे और इसे अपनी टिप्पणियों के अन्तिम संग्रह 'डाई डाइलेक्टिक ऑफ डेम थिएटर' (थिएटर का द्वंद्ववाद) से जोड़ा जिसे उन्होंने अनुच्छेद 45 में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संक्षिप्त उल्लेख के आधार पर विकसित किया था। 'डेर मेस्सिंगकॉफ' ब्रेष्ट की सबसे महत्वाकांक्षी रचना थी, पर इसके अधूरा रह जाने के बाद 'शार्ट ऑर्गनम' ही उनकी सबसे महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति मानी जाती है। —संपादक

प्राक्कथन

आगे एक खास तरह के नाट्य प्रदर्शन, जिसे पिछले कुछ दशकों में विकसित किया गया है, से नि:सृत सौन्दर्यशास्त्र को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। लेखक के नाटकों की टिप्पणियों के रूप में बीच-बीच में प्रकाशित सैद्धान्तिक वक्तव्यों, प्रसंगांतरों और तकनीकी सुझावों में सौन्दर्यशास्त्र का उल्लेख चलते-चलाते और अपेक्षाकृत कम दिलचस्पी से किया गया है। इनमें आपने एक खास किस्म के थिएटर को देखा जो अपनी रणकौशलात्मक आवश्यकताओं के अनुसार अपने सामाजिक कार्यों को बढ़ाता-घटाता है, अपनी कलात्मक पद्धतियों को मांजता या छांटता है और—यदि प्रश्न उठा तो—नैतिकता या रुचि की समाज में हावी परिपाटियों को खारिज करके या अपने इस्तेमाल के मुताबिक बदलकर अपने सौन्दर्यशास्त्र को स्थापित करता है। यह थियेटर सामाजिक प्रतिबद्धता की ओर अपने झुकाव को सही ठहराने के लिए सार्वभौमिक रूप से स्वीकार्य कलाकृतियों में निहित सामाजिक प्रतिबद्धता की ओर इंगित करता है जो केवल इस कारण से अलग से ध्यान नहीं खींचती क्योंकि यह प्रतिबद्धता आमतौर पर स्वीकार्य थी। जहां तक हमारे युग के उत्पादों का प्रश्न है, यह मानता है कि उनमें किसी सार्थक अंतर्वस्तु का अभाव पतनशीलता का लक्षण है। इसने मनोरंजन के इन इम्पोरियमों पर आरोप लगाया कि ये पतित होकर बुर्जुआ मादक द्रव्य व्यवसाय की शाखाओं में तब्दील हो गये हैं। नाटक द्वारा हमारे सामाजिक जीवन के सटीक प्रतिनिधित्व के अभाव (इनमें तथाकथित प्रकृतिवाद भी शामिल है) के कारण थिएटर से वैज्ञानिक रूप से सटीक प्रस्तुतियों की मांग उठी, पर यह भावविहीन दृश्यों या आत्मिक नीतिवाक्यों की सुरुचिहीन खिचड़ी पकाने से आगे नहीं बढ़ पाया। सौंदर्यवाद जिसमें ज्ञान के प्रति बैरभाव और उपयोगितापूर्ण के लिए तिरस्कार भरा था, को इसने खुद ही तिरस्कृत कर दिया, खासकर इसलिए क्योंकि इसके परिणामस्वरूप कोई भी सुंदर चीज सामने नहीं आयी। लड़ाई एक ऐसे थिएटर के लिए थी जो वैज्ञानिक युग के अनुरूप हो, और जहां इसके आयोजकों को लगा कि प्रेस के सौंदर्यशास्त्र के विरुद्ध खुद की हिफाजत के लिए सौंदर्यशास्त्रीय अवधारणाओं के शस्त्रागार से पर्याप्त हथियार जुटाना उनके लिए ज्यादा ही मुश्किल होगा, उन्होंने सीधे-सीधे मनोरंजन के साधनों को शिक्षा के उपकरण में तब्दील कर देने और लोकरंजन की संस्थाओं को जनसम्प्रेषण के माध्यमों में बदल डालने यानी, सिर्फ मनोरंजन की दुनिया से प्रव्रजन कर जाने की धमकी दे दी।

अब तक पूरी तरह भ्रष्ट और परजीवी बन चुके वर्ग की पैतृक निशानी, सौंदर्यशास्त्र इतनी दुखद स्थिति में था कि अगर कोई थिएटर अपना नाम बदलकर Thaeter कर लेता तो निश्चित रूप से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती और उसे काम करने की जगह भी मिलती। लेकिन इन कठिनाइयों के बावजूद हमने वैज्ञानिक युग के थिएटर की दिशा में जो हासिल किया वह विज्ञान नहीं बल्कि थिएटर था, और नाजीवाद तथा युद्ध के दौर में—जब व्यावहारिक प्रदर्शन नामुमकिन था—किये गये नये प्रयोग हमें मजबूर करते हैं कि हम थिएटर की इस नई प्रजाति को इसकी सौंदर्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि में सेट करने का प्रयास करें, या किसी तरह इसके लिए एक सौंदर्यशास्त्रीय खाका तैयार करें। थिएटर में पार्थक्य (alienation) के सिद्धान्त को सौंदर्यशास्त्रीय फ्रेमवर्क के बिना व्याख्यायित करने की कोशिश भी अटपटी होगी।

आज हम प्राकृतिक विज्ञानों तक का सौंदर्यशास्त्र रचने का काम कर सकते हैं। गैलीलियो कुछ सूत्रों के लालित्य और किसी प्रयोग के आकर्षक बिन्दु की बात करता था; आईस्टीन कहते हैं कि वैज्ञानिक खोजों में सौंदर्यबोध की भी एक भूमिका होती है; जबकि परमाणु भौतिकीविद आर. ओपनहाइमर वैज्ञानिक रवैये की सराहना करते हैं, जिसका 'अपना खास किस्म का सौंदर्य है और जो पृथ्वी पर इंसानियत की स्थिति के अनुरूप लगता है।'

इसलिए आइए, हम यह कहकर चारों ओर परेशानी पैदा कर दें कि हमने सिर्फ मनोरंजन की दुनिया से प्रव्रजन करने का निर्णय रद्द कर दिया है और इस घोषणा से और ज्यादा संत्रास पैदा करें कि हमने इस दुनिया में डेरा ले लिया है। हम थिएटर को मनोरंजन का एक स्थल के ही रूप में लें, जैसा कि किसी सौंदर्यशास्त्रीय विमर्श में आवश्यक है, और यह पता लगाने की कोशिश करें कि किस तरह का मनोरंजन हमारे लिए सबसे अच्छा रहेगा।

1

'थिएटर' का अर्थ यह है : मनुष्यों के बीच हुई वर्णित या आविष्कृत घटनाओं का सजीव चित्रण करना और ऐसा करते हुए मनोरंजन का ध्यान रखना। जब भी हम थिएटर की बात करते हैं, चाहे वह नया हो या पुराना, तो हमारा मतलब यही होता है।

2

इस परिभाषा को विस्तारित करने के लिए हम मनुष्यों और देवताओं के बीच की घटनाओं को भी इसमें जोड़ सकते हैं, लेकिन चूंकि हम सिर्फ न्यूनतम बिन्दु तय करना चाह रहे हैं इसलिए ऐसे मामलों को छोड़ा जा सकता है। यदि हम ऐसे विस्तार को स्वीकार भी करतें तब भी हमें यह कहना होगा कि 'थिएटर' सेटअप का व्यापकतम कार्य आनन्द देना है। 'थिएटर' के लिए हमें इससे श्रेष्ठ कार्य नहीं मिल सकता।

3

शुरू से ही थिएटर का काम लोगों का मनोरंजन करना रहा है, जैसाकि अन्य सभी कलाओं का भी रहा है। यही काम इसे इसकी विशेष गरिमा प्रदान करता है। इसे आमोद-प्रमोद के अलावा और किसी पासपोर्ट की जरूरत नहीं होती, लेकिन यह तो इसके पास होना ही चाहिए। यदि हम इसे, उदाहरण के लिए, नैतिकता के रखवाले में तब्दील कर दें तो हम कतई इसका दर्जा ऊपर नहीं उठायेंगे, उल्टे इसका स्तर नीचे ही गिरेगा। और यदि यह अपने नैतिक सबक को मनोरंजक, यानी ऐंद्रिक रूप से मनोरंजक, बनाने में असफल रहा तो ऐसा होकर रहेगा। इस सिद्धान्त से नैतिकता को भी लाभ ही होगा। इससे शिक्षण की भी मांग नहीं की जा सकती। कतई, इससे ज्यादा कोई उपयोगितावादी सबक नहीं होना चाहिए कि भौतिक अथवा आत्मिक दायरे में आनन्दपूर्वक कैसे विचरण किया जाये। वास्तव में, थिएटर को एक ऐसी जगह बना रहना चाहिए जो पूरी तरह नाटकीय है, हालांकि इसका निश्चित रूप से यह अर्थ है कि हम नाटकीय के लिए ही जीते हैं। आनन्द की आवश्यकता को सही ठहराने की शायद ही किसी को जरूरत हो।

4

इसलिए प्राचीन काल में लोग, अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार, त्रासदियों से इससे ज्यादा या कम कोई अपेक्षा नहीं करते थे कि इनसे लोगों का मनोरंजन होना चाहिए। थिएटर को अनुष्ठान से विकसित हुआ बताया जाता है, लेकिन यह थिएटर तभी बनता है जब दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। पुराकाल की रहस्यपूर्ण कार्रवाईयों से इसने उनके आनुष्ठानिक कार्य को नहीं बल्कि शुद्धत: इसके साथ जुड़े आनन्द को बहाल रखा। और वह विरेचन क्रिया, जिसके बारे में अरस्तू लिखता है—भय और दया द्वारा सफाई या भय और दया से सफाई—एक ऐसा (आत्मिक) शुद्धीकरण है जिसका प्रस्तुतीकरण न केवल आनन्ददायी ढंग से किया जाता है बल्कि इसका उद्देश्य ही आनन्द देना होता है। थिएटर से इससे ज्यादा की मांग करना या स्वीकार करना अपने स्तर को नीचे गिराना है।

5

यहां तक कि जब लोग आनन्द के उच्च और निम्न स्तरों की बात करते हैं तो कला निर्विकार दृष्टि से उनकी ओर घूरती है, क्योंकि यह चाहती है कि इसे ऊपर उड़ने और नीचे उतरने की छूट हो और कोई तंग न करे, बशर्ते वह जनता को आनन्द दे सके।

6

पर थिएटर क्षीणतर (सरल) और प्रबलतर (जटिल) आनन्दों की रचना कर सकता है। किसी भी महान नाटक में प्रबलतर आनन्द होते हैं और इनका चरमोत्कर्ष उसी तरह प्राप्त होता है, जिस तरह सहवास में प्रेम के द्वारा प्राप्त होता है। वे अधिक जटिल, अधिक समृद्ध रूप से सम्प्रेषणीय, अधिक अन्तरविरोधी और अधिक परिणामोत्पादक होते हैं।

7

और स्वाभाविक रूप से अलग-अलग कालों में आनन्द का स्वरूप भी उस समय की समाजव्यवस्था के अनुसार बदलता रहता था। निरंकुश शासकों द्वारा शासित ग्रीक गणतंत्रों का मनोरंजन लुई चौदहवें के सामन्ती दरबार के मनोरंजन से भिन्न था। थिएटर को मनुष्यों के सामूहिक जीवन की भिन्न-भिन्न प्रस्तुतियां करनी होती थीं। केवल अलग तरह के जीवन की ही प्रस्तुति नहीं बल्कि अलग ढंग से प्रस्तुति।

8

मनुष्यों की अलग-अलग जीवन स्थितियों में जिस प्रकार का मनोरंजन सम्भव और आवश्यक था, उसके अनुसार चरित्रों को भिन्न ढंग से विस्तार देना होता था और भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार स्थितियां निर्मित करनी होती थीं। कहानियों को अलग-अलग ढंग से कहना होता था ताकि ग्रीक दर्शक उन दैवी नियमों की अपरिहर्यता को देख दिल बहला सकें जिनमें अज्ञानता भी दण्ड को कम नहीं कर पाती, 'महाजनों' के लिए निर्धारित दरबारी कर्तव्य संहिता से बंधे शालीनतापूर्ण आत्मानुशासन वाले फ्रांसीसी दर्शक मुग्ध हो सकें और एलिजाबेथ काल के उन अंग्रेजों का मनोरंजन हो सके जिनमें एक नई व्यक्तिगत पहचान की स्व-चेतना थी जो उस समय अनियंत्रित रूप से फूटी पड़ रही थी।

9

और हमें यह हमेशा याद रखना चाहिए कि ऐसी भिन्न-भिन्न ढंग की प्रस्तुतियों से प्राप्त होने वाला आनन्द दर्शायी गयी चीज से प्रस्तुति के मेल पर शायद ही कभी निर्भर करता था। अयथार्थता या यहां तक कि अत्यन्त असम्भाव्यता भी बहुत कम या एकदम नहीं खटकती थी, बशर्ते अयथार्थता में एक तारतम्य हो और असम्भाव्यता में एक तरह की स्थिरता बनी रहे। महत्वपूर्ण बात यह थी कि कही जा रही कहानी में बांधे रहने वाले आवेग का भ्रम बना रहना चाहिए, और इस भ्रम को रचने के लिए हर तरह के काव्यात्मक और नाटकीय साधनों का प्रयोग किया जाता था। आज भी अगर हम सोफोक्लीज के आध्यात्मिक शुद्धिकरणों, रासीन के त्यागपूर्ण कृत्यों और शेक्सपीयर की उन्मुक्त उत्तेजनाओं से भरी कहानियों के मुख्य पात्रों की तीव्र और अद्‌भुत भावनाओं को समझकर इन नाटकों का मजा ले सकें तो हम खुशी-खुशी ऐसी अशुद्धियों को नजरअंदाज कर सकते हैं।

10

थिएटर ने प्राचीन काल से मनुष्यों के बीच होने वाली घटनाओं की अनेक तरह से प्रस्तुति की है और इन्होंने अपनी अशुद्धियों और असम्भाव्यता के बावजूद मनोरंजन किया है, लेकिन इनमें बहुत बड़ी संख्या में ऐसी प्रस्तुतियां हैं जो अब भी हमारा मनोरंजन करती हैं।

11

यह स्थापित करके कि हम इत ने सारे भिन्न-भिन्न कालों की प्रस्तुतियों से सन्तुष्ट हो सकते हैं—जो खुद उन जीवन्त समयों की सन्तानों के लिए शायद ही सम्भव था—क्या हम यह सन्देह नहीं पैदा कर रहे हैं कि हम अपने समय का विशिष्ट आनन्द, सही मनोरंजन ढूंढने में असफल रहे हैं?

12

और थिएटर के रसास्वादन का हमारा बोध प्राचीन काल के लोगों के मुकाबले कमजोर हुआ है, भले ही साथ-साथ रहने का हमारा ढंग इस हद तक उन जैसा ही है कि हम इस बात को महसूस न कर सकें। हम पुरानी कृतियों को एक अपेक्षाकृत नयी पद्धति—तदनुभूति (empathy)—से समझने की कोशिश करते हैं जिसका वे बहुत कम इस्तेमाल करते थे। इसलिए हमारे रसास्वादन का बड़ा भाग उनसे भिन्न-भिन्न स्रोतों से आता है जिनसे हमारे पूर्वज रस लेते थे। हम भाषा के सौन्दर्य पर, कथानक के लालित्य पर और ऐसे परिच्छेदों पर निर्भर रह जाते हैं जो हमारी निजी कल्पनाओं को उत्प्रेरित करते हैं; यानी संक्षेप में पुरानी कृतियों की आनुषंगिकताओं पर। ये ही वे काव्यात्मक और नाटकीय साधन हैं जो कथानक की अशुद्धियों को ढंकते हैं। हमारे थिएटर में न तो ऐसी क्षमता है और न इच्छा कि इन कहानियों को, यहां तक कि सापेक्षिक रूप से हाल की, महान शेक्सपीयर की कहानियों को स्पष्ट ढंग से, यानी घटनाओं के बीच विश्वसनीय जुड़ाव के साथ प्रस्तुत कर सकें। और अरस्तू के अनुसार—और यहां हम उससे सहमत हैं—कथानक नाटक की आत्मा है। हम यह देखकर बार-बार विचलित होते हैं कि मनुष्यों के जीवन को कितने अनगढ़ और लापरवाह ढंग से प्रस्तुत किया जाता है, और ऐसा केवल पुरानी कृतियों में ही नहीं होता बल्कि पुराने नुस्खों के आधार पर रची नयी कृतियों में भी। रसास्वादन का हमारा पूरा तरीका ही पुराना पड़ता जा रहा है।

13

मनुष्यों के बीच की घटनाओं की जिस असटीक ढंग से प्रस्तुति की जाती है, वह थिएटर में हमारे आनन्द को बाधित करता है। कारण : जो दिखाया जा रहा है उसके साथ हमारे और हमारे पूर्वजों के सम्बन्ध भिन्न-भिन्न हैं।

14

क्योंकि जब हम एक ऐसे मनोरंजन के लिए अपने इर्द-गिर्द देखते हैं जिसका तत्काल प्रभाव हो, एक ऐसा पूर्ण और भीतर तक प्रभावित करने वाला आनन्द जो हमारा थिएटर मानव जीवन की प्रस्तुतियों से हमें दे सकता है, तो हमें यह ध्यान रखना होगा कि हम एक वैज्ञानिक युग की संतान हैं। समाज में मनुष्यों के रूप में हमारा जीवन—यानी हमारा जीवन—एक नई हद तक विज्ञानों से निर्धारित हो रहा है।

15

कुछ सौ वर्ष पहले अलग-अलग देशों में काम कर रहे, पर एक-दूसरे से सम्पर्क बनाये हुए, मुट्ठी भर लोगों ने कुछ प्रयोग किये जिनका उद्देश्य प्रकृति से उसके रहस्यों का भेद खोज निकालना था। पहले ही शक्तिशाली हो चुके नगरों के दस्तकारों के वर्ग के इन सदस्यों ने अपनी खोजों को ऐसे लोगों को सम्प्रेषित किया जिन्होंने इनका व्यावहारिक इस्तेमाल किया। निजी लाभ से ज्यादा उन्हें नये विज्ञानों से और कोई अपेक्षा नहीं थी।

जो शिल्प पिछले एक हजार वर्षों के दौरान अपरिवर्तित तरीकों से विकसित होते रहे थे, उनमें अब जबर्दस्त ढंग से प्रगति हुई। उन्होंने अनेक स्थानों पर (जो प्रतिस्पर्द्धा के जरिए एक-दूसरे से जुड़ गये) सभी दिशाओं से लोगों की विशाल आबादी को जमा किया, और इन्होंने संगठन के नये रूपों का इस्तेमाल करते हुए विराट पैमाने पर उत्पादन शुरू कर दिया। जल्द ही मानवजाति ऐसी शक्तियों का प्रदर्शन करने लगी जिनके बारे में उस समय तक शायद कोई सपने में भी नहीं सोच सकता था।

16

यह कुछ ऐसा था मानो मानवजाति ने पहली बार इस धरती को जीने लायक बनाने का सचेतन और समन्वित प्रयास शुरू किया था। धरती के अनेक तत्व, जैसे कोयला, पानी, तेल, अब अनमोल खजाने बन गये। भाप को वाहनों को चलाने के काम में लगाया गया; कुछ चिंगारियों और मेढकों की टांगों के फड़कने ने एक ऐसी प्राकृतिक शक्ति का पता दिया जो रोशनी पैदा कर सकती थी और आवाज को महाद्वीपों के पार ले जा सकती थी। मनुष्य अपने इर्द-गिर्द सभी दिशाओं में एक नयी दृष्टि से देख रहा था, कि वह परिचित, लेकिन अब तक अप्रयुक्त चीजों का कैसे अपने जीवन की बेहतरी के लिए इस्तेमाल कर सकता है। उसका परिवेश उत्तरोत्तर बदलता गया, दशक-दर-दशक, फिर साल-दर-साल, फिर लगभग रोज-ब-रोज। मैं यह लेख एक ऐसी मशीन पर लिख रहा हूं जिसका मेरे जन्म के समय नाम भी नहीं था। मैं नये वाहनों में इतनी तेज रफ्तार से चलता हूं जिसकी मेरे दादा कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उन दिनों कोई चीज इतनी तेज रफ्तार से नहीं चलती थी। और मैं उड़ता हूं जो मेरे पिता नहीं कर सकते थे। अपने पिता के साथ मैं महाद्वीप के आर-पार बात कर चुका हूं, और अपने पुत्र के साथ मैंने पहली बार हिरोशिमा में विस्फोट की हिला देने वाली चलती-फिरती तस्वीरें देखीं।

17

इन नये विज्ञानों ने इस विराट परिवर्तन को, और सबसे बढ़कर, हमारे परिवेश की परिवर्तनीयता को सम्भव बनाया है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हम जो कुछ भी करते हैं वह वैज्ञानिक मनोवृत्ति से तय होता है। सोचने और अनुभव करने का नया ढंग लोगों की विशाल आबादी के भीतर नहीं पैठ सकता है, इसका कारण यह है कि प्रकृति को काम में लाने और उसपर काबू पाने में अपनी तमाम सफलताओं के बावजूद इन विज्ञानों को एक अन्य ऐसे क्षेत्र में काम करने से रोक दिया गया है जहां अंधेरा अब भी राज करता है, यानी प्रकृति के इस्तेमाल और उस पर काबू पाने की प्रक्रिया में लोगों के आपसी सम्बन्ध। और ऐसा उसी वर्ग—बुर्जुआ वर्ग—ने किया है जिसे उन्होंने सत्ता में पहुंचाया था। प्रकृति के प्रति इस नये दृष्टिकोण को समाज में लागू नहीं किया गया।

18

नतीजा यह हुआ कि लोगों के आपसी सम्बन्धों के उलझाव को खत्म करना पहले से भी ज्यादा मुश्किल हो गया। जिन विराट उद्यमों में वे लगे हैं वे उन्हें उत्तरोत्तर दो समूहों में बांटते नजर आ रहे हैं। उत्पादन में वृद्धि का नतीजा दुख-तकलीफ में वृद्धि होता है। प्रकृति के शोषण से सिर्फ एक अल्पसंख्यक वर्ग को लाभ होता है और वह भी इसलिए क्योंकि वे लोगों का शोषण करते हैं। जिस चीज से सबका विकास हो सकता था, उससे अब सिर्फ थोड़े से लोग आगे बढ़ते हैं, और उत्पादक प्रक्रिया का अधिकाधिक भाग बड़े युद्धों के लिये विनाश के साधन बनाने में लग जाता है। इन युद्धों के दौरान

हर राष्ट्र की माताएं, बच्चों को सीने से लगाये हुए सहमी निगाहों से आकाश में विज्ञान के घातक आविष्कारों के प्रकट होने की प्रतीक्षा करती रहती हैं।

19

इन्सान ने कभी भीषण, अबूझ प्राकृतिक आपदाओं के सामने जो रवैया अपनाया था, वही वह अब खुद अपने उद्यमों के प्रति अपना लेता है। बुर्जुआ वर्ग ने विज्ञान के द्वारा तेज प्रगति की और यह सुनिश्चित करके कि इसके फल केवल वही खाये, वह इस प्रगति को प्रभुत्व में बदलने में कामयाब रहा। वह इस बात को बखूबी जानता है कि अगर वैज्ञानिक दृष्टि खुद इसके उद्यमों की ओर मोड़ दी गई तो इसके शासन का अन्त हो जायेगा। और इसलिए करीब सौ साल पहले जन्मा नया विज्ञान जो मानव समाज के चरित्र से सम्बन्धित है, शासकों और शासितों के बीच के संघर्ष के दौरान अस्तित्व में आया। तब से समाज के तल में, मजदूरों के उस नये वर्ग में—जिसका स्वाभाविक तत्व बड़े पैमाने का उत्पादन है—एक वैज्ञानिक चेतना विकसित हुई है। और वहीं से शासक वर्गों ने अपने लिए आपदाओं की पहचान की है।

20

लेकिन विज्ञान और कला इस जमीन पर मिलते हैं, कि दोनों ही का लक्ष्य इंसान की जिन्दगी को आसान बनाना है। एक का उद्देश्य हमारा भरण-पोषण करना है, और दूसरे का मनोरंजन। आने वाले युग में कला उस नयी उत्पादकता से मनोरंजन की रचना करेगी जो हमारी आजीविका को इतना अधिक सुधार कर सकती है और जिसे यदि निर्बन्ध कर दिया गया तो जो खुद सबसे बड़ा आनन्द सिद्ध हो सकती है।

21

यदि हम खुद को उत्पादन के लिए इस उमंग को समर्पित करना चाहते हैं तो लोगों के जीवन की हमारी प्रस्तुति कैसी दिखनी चाहिए? प्रकृति और समाज के प्रति वह उत्पादक रवैया क्या है जिसे हम वैज्ञानिक युग की संतान आनन्द के साथ अपने थिएटर में रखना चाहेंगे?

22

यह रवैया आलोचनात्मक है। इसका मतलब है नदी का सामना होने पर नदी को बांध देना; फलदार वृक्ष का सामना होने पर वृक्ष पर दवा का छिड़काव करना; गति का सामना होने पर वाहन और विमान बनाना; और समाज का सामना होने पर उसे पलट देना। मनुष्य के सामाजिक जीवन की हमारी प्रस्तुतियां नदी तट के वासियों, फल उत्पादकों, वाहनों के निर्माताओं और समाज को पलट देने वालों के लिए तैयार की गई हैं जिन्हें हम अपने थिएटरों में आमंत्रित करते हैं और अनुरोध करते हैं कि अपने उत्साहपूर्ण पेशों को भूलें नहीं, जबकि हम यह दुनिया उनके दिलो-दिमाग के हवाले करते हैं, कि वे जैसे ठीक समझें, इसे बदलें।

23

थिएटर ऐसा स्वतंत्र रवैया तभी अपना सकता है जब वह खुद को अपने समाज की सशक्ततम धाराओं के साथ बहने दे और उनके साथ जुड़े जो महान परिवर्तन लाने के लिए अनिवार्यत: सर्वाधिक अधीर हैं। और कुछ नहीं तो अपने समय के अनुकूल कला विकसित करने की इच्छा ही हमारे वैज्ञानिक युग के थिएटर को सीधे उपनगरों में ले जाने के लिए काफी है। जहां यह उन लोगों की सेवा में खुलकर खड़ा हो सकेगा, जो कठिन जिन्दगी जीते और बेशुमार उत्पादन करते हैं, ताकि वे अपनी भीषण समस्याओं के बीच सार्थक मनोरंजन पा सकें। उन्हें हमारी कला का खर्च उठाने में और शुरू में मनोरंजन की नई पद्धति को समझने में दिक्कत आ सकती है, और हमें कई मामलों में यह सीखना होगा कि उन्हें क्या चाहिए और कैसे चाहिए, लेकिन हम इस बारे में आश्वस्त हो सकते हैं कि वह रुचि लेंगे। क्योंकि ये लोग जो प्राकृतिक विज्ञान से इतना दूर दिखाई देते हैं, वे दूर सिर्फ इसलिए हैं क्योंकि उन्हें बलपूर्वक अलग रखा जा रहा है। इन तक पहुंच पाने के पहले उन्हें समाज का एक नया विज्ञान विकसित और लागू करना होगा। ये वैज्ञानिक युग की असली संतान हैं और अगर थिएटर में गति आनी है तो ये ही उसे ला सकते हैं। उत्पादकता को मनोरंजन का मुख्य स्रोत बनाने वाले थिएटर को इस बात को भी अपना विषय बनाना होगा, और पहले हमेशा से ज्यादा गहनता से बनाना होगा, कि इंसान को हर कहीं इंसान द्वारा स्व-उत्पादन से, यानी अपना भरण-पोषण करने, मनोरंजन करने और मनोरंजन प्राप्त करने से रोका जा रहा है। यदि थिएटर को यथार्थ की प्रभावी प्रस्तुतियां करने की स्थिति में आना है तो उसे यथार्थ के अनुकूल बनना होगा।

24

लेकिन यह थिएटर के लिए शिक्षा और जनसंचार के उपकरण के अधिकतम सम्भव निकट पहुंच जाना आसान बना देता है। क्योंकि हालांकि हम इस पर ज्ञान के विविध रूपों का कच्चा माल थोप नहीं सकते, जो इसे मजा लेने लायक नहीं रहने देगा, फिर भी यह सिखाने और सवाल उठाने में आनन्द प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र है। यह समाज की व्यावहारिक प्रस्तुतियां निर्मित करता है, जो समाज को प्रभावित करने की स्थिति में होती हैं, लेकिन उमंग के साथ। समाज का निर्माण करने में लगे लोगों के लिए यह समाज के पिछले और वर्तमान अनुभवों को इस ढंग से पेश करता है कि दर्शक उन अनुभूतियों, अन्तर्दृष्टियों और आवेगों का 'आस्वादन' कर सकें जिन्हें हममें से सबसे समझदार, सबसे सक्रिय और सबसे भावप्रवण लोगों ने आज की या इस शताब्दी की घटनाओं से निथार कर सामने रखा है। समस्याओं का समाधान करने से मिलने वाली समझदारी, कमजोर के प्रति हमदर्दी की व्यावहारिक अभिव्यक्ति से उपजा क्रोध, मानवता का, या जो कुछ भी मानवता के भले के लिए है, उसका सम्मान करने वालों के प्रति आदर—इन चीजों से, या संक्षेप में, जो कुछ भी उत्पादन करने वालों को आनन्दित करे, उससे उनका मनोरंजन किया जाना चाहिए।

25

और इसका अर्थ यह भी हुआ कि थिएटर को अपने दर्शकों को अपने युग की विशिष्ट नैतिकता का मजा लेने देना चाहिए, जो उत्पादकता से पैदा होती है। आलोचनात्मक एप्रोच—यानी हमारी महान उत्पादक पद्धति—को आनन्द में रूपान्तरित करने वाला थिएटर नैतिकता के क्षेत्र में ऐसा कुछ नहीं पाता जो उसे नहीं करना चाहिए, और बहुत कुछ ऐसा पाता है जो वह कर सकता है। पूरी तरह असामाजिक भी समाज के लिए मजे का स्रोत हो सकता है, बशर्ते इसे प्रभावशाली ढंग से और भव्य स्तर पर प्रस्तुत किया जाये। भंयकर बाढ़ जैसी आपदा की विराटता को भी समाज सराह सकता है, अगर समाज उसपर काबू पाना जानता हो। फिर हम इसे अपना सकते हैं।

26

हम आज जिस रूप में थिएटर को देख रहे हैं, उससे इस प्रकार के काम की कतई अपेक्षा नहीं की जा सकती। आइए, एक थिएटर गृह के भीतर चलते हैं और दर्शकों पर पड़ रहे प्रभाव का अध्ययन करते हैं। अपने इर्द-गिर्द देखने पर हमें कुछ-कुछ गतिहीन सी आकृतियां एक अजीब स्थिति में दिखाई देती हैं : लगता है कि वे अपनी सभी मांसपेशियों को, उन्हें छोड़कर जो थुलथुल या थकी हुई हैं, जोर लगाकर ताने हुए हैं। वे एक-दूसरे से शायद ही

कोई संवाद करते हैं। उनके सम्बन्ध ढेर सारे निद्रामग्न लोगों के होते हैं, पर ऐसे जो लगातार सपने देख रहे हों, क्योंकि जैसा कि कहा जाता है बुरे सपने उन्हें आते हैं जो पीठ के बल लेटे हों। यह सही है कि उनकी आंखें खुली रहती हैं, पर वे देखते नहीं बल्कि टकटकी लगाये रहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे वे सुनते नहीं बल्कि बस ध्वनियों को ग्रहण करते हैं। वे मंच की ओर ऐसे देखते हैं मानो सम्मोहन में हों। यह भाव मध्य युग से, डायनों और ओझाओं के जमाने से चला आ रहा है। देखना और सुनना गतिविधियां हैं और यह आनन्ददायी हो सकती हैं, लेकिन ये लोग किसी प्रकार की गतिविधि से परे लगते हैं, और ऐसे लोगों जैसे लगते हैं जिनके साथ कुछ किया जा रहा है। यह असंपृक्त अवस्था जिसमें मानो वे अस्पष्ट पर गहरे संवेदों के हवाले रहते हैं, उतनी ही गहरी होती जाती है, जितना बेहतर अभिनेताओं का काम होता है, और इसलिए, चूंकि हम इस स्थिति के समर्थक हैं, नहीं हम चाहते हैं कि वे अधिकतम सम्भव खराब काम करें।

27

जहां तक वहां दर्शायी जाने वाली दुनिया की बात है, वह दुनिया जिसमें से इन मनोभावों और भावनाओं को पैदा करने के लिए टुकड़े काटे जाते हैं, यह ऐसी लगती है मानो कार्डबोर्ड के कुछ टुकड़ों, थोड़ी नकल, और थोड़े से टेक्स्ट जैसी तुच्छ सामग्री से बनाई गई हो। रंगकर्मी तारीफ के काबिल हैं जो वास्तविक दुनिया के इतने कमजोर प्रतिबिम्ब के बावजूद अपने दर्शकों की भावनाओं को वास्तविक दुनिया से भी ज्यादा ताकत से झकझोर सकते हैं।

28

जो भी हो, हम इन रंगकर्मियों को दोष नहीं दे सकते, क्योंकि पैसे और शोहरत के लिए वे जो आनन्द बेचते हैं, वह दुनिया की ज्यादा सटीक प्रस्तुति से नहीं पैदा किया जा सकता, और न ही उनकी अयथार्थ प्रस्तुतियों का प्रदर्शन इससे कम जादुई तरीके से किया जा सकता है। लोगों का प्रतिनिधित्व करने की उनकी क्षमता का पता विभिन्न मौकों पर चलता है। खासकर दुष्ट या मामूली चरित्र ही मानवता का अपना ज्ञान प्रदर्शित करते हैं और एक-दूसरे से भिन्न दिखते हैं, लेकिन केन्द्रीय चरित्र सामान्य रखे जाते हैं, ताकि दर्शक ज्यादा आसानी से उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर सकें। और हर कीमत पर चरित्र की सभी विशेषताएं उसी संकीर्ण दायरे से ली हुई होनी चाहिए जिसमें हर कोई छूटते ही कह सके: हां, ऐसा ही तो होता है। क्योंकि दर्शक नाटक से कुछ निश्चित संवेदनाएं चाहता है, ठीक उस बच्चे की तरह जो मेरी-गो-राउंड के घोड़े पर सवारी करता है। इस गर्व की सनसनी कि उसके पास घोड़ा है, और वह सवारी कर सकता है, तेज रफ्तार से दूसरे बच्चों के बगल से निकलने का आनन्द, ऐसे दुस्साहसिक दिवास्वप्न कि वह किसी का पीछा कर रहा है या उसका पीछा किया जा रहा है, आदि। बच्चे को यह सब महसूस कराने में इसका कोई खास मतलब नहीं रह जाता कि लकड़ी की सीट कितना घोड़े जैसी लगती है या इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि सारी घुड़दौड़ एक छोटे से चक्कर तक ही सीमित है। इन थिएटरों में दर्शकों के लिए एक ही महत्वपूर्ण बात है कि वे अन्तरविरोधों से भरी एक दुनिया की एक सुसंगत दुनिया से अदला-बदली कर सकें, एक ऐसी दुनिया, जिसके बारे में वे बहुत कम जानते हैं की एक ऐसी दुनिया से अदला-बदली कर सकें, जिसका वे स्वप्न देखते हैं।

29

इसी तरह के थिएटर का हम सामना करते हैं, और अब तक यह हमारे आशावादी मित्रों को, जिन्हें हमने वैज्ञानिक युग की संतान कहा है, एक भीरु, सहज विश्वासी और सम्मोहित भीड़ में रूपांतरित करने में पूरी तरह कामयाब रहा है।

30

सच है कि पिछले करीब पचास वर्षों के दौरान वे सामाजिक जीवन की और ऐसे चरित्रों की अपेक्षाकृत अधिक वास्तविक प्रस्तुतियां देख सके हैं जिन्होंने कुछ सामाजिक बुराइयों और यहां तक कि समाज के पूरे ढांचे के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्हें अस्थायी और अपवादस्वरूप ही सही और भाषा, कथानक एवं आत्मिक विस्तार को सीमित रखते हुए ही सही, ऐसी प्रस्तुतियों में रुचि लेनी पड़ी क्योंकि वैज्ञानिक स्पिरिट की ताजा हवा ने उन आकर्षणों को फीका कर दिया था जिनके वे आदी हो चुके थे। पर यह त्याग कोई खास सार्थक नहीं सिद्ध हुआ। प्रस्तुतियों की गूढ़ता ने एक आनन्द को घटा दिया और इसके बदले कोई और नहीं दिया। मानवीय सम्बन्धों का क्षेत्र हमारी नजर में तो आया पर हमारी पकड़ से दूर ही रहा। पुराने (जादुई) ढंग से ही उभारी गई हमारी भावनाएं, अपरिवर्तित ही रहीं।

31

क्योंकि हमेशा ही और हर कहीं थिएटर उस वर्ग के मनोरंजन केन्द्र थे जो वैज्ञानिक मनोवृत्ति को प्राकृतिक क्षेत्र तक ही सीमित रखता था, मानवीय सम्बन्धों के क्षेत्र में इसके लागू होने के विचार मात्र से वह डरता था। जनता का एक छोटा सा सर्वहारा तबका भी इसी तरह अब भी पुराने ढंग का मनोरंजन चाहता था, जो उसे जिन्दगी की कठिनाइयों से राहत दे सके। गद्दार बुद्धिजीवी इस पसन्द को और बढ़ाते हैं, हालांकि उनका असर नगण्य ही रहता है।

32

इसलिए आइए हम आगे बढ़ें! दूर कर दें सारी बाधाएं! अब चूंकि हम एक युद्ध में उतर ही पड़े हैं, तो आइए हम जमकर लड़ें! क्या हमने देखा नहीं है कि कैसे अविश्वास पहाड़ों को खिसका सकता है? क्या यह काफी नहीं है कि हमें यह पता चला लेना चाहिए था कि हमसे कुछ छुपाया जा रहा है? तमाम चीजों पर पर्दे पड़े हुए हैं। अब इन पर्दों को उठाने का समय आ गया है।

33

जिस रूप में हम थिएटर को जानते हैं वह यह दिखाता है कि समाज की संरचना (मंच पर प्रस्तुत) समाज (प्रेक्षागृह में मौजूद) से प्रभावित नहीं हो सकती। अपने समय के समाज के कुछ आधारभूत नियमों की अवहेलना करने वाले ओडिपस को मृत्युदण्ड दे दिया जाता है, देवगण इसे सुनिश्चित करते हैं। वे आलोचना से परे हैं। शेक्सपीयर के महान एकाकी व्यक्तित्व, अपनी छाती पर अपनी किस्मत का सितारा लिये हुए अप्रतिरोध्य शक्ति के साथ अपना निरर्थक एवं घातक भावावेग जारी रखते हैं। वे अपने ही अंत की तैयारी करते हैं। उनके धराशायी होने में मृत्यु नहीं, बल्कि जीवन ही अश्लील लगने लगता है पर यह ध्वंस आलोचना से परे होता है। चारों ओर बस नर बलि! बर्बर खुशियां! हम जानते हैं कि बर्बर लोगों की भी अपनी कला थी। हमें एक नई कला का सृजन करना होगा।

34

आखिर और कब तक हमारी आत्माएं, हमारे 'मात्र' शरीरों को हॉल के अंधेरे में छोड़कर, ऊपर मंच पर मौजूद स्वप्न जैसे चरित्रों में प्रवेश करती रहेंगी, ताकि उन स्वरोत्कर्षों और नाटकीय 'क्लाइमेक्स' में भाग ले सकें जिनसे हम 'सामान्य' जीवन में वंचित रहते हैं? इन सभी नाटकों के अन्त में (जो केवल उस समय की प्रथाओं के हिसाब से ही सुखांत होता है— उपयुक्त उपाय, व्यवस्था की बहाली आदि), हम कैसा महसूस करते हैं जब हम देखते हैं कि

उस स्वप्न जैसे बधिक का कुल्हाड़ा ऐसे स्वरोत्कर्षों को अतिरेक कह कर बीच में ही काट डालता है? हम *ओडियस* देखते हैं क्योंकि वर्जनाएं अब भी मौजूद हैं और अज्ञानता पर कानून कोई छूट नहीं देता। हम *ओथेलो* देखते हैं क्योंकि ईर्ष्या अब भी हमें विचलित करती है और हर चीज स्वामित्व पर निर्भर करती है। हम *वालेंस्टाइन* देखते हैं क्योंकि प्रतिस्पर्द्धापूर्ण संघर्ष के लिए आवश्यक है कि हम मुक्त हों और नियमों का पालन करें, वरना यह अपनेआप खत्म हो जायेगा। पुरानी आदतों के इस अचलभार की जरूरत *घोस्ट्स* और दि *वीवर्स* जैसे नाटकों के लिए भी पड़ती है, हालांकि इनमें 'परिवेश' के रूप में उपस्थित सामाजिक संरचना एक हद तक इस रूप में पेश होती है जिसपर सवाल उठाये जा सकते हैं। मुख्य पात्रों की भावनाएं, विचार और आवेग हम पर थोपे जाते हैं, और जितना 'परिवेश' से पता चल पाता है, उससे ज्यादा हम समाज के बारे में कुछ नहीं जान पाते।

35

हमें इस किस्म के थिएटर की जरूरत है जो न केवल मानवीय सम्बन्धों के उस विशिष्ट ऐतिहासिक क्षेत्र में सम्भव भावनाओं, विचारों और आवेगों को प्रस्तुत करे जिसके तहत घटनाएं घटित होती हैं, बल्कि उन विचारों और भावनाओं को इस्तेमाल और प्रोत्साहित करे जो खुद इस क्षेत्र को ही बदलने में मदद करती हैं।

36

इस क्षेत्र को इतिहास सापेक्ष ढंग से ही परिभाषित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में हमें यह आदत छोड़ देनी चाहिए कि अतीत के दौरों की भिन्न-भिन्न सामाजिक संरचनाओं को लें, फिर उनसे वह सब कुछ अलग कर दें जो उन्हें भिन्न बनाता है, ताकि वे सब कमोबेश हमारे समय के सामाजिक ढांचे जैसे लगने लगें। इस प्रक्रिया में वे ऐसे लगने लगते हैं जैसे कि हमेशा से ही मौजूद थे, यानी एक स्थायित्व का भाव आ जाता है। इसके बजाय हमें उनको अलग दर्शाने वाली निशानियां छोड़ देनी चाहिए और उनका अस्थायित्व सदा हमारी आंखों के सामने रहना चाहिए, ताकि यह दिख सके कि हमारा समय भी अस्थायी ही है, (निश्चित रूप से इसके लिए सजावटी रंग-रोगन और लोककथाओं-गीतों का इस्तेमाल करना बेकार है, जैसा कि हमारे रंगकर्मी अलग-अलग समयों में मानवीय व्यवहार में समरूपताएं दर्शाने के लिए करते हैं। हम इसके लिए उपयुक्त नाट्य पद्धतियों की चर्चा आगे करेंगे)

37

अगर हम यह सुनिश्चित करें कि मंच पर हमारे पात्र सामाजिक आवेगों से संचालित होते हैं और यह अलग-अलग दौरों में बदलते रहते हैं, तो हमारे दर्शक के लिए उनसे तादात्म्य स्थापित कर पाना मुश्किल होगा। वह सीधे-सीधे यह अनुभव नहीं कर सकेगा : मैंने भी ऐसा ही किया होता। ज्यादा से ज्यादा वह यह कह सकेगा : अगर मैं उन परिस्थितियों में रह रहा होता। और अगर हम हमारे अपने समय पर केन्द्रित नाटकों को इस तरह प्रस्तुत करें मानो वे ऐतिहासिक हों, तो शायद दर्शक को जीवन की वे परिस्थितियां, जिनमें वह खुद रहता है, उतनी ही अजीब लगेंगी। और यहीं पर आलोचनात्मक रवैया शुरू होता है।

38

इन 'ऐतिहासिक स्थितियों' की रहस्यमय शक्तियों (पार्श्वभूमि में), के रूप में कल्पना नहीं की जानी चाहिए (न ही इस रूप में उन्हें निर्मित किया जाना चाहिए)। इसके विपरीत वे मनुष्यों द्वारा निर्मित और कायम रखी जाती हैं (और कालांतर में उन्हीं के द्वारा बदल दी जायेंगी)। हमारे सामने घटित हो रही घटनाओं से ही यह समझ में आना चाहिए कि वे क्या हैं।

39

यदि कोई चरित्र अपने ऐतिहासिक दौर के अनुरूप प्रतिक्रिया करता है और अन्य दौरों में भिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया करेगा, तो क्या इसका यह अर्थ हुआ कि वह बस 'एवरीमैन' (Everyman–प्राचीन नीति नाटकों में मानवता, जनता या हर ऐरे-गैरे का प्रतिनिधि) नहीं है? यह सही है कि हर व्यक्ति अपनी परिस्थितियों और अपने वर्ग के अनुसार भिन्न ढंग से प्रतिक्रिया करेगा। अगर वह किसी अन्य समय में रह रहा हो, या अपनी युवावस्था में हो या जीवन की गोधूलि में, तो निश्चित रूप से उसकी प्रतिक्रिया भिन्न होगी। हालांकि यह उन्हीं परिस्थितियों से निर्धारित होगा और उस समय उन परिस्थितियों में किसी अन्य की प्रतिक्रिया के समान ही निर्धारित होगा।

ऐसे में क्या हमें यह प्रश्न नहीं करना चाहिए कि क्या प्रतिक्रिया में और भी भिन्नताएं हैं? खुद वह मनुष्य कहां है, जीवन्त असंदिग्ध मनुष्य जो कतई उन जैसा नहीं है जो उसके रूप में खुद को देखते हैं। यह स्पष्ट है कि उसकी मंचीय छवि को उसके यथार्थ रूप को सामने लाना चाहिए, और यह तभी होगा जब इस विशिष्ट अन्तरविरोध की इस छवि में पुनर्रचना की जाये। एक ऐतिहासिक परिभाषा देने वाली छवि वह होगी जिसमें पूरी तरह तैयार आकृति के इर्द-गिर्द की अन्य गतियों और विशेषताओं का संकेत करने वाली रफ स्केचिंग का भी कुछ हिस्सा शामिल होगा। वरना एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिए जो एक घाटी में खड़ा होकर वक्तव्य दे रहा है जिसमें वह बीच-बीच में अपने विचार बदलता है या सीधे ऐसे वाक्य बोलता है जो एक-दूसरे के विरोधी हैं, जिससे कि शब्दों की गूंज उन्हें एक-दूसरे से टकराने पर मजबूर कर देती है।

40

ऐसी छवियां निश्चित रूप से एक खास तरीके के अभिनय की मांग करती हैं जो दर्शक की विचारशक्ति को स्वतंत्र और अत्यन्त गतिशील रखे। उसे बार-बार हमारी संरचना के साथ, जिसे हम कह सकते हैं, परिकल्पित तालमेल बैठाना पड़ता है। ऐसा वह दिमागी तौर पर हमारे समाज की चालक शक्तियों को हटा कर या उनकी जगह दूसरी शक्तियों को रखकर करता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें वास्तविक आचरण में 'अस्वाभाविकता' का एक तत्व आ जाता है, और इस प्रकार यह अवसर देता है कि वास्तविक चालक शक्तियों को उनकी स्वाभाविकता से रहित कर बदले जाने के काबिल बनाया जा सके।

41

यह वैसा ही है जैसे कोई सिंचाई विशेषज्ञ किसी नदी के साथ ही उसकी पुरानी तलहटी तथा उन विभिन्न परिकल्पित रास्तों को भी देखे जिन्हें नदी ने अपनाया होता अगर पठार का झुकाव या पानी का बहाव कुछ और होता। और जिस समय वह अपने मन में एक नई नदी को देख रहा होता है, ठीक उसी समय उसके भीतर का समाजवादी उसके किनारे काम करने वाले मजदूरों से नई तरह की बातें सुन रहा होता है। और इसी तरह, थिएटर में हमारे दर्शक को पाना चाहिए कि ऐसे मजदूरों के बीच सेट की गई घटनाओं के साथ कई और अनुगूंजें और संकेत भी हैं।

42

ऐसी छवियां प्रस्तुत करने के उद्देश्य से प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों के बीच बर्लिन में शिफबावरडैम थिएटर में जिस किस्म का अभिनय आजमाया गया था वह 'पार्थक्य प्रभाव' (एलियनेशन इफेक्ट) पर आधारित है। ऐसी प्रस्तुति जो अलगाव (पार्थक्य प्रभाव) पैदा करती है, वह होती है जिसमें हम उसका विषय पहचान सकते हैं लेकिन साथ ही वह हमें

अपरिचित सा लगता है। क्लासिकी और मध्ययुगीन थिएटर अपने पात्रों को इंसानी या पशुओं के मुखौटे पहनाकर पृथक करता था। एशियाई थिएटर आज भी संगीत और मूकाभिनय द्वारा पार्थक्य प्रभावों का इस्तेमाल करता है। ऐसे उपकरण निश्चित रूप से तदनुभूति के लिए अवरोधक थे। लेकिन फिर भी इस तकनीक में सम्मोहनकारी प्रभाव उन तकनीकों के मुकाबले ज्यादा था जिनके द्वारा तदनुभूति कराई जाती है। उन पुराने उपकरणों का सामाजिक लक्ष्य हमारे अपने लक्ष्यों से पूरी तरह भिन्न था।

43

पुराने पार्थक्य प्रभाव प्रस्तुत विषय को दर्शक की पकड़ से दूर कर देते थे, वे उसे एक ऐसी चीज में तब्दील कर देते थे जिसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। नये पार्थक्य प्रभाव अपने आप में बेमेल नहीं हैं, हालांकि अवैज्ञानिक दृष्टि किसी भी अपरिचित चीज पर बेमेल होने का ही ठप्पा लगा देती है। ये नये प्रभाव बस सामाजिक रूप से अनुकूलित परिघटनाओं को सुपरिचित होने के उस ठप्पे से मुक्त करने के लिए तैयार किये गये हैं जो आज उन्हें हमारी पकड़ में आने से रोकता है।

44

क्योंकि जो चीज लम्बे अरसे से बदली नहीं गई है, उसे बदलना असम्भव लगता है। हम हमेशा ही ऐसी चीजों को देखते रहते हैं जो हमारे लिए इतनी जगजाहिर हैं कि हम उन्हें समझने की जहमत नहीं उठाते। लोगों को आपस में जो कुछ अनुभव होता है, उसे ही वह समस्त मानवीय अनुभव मान लेते हैं। बड़े लोगों की दुनिया में रह रहा एक बच्चा यह सीखता है कि वहां चीजें कैसे काम करती हैं। चलना सीखने से भी पहले वह कई चीजों की गति समझ जाता है। अगर कोई कुछ और ज्यादा आगे की चीज पाने का हौसला रखता भी है, तो वह इसे अपवादस्वरूप बस अपने लिए चाहता है। अगर वह यह समझ जाये कि 'भाग्य' ने उसके लिए जो प्रबन्ध किये हैं वह दरअसल समाज ने उसे उपलब्ध कराया है, तब भी वह समाज, यानी अपने जैसे लोगों के विराट समूह, को एक सम्पूर्ण के रूप में देखेगा जो अपने अंशों के योग से भी बड़ा है और इसलिए इसे किसी रूप में प्रभावित नहीं किया जा सकता। इससे भी बढ़कर, वह ऐसी चीजों का आदी हो जाता है जिन्हें प्रभावित नहीं किया जा सकता, और जिसका आदी हो जाये उस पर अविश्वास कौन करता है? सामान्य निष्क्रिय स्वीकार्यता से खुद को एक संदेहपूर्ण जिज्ञासा की अवस्था में रूपांतरित करने के लिए उसे वह असंपृक्त दृष्टि विकसित करनी पड़ेगी जिससे महान गैलीलियो ने आगे-पीछे झूलते हुए झाड़-फानूस को देखा था। वह इस दोलन (पेण्डुलम) गति से चकित था, जैसे उसे इसकी अपेक्षा न रही हो और ऐसा होने को वह समझ न पा रहा हो। और इसने उसे उन नियमों तक पहुंचने का रास्ता दिखाया जिनसे यह गति निर्धारित होती थी। वही वह दृष्टिकोण है, व्यग्रतापूर्ण पर सार्थक, जिसे थिएटर को सामाजिक जीवन की अपनी प्रस्तुतियों के जरिए पैदा करना चाहिए। उसे अपने दर्शकों को चकित करना चाहिए और यह सुपरिचित को पृथक कर देने की तकनीक से हासिल किया जा सकता है।

45

यह तकनीक थिएटर को अपनी प्रस्तुतियों में उस नयी सामाजिक-वैज्ञानिक पद्धति का इस्तेमाल करने का मौका देती है जिसे द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं। समाज की गति के नियमों को खोज निकालने के लिए यह पद्धति सामाजिक स्थितियों को प्रक्रियाओं के रूप में देखती है और उनकी सभी असंगतियों का पता लगाती है। यह जानती है कि हर चीज निरन्तर परिवर्तनशील है, दूसरे शब्दों में अपने से ही विरोध में है। यही बात उन मानवीय भावनाओं, मतों और दृष्टिकोणों पर भी लागू होती है जिनके जरिए किसी समय विशेष पर मनुष्यों के सामाजिक जीवन का रूप अभिव्यक्त होता है।

46

हमारा अपना समय जो प्रकृति को इतने सारे और अलग-अलग तरीकों से रूपांतरित कर रहा है, चीजों को समझने में आनन्द लेता है ताकि हम हस्तक्षेप कर सकें। मनुष्य ने बहुत लम्बी यात्रा तय की है, और उसे बहुत लम्बी यात्रा तय करनी है। उसे ऐसा ही नहीं रहना है, जैसा वह है, और न ही उसे इसी रूप में देखा जाना चाहिए जैसा वह आज है, बल्कि उस रूप में भी जैसा वह बन सकता है। हमें उसके साथ शुरू नहीं करना है, बल्कि हमें उस पर काम करना शुरू करना है। लेकिन इसका मतलब यह हुआ कि मुझे सीधे-सीधे खुद को उसकी जगह पर नहीं रखना चाहिए बल्कि मुझे खुद को उसके सामने रखना चाहिए। इसीलिए थिएटर को जो वह दिखा रहा है, उसे पृथक करना चाहिए।

47

पार्थक्य प्रभाव पैदा करने के लिए अभिनेता को वह सब कुछ छोड़ देना पड़ेगा जो उसने अपने द्वारा निभाए जा रहे पात्र के साथ दर्शकों का तादात्म्य स्थापित करने के बारे में सीखा है। दर्शकों को पूरी तरह तन्मय कर देने के प्रयास में उसे खुद ही तन्मय नहीं हो जाना चाहिए। उसकी मांसपेशियां ढीली रहनी चाहिए, क्योंकि गर्दन की कसी मांसपेशियों के साथ सिर घुमाने पर, जादुई ढंग से दर्शकों की आंखें और सिर भी उसके साथ-साथ घूमेंगे, और यह उस भंगिमा पर होने वाली सोच या प्रतिक्रिया से ध्यान ही बंटायेगा। उसके बोलने का ढंग न तो धर्मसभाओं के भाषणों जैसे एकसुरा होना चाहिए जो दर्शक को इस तरह मंत्र मुग्ध कर दे कि वह होश खो बैठे। यदि वह किसी जुनूनी आदमी का किरदार अदा कर रहा है तो भी उसे खुद ही जुनूनी नहीं लगना चाहिए क्योंकि यदि ऐसा होगा तो दर्शक कैसे समझ पायेगा कि किरदार पर काहे का जुनून सवार है।

48

एक क्षण के लिए भी उसे अपनेआप को पूरी तरह निभाये जा रहे पात्र में रूपांतरित नहीं कर लेना चाहिए। यह फैसला अभिनेता के लिए दरअसल एक सांघातिक चोट है: "वह (किंग) लियर का अभिनय नहीं कर रहा था, वह खुद ही लियर था।" उसे बस उस चरित्र को दिखाना है, बल्कि उसे सिर्फ पात्र में प्रवेश करने से कुछ ज्यादा करना होता है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि यदि वह भावावेगपूर्ण भूमिकाएं कर रहा है तो उसे खुद ठण्डा रहना चाहिए। इसका मतलब यही है कि भीतर से उसकी भावनाएं वही नहीं होनी चाहिए जो कि पात्र की हैं, ताकि दर्शकों की भावनाएं भी वही न हों जो पात्र की हैं। यहां दर्शकों को पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए।

49

अभिनेता मंच पर दोहरी भूमिका में उपस्थित होता है, लाफ्टन और गैलीलियो[1] दोनों के रूप में, ताकि शोमैन लाफ्टन गैलीलियो में खो न जाये, जिसे यह प्रस्तुत कर रहा है, जिससे कि अभिनय के इस तरीके का 'एपिक' नाम पड़ा है। इस सिद्धान्त का सीधा मतलब यह होता है कि मूर्त, ठोस, वास्तविक प्रक्रिया ढंकी-छिपी नहीं रहती हैं; कि लाफ्टन वाकई वहां, मंच पर मौजूद है और हमें यह दिखा रहा है कि उसकी कल्पना में गैलीलियो कैसा रहा होगा। हालांकि यदि उसने व्यक्तित्व को पूरी तरह बदल देने की कोशिश की होती, तो भी दर्शक लाफ्टन को भूल नहीं पाते। ऐसे अभिनय के लिए वे उसकी सराहना करते, लेकिन ऐसी स्थिति में वे उसके अपने मतों और संवेदनाओं से वंचित रह जाते, क्योंकि ये पूरी तरह पात्र में विलीन हो जातीं।

वह पात्र के मतों और संवेदनाओं को लेकर अपना बना लेता, जिससे एक एकरूप विन्यास उभरता जिसे हम अपना लेते। इस गड़बड़ी को रोकने के लिए अभिनेता को दिखाने की क्रिया में कुछ कलात्मक निपुणता का परिचय देना होगा। एक उदाहरण से इसे समझने में मदद मिलेगी। यदि हम उसे सिगार पीने को कहते हैं और फिर यह कल्पना करते हैं कि वह इसे बार-बार उठाता और रखता है जिससे कि नाटक के चरित्र के किसी और खास रवैये का चलता है, तो हमने एक भंगिमा पा ली है जो उसके रवैये यानी अभिनय के रवैये—के आधे भाग को अभिव्यक्त करती है। अब हम यदि इस छवि से हड़बड़ी के किसी तत्व को हटा दें और तने हुए रहने से उसके इंकार में शिथिलता न देखें तो हमारे पास एक ऐसा अभिनेता है जो हमें हमारे, या उसके अपने, विचारों के साथ स्वतंत्र दौड़ने में पूरी तरह सक्षम है।

50

इन छवियों को सम्प्रेषित करने के ढंग में और बदलाव की जरूरत है, और यह भी प्रक्रिया को ज्यादा वास्तविक बनाता है। जिस तरह अभिनेता को अब दर्शकों को यह विश्वास दिलाने की कोशिश नहीं करनी पड़ती कि मंच पर वह नहीं बल्कि लेखक का रचित पात्र खड़ा है, उसी तरह उसे अब यह दिखावा करने की जरूरत नहीं रह जाती कि मंच पर हो रही घटनाओं का कभी रिहर्सल नहीं किया गया है और ये अभी पहली बार हो रही हैं। शिलर की यह परिभाषा अब लागू नहीं होती, कि रैपसोडी गायक को अपनी सामग्री को इस ढंग से लेना होता है जैसे वह पूरी तरह अतीत में हो, जबकि वह खुद उसकी नकल करता है, पूरी तरह यहां और अभी।[2] उसके पूरे प्रदर्शन के दौरान यह स्पष्ट पता चलना चाहिए कि 'शुरू तथा मध्य में भी उसे पता है कि इसका अन्त कैसे होना है' और उसे 'इस तरह लगातार एक शांत स्वतंत्रता बनाये रखनी चाहिए'। वह हमेशा अपने पात्र की कहानी सजीव चित्रण द्वारा बयान करता है, जबकि वह खुद इससे ज्यादा जानता होता है, और इसके 'यहां' तथा 'अभी' को खेल के नियमों द्वारा सम्भव बनाये गया दिखावे के रूप में नहीं लेता, बल्कि एक ऐसी चीज के रूप में देखता है जो कल से, तथा किसी और जगह से भिन्न है, ताकि घटनाओं को बांधने वाला सूत्र दिखाई दे सके।

51

इसका खासकर बड़े पैमाने की घटनाओं या ऐसी घटनाओं के चित्रण में महत्व होता है जिनमें बाहरी दुनिया एक झटके से बदल जाती है, जैसे युद्धों और क्रान्तियों में। तब दर्शक के सामने पूरी स्थिति और पूरा घटनाक्रम पेश किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, वह एक स्त्री को बोलते सुनता है और कल्पना में कुछ सप्ताह बाद उसे भिन्न तरीके से बोलते हुए, या कई स्त्रियों को उसी क्षण में, पर एक अन्य स्थान पर भिन्न ढंग से बोलते हुए कल्पना करता है। यह सम्भव हो सकता है अगर अभिनेत्री अपनी भूमिका इस ढंग से निभाए जैसे कि वह स्त्री उस पूरे दौर से गुजर चुकी हो और अब अपनी याददाश्त तथा आगे जो कुछ हुआ, उसकी जानकारी के आधार पर अपने उन उद्‌गारों को याद कर रही हो जो उस समय महत्वपूर्ण थे, क्योंकि यहां उसी का महत्व है जो महत्वपूर्ण बन गया। इस प्रकार एक व्यक्ति को पृथक करना—'यह व्यक्ति विशेष' और 'इस समय विशेष में यह व्यक्ति विशेष' के रूप में —तभी सम्भव है जब अभिनेता के पात्र के और प्रदर्शन के वास्तविक घटना के साथ एकरूप होने के बारे में कोई भ्रम न रहे।

52

हम देखेंगे कि इसके परिणामस्वरूप एक और भ्रम खत्म हो जाता है, कि हर कोई सम्बन्धित पात्र की तरह बर्ताव करता है। 'मैं यह कर रहा हूं' बन गया है 'मैंने यह किया' और अब 'उसने यह किया' को यह बनना ही है कि 'उसने यह किया, जब वह कुछ और भी कर सकता था।' यह बेहद सरलीकरण होगा यदि हम कार्रवाइयों को पात्र पर फिट करेंगे और पात्र को कार्रवाइयों में फिट करेंगे। वास्तविक लोगों की कार्रवाइयों और चरित्रों में जो असंगतियां पाई जाती हैं, उन्हें इस तरह से नहीं दिखाया जा सकता। समाज की गति के नियम 'पूर्ण उदाहरणों' के द्वारा नहीं प्रदर्शित किये जाते क्योंकि 'अपूर्णता' (असंगति) गति और गतिमान वस्तु का एक अनिवार्य अंग है। यह जरूरी है—बल्कि बिलकुल जरूरी है—कि कुछ न कुछ प्रयोगात्मक स्थितियों की ओर बढ़ाव होना चाहिए, यानी बीच-बीच में किसी प्रति-प्रयोग की संभावना बनी रहनी चाहिए। कुल मिलाकर यह समाज को इस तरह से देखने का एक ढंग है जैसे कि इसकी सभी कार्रवाइयां प्रयोगों के तौर पर की गई हों।

53

अगर तदनुभूति या पात्र के साथ आत्म-तादात्म्य में लिप्त होना रिहर्सल के दौरान उपयोगी हो सकता है (जिससे प्रदर्शन के दौरान बचा जाना चाहिए), तो भी इसे प्रेक्षण की कई पद्धतियों में से एक के रूप में ही लिया जाना चाहिए। रिहर्सल में इससे मदद मिलती है क्योंकि हालांकि समकालीन थिएटर ने अविवेकपूर्ण तरीके से इसका इस्तेमाल किया है, फिर भी इसने व्यक्तित्व के सूक्ष्मता से निरूपण में मदद की है। लेकिन तदनुभूति के सबसे कच्चे रूपों में से यह होता है जब अभिनेता सीधे पूछता है: अगर ऐसा या वैसा मेरे साथ हुआ होता तो मैं क्या करता? अगर मुझे ऐसा कहना या वैसा करना हो तो मैं कैसा दिखूंगा? इसके बजाय उसे पूछना चाहिए : क्या मैंने किसी को ऐसा कहते या वैसा करते देखा है? कथानक के अनुरूप एक नया चरित्र निर्मित करने के लिए सभी तरह के जरूरी तत्वों को जोड़ने के लिए उसे और भी बहुत कुछ पूछना चाहिए। वास्तव में पात्र की सुसंगतता उस ढंग में उजागर होती है जिसमें उसके व्यक्तिगत गुण एक-दूसरे के साथ अन्तरविरोध में होते हैं।

54

प्रेक्षण अभिनय का एक महत्वपूर्ण भाग है। अभिनेता अपने सभी तंतुओं और मांसपेशियों से अपने जैसे दूसरे मनुष्यों का प्रेक्षण करते हुए अनुकृति करता है जो कि साथ-साथ एक दिमागी प्रक्रिया भी होती है। क्योंकि शुद्ध अनुकृति केवल वही चीज सामने लायेगी जिसका प्रेक्षण किया गया है, और यह पर्याप्त नहीं है क्योंकि मूल जो भी कहता है, काफी दबी जबान से कहता है। एक कैरिकेचर के बजाय वास्तविक चरित्र हासिल करने के लिए, अभिनेता लोगों को ऐसे देखता है, मानो वे उसे अपने कृत्यों पर ध्यानपूर्वक नजर डालने की सलाह दे रहे हों।

55

अपने मतों और उद्देश्यों के बिना कोई कुछ भी प्रस्तुत नहीं कर सकता। जानकारी के बिना कोई कुछ दिखा नहीं सकता। कोई यह कैसे जानेगा कि क्या चीज जानने योग्य है? अगर कोई अभिनेता महज तोता या बंदर बनकर ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहता तो उसे मानव समाज के जीवन के हमारे युग के ज्ञान की समझ हासिल करनी चाहिए। और यह सबसे अच्छे ढंग से वर्गों के युद्ध में खुद शामिल होकर किया जा सकता है। कुछ लोगों को यह स्तर से नीचा गिरना लग सकता है क्योंकि उनकी नजर में कला (पैसे का मामला तय हो जाने के बाद) का स्थान बहुत ऊंचा होता है। लेकिन वास्तव में इंसानियत के सबसे ऊंचे फैसले धरती पर लड़कर तय किये जाते हैं, आसमान में नहीं। इनका निर्णय 'बाहरी' दुनिया में होता है, लोगों

के मन में नहीं। कोई भी युद्धरत वर्गों से ऊपर नहीं रह सकता, क्योंकि कोई भी इन्सानियत से ऊपर नहीं रह सकता। जब तक समाज वर्गों में बंटा है, इसमें सम्प्रेषण की कोई आम प्रणाली नहीं हो सकती। इसलिए कला के 'अराजनीतिक' होने का मतलब केवल यही होता है कि वह 'शासक' गुट की सहयोगी बन जाये।

56

इसलिए दृष्टिकोण के चुनाव का प्रश्न भी अभिनेता की कला का एक प्रमुख तत्व है और इसका निर्णय थिएटर के बाहर होना होता है। प्रकृति के रूपान्तरण की तरह समाज का रूपान्तरण भी एक मुक्तिकारी कार्य है। और वैज्ञानिक युग के थिएटर को मुक्ति के आनन्द को सम्प्रेषित करना हैं।

57

आइए, देखते हैं कि, उदाहरण के लिए यह दृष्टिकोण अभिनेता द्वारा अपनी भूमिका की व्याख्या को कैसे प्रभावित करता है। ऐसे में यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि उसे बहुत जल्दी ही यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं 'समझ गया'। अगर वह एकदम ही अपनी भूमिका के लिए सबसे स्वाभाविक स्वरारोह, बोलने का सबसे कम अटपटा ढंग तय कर लेता है, तब भी वह इसके वास्तविक उच्चारण को आदर्श रूप से स्वाभाविक नहीं मान सकता। बल्कि उसे दुबारा सोचना चाहिए और अपनी आम सम्मतियों को ध्यान में रखना चाहिए, और फिर विभिन्न अन्य सम्भावित उच्चारणों पर विचार करना चाहिए। संक्षेप में, उसे अटकलें लगाते रहने वाले व्यक्ति का रवैया अपनाना चाहिए। इसका उद्देश्य उसे समय से पहले ही किसी पात्र विशेष को किसी चौखटे में बांध देने से रोकना है, ताकि बाद में आये विचार उसमें ठूंसने न पड़ें, महज इसलिए क्योंकि उसने अन्य सभी उच्चारणों, खासकर दूसरे पात्रों के उच्चारणों पर ध्यान देने के लिए इन्तजार नहीं किया। साथ ही और मुख्य रूप से इसका उद्देश्य पात्र में 'नहीं—लेकिन...' के तत्व का समावेश करना होता है। यदि दर्शकों के रूप में उपस्थित समाज घटित होने वाली घटनाओं को इस ढंग से देख पाता है जो उसे प्रभावित करने में सक्षम हो, तो इस तत्व पर बहुत कुछ निर्भर करता है। इसके अलावा, हर अभिनेता को, जो उसे अनुकूल लगे, उसी पर ध्यान केन्द्रित करने और इसे 'मानव स्वभाव' कहने के बजाय, इस सबसे ऊपर उठना चाहिए क्योंकि जो उसके अनुकूल नहीं है, वह उसकी विशेषता नहीं है। और अपनी भूमिका के साथ-साथ उसे अपनी पहली प्रतिक्रियाओं, आपत्तियों, आलोचनाओं और झटकों को याद कर लेना चाहिए ताकि वे अन्तिम रूपान्तरण में गायब न हो जायें बल्कि बची रहें और पहचानी जा सकें, क्योंकि पात्र तथा पूरे परिवेश को दर्शकों पर हावी नहीं होना चाहिए, बल्कि उन्हें चौंकाना चाहिए।

58

और सीखने की प्रक्रिया समन्वित होनी चाहिए ताकि अभिनेता अन्य अभिनेताओं के साथ-साथ सीखे और अपने पात्र को उनके साथ-साथ विकसित करे। क्योंकि लघुतम सामाजिक इकाई एक व्यक्ति नहीं बल्कि दो लोग होते हैं। जीवन में भी हम एक-दूसरे को विकसित करते हैं।

59

यहां हम अपने थिएटर की इस निन्दनीय आदत से सीख सकते हैं जिसमें मुख्य अभिनेता, यानी स्टार, को ही उभारने के लिए बाकी सारे अभिनेताओं को उसके लिए काम करना पड़ता है। वह अपने पात्र को भयंकर या बुद्धिमान बनाने के लिए अपने साथी अभिनेताओं को भयभीत या अपने प्रति दत्तचित्त होने के लिए बाध्य करता है।

इस लाभ को सभी को उपलब्ध कराने के लिए और इस तरह कथानक की मदद करने के लिए, अभिनेताओं को रिहर्सल के दौरान कभी-कभी अपने साथियों के साथ भूमिकाओं की अदला-बदली कर लेनी चाहिए ताकि पात्रों को एक-दूसरे से काफी कुछ मिल सके। अभिनेता भी जब अपने पात्र की अनुकृति होते या किसी दूसरे रूप में प्रस्तुति होते देखते हैं तो उन्हें इससे मदद मिलती है। यदि किसी पात्र को विपरीत लिंग के अभिनेता द्वारा निभाया जाता है तो स्त्री या पुरुष के रूप में पात्र की विशेषता और उभरकर सामने आयेगी। यदि कोई हास्य अभिनेता इसे निभाता है, चाहे हास्यपूर्ण ढंग से या त्रासदीपूर्ण ढंग से निभाए, तो इसके कुछ नये आयाम खुलेंगे। अपने पात्र के साथ अन्तरक्रिया करने वाली भूमिकाओं को विकसित करने में मदद करके या किन्हीं भी दूसरे अभिनेताओं की भूमिकाएं निभाकर अभिनेता उस सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक दृष्टिकोण को मजबूत करता है, जहां से उसे अपने पात्र को प्रस्तुत करता है।

60

जब एक पात्र को नाटक के अन्य पात्रों के बीच उतारा जाता है तो उसे विकसित करने के लिए कई काम किये जाते हैं। और अभिनेता को यह याद करना होगा कि उसने नाटक के पाठ को पढ़ते समय इस सिलसिले में क्या अनुमान किया था। लेकिन अब नाटक के पात्रों का उसके साथ जो व्यवहार होता है, उससे वह अपने बारे में बहुत कुछ जान जाता है।

61

पात्रों द्वारा एक-दूसरे के प्रति अपनाये जाने वाले रवैयें के क्षेत्र को ही हम 'जेस्ट (gest) का क्षेत्र कहते हैं। शारीरिक मुद्रा, आवाज का टोन और चेहरे के भाव सब एक सामाजिक 'जेस्ट' के द्वारा निर्धारित होते हैं जैसे पात्र एक-दूसरे को गालियां दे रहे हैं, खुशामद कर रहे हैं या निर्देश दे रहे हैं, आदि। लोग एक-दूसरे के प्रति जो रवैये अपनाते हैं उनमें वे रवैये भी शामिल होते हैं जो बिलकुल निजी प्रतीत होते हैं, जैसे बीमारी में दर्द की कराह या धार्मिक आस्था का उद्गार। 'जेस्ट' की ये अभिव्यक्तियां आम तौर पर काफी जटिल और अन्तरविरोधी होती हैं, इसलिए उन्हें एक शब्द में व्यक्त नहीं किया जा सकता और अभिनेता को यह ध्यान रखना चाहिए कि अपने पात्र की छवि पर आवश्यक बल देने में वह कोई चीज खोये नहीं, बल्कि समूची संरचना पर बल दे।

62

अभिनेता अपने किरदार के अनेक कथनों, और साथ ही उसके समकक्षों और अन्य सभी किरदारों के कथनों की ओर आलोचनात्मक ढंग से ध्यान देकर अपने किरदार को निभाने में महारत हासिल कर सकता है।

63

'जेस्टस'[1] की अन्तरवस्तु की समस्या को समझने के लिए एक आधुनिक नाटक, मेरे ही लिखे *लाइफ आफ गैलीलियो* के शुरुआती दृश्यों को देखते हैं। चूंकि हम साथ ही यह पता लगाना चाहते हैं कि विभिन्न कथन एक-दूसरे के बारे में क्या जानकारी देते हैं, इसलिए हम यह मान कर चल रहे हैं कि यह इस नाटक से हमारा पहला परिचय नहीं है। पहले दृश्य में हम देखते हैं कि गैलीलियो, (उम्र छियालीस वर्ष) सुबह-सुबह दूध पीते हुए हाथ-मुंह धो रहा है, और बीच-बीच में किताबों के पन्ने पलट रहा है तथा आन्द्रिया सार्ती नाम के छोटे लड़के को सौर मण्डल के बारे में बता रहा है। इसे अभिनीत करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि नाटक जिस दृश्य के साथ समाप्त होता है उसमें गैलीलियो अठहत्तर वर्ष का है और अपने उसी शिष्य को हमेशा के लिए विदा

करने के बाद रात का खाना खा रहा है। इस उम्र में वह इस बुरी तरह बदल चुका है कि यह बदलाव महज लम्बा अरसा बीतने का परिणाम नहीं हो सकता। वह असंयमित लालच के साथ भोजन पर टूट पड़ता है और उसके दिमाग में दूसरा कोई विचार नहीं होता। अपने शैक्षणिक मिशन का उसने शर्मनाक हालात में परित्याग कर दिया है, जैसे वह कोई बोझ हो। यह वही आदमी है जो कभी निहायत बेफिक्री से सुबह का दूध पीता था और उसे लालच था बच्चे को सिखाने का। लेकिन क्या वह वाकई बेफिक्री से पीता है? क्या दूध पीने और हाथ-मुंह धोने में उसे आनन्द नहीं मिल रहा है। आनन्द, जो उसे नये विचारों से मिलता है। भूलिये मत उसकी सोच अपने प्रति आसक्ति से निकलती है।... यह अच्छी बात है या बुरी? मैं आपको इसे अच्छे रूप में प्रस्तुत करने की सलाह दूंगा क्योंकि इस बिन्दु पर नाटक में ऐसा कुछ भी नहीं है जो समाज को नुकसान पहुंचाए, और खासकर तब जब, मुझे आशा है, कि आप वैज्ञानिक युग की एक साहसी सन्तान हैं। लेकिन यहां ध्यान रखिए। इस सिलसिले में कई भंयकर चीजें घटित होने जा रही हैं। यह तथ्य कि वह व्यक्ति जो नये युग का अभिनन्दन करता है, अन्त में इस युग से यह अनुनय करने के लिए विवश कर दिया जायेगा कि उसे एक निन्दनीय व्यक्ति के रूप में अस्वीकार कर दिया जाए। यह सब प्रासंगिक होगा। जहां तक सिखाने की बात है, आप यह तय कर सकते हैं कि उस आदमी के दिल में इतनी बातें भरी हैं कि वह किसी से भी, एक बच्चे तक से बात करने के लिए उत्सुक है, या फिर ऐसा है कि बच्चा उसे जानने और रुचि दिखाने के जरिए उससे ज्ञान की बातें कहला ले रहा है। या ऐसा है कि दोनों ही अपने को रोक नहीं पा रहे हैं, एक सवाल पूछने से और दूसरा जवाब देने से। ऐसा करीबी बंधन ध्यान खींचेगा, क्योंकि एक दिन यह झटके से टूट जाने वाला है। जाहिरा तौर पर आप चाहेंगे कि सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के चक्कर लगाने का यह प्रदर्शन जल्दी से खत्म हो जाये क्योंकि यह मुफ्त किया जा रहा है, और अब अपरिचित पर धनी शिष्य का प्रवेश होता है, जो वैज्ञानिक (गैलीलियो) के समय की कीमत चुकाता है। उसकी कोई दिलचस्पी नहीं है, लेकिन उस पर ध्यान देना जरूरी है। गैलीलियो के पास संसाधनों की कमी है, इसलिए वह धनी शिष्य और बुद्धिमान शिष्य के बीच खड़ा होकर सोचता है, आह भरते हुए निर्णय करता है। उसके पास अपने नये शिष्य को सिखाने के लिए कुछ खास नहीं है, इसलिए वह उससे सीखता ही है। वह हालैंड में आविष्कृत टेलेस्कोप के बारे में सुनता है और सुबह के अपने काम में आई इस बाधा से वह अपने ढंग से कुछ पा लेने की कोशिश करता है। युनिवर्सिटी के रेक्टर का आगमन होता है।

वेतन बढ़ाने के लिए गैलीलियो का आवेदन खारिज कर दिया गया है। युनिवर्सिटी धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों के बजाय भौतिकी के सिद्धान्तों के लिए इतना अधिक धन देने को तैयार नहीं है। वे चाहते हैं कि गैलीलियो, जो वैसे भी शोधवृत्ति के आम तौर पर स्वीकार्य निम्न स्तर पर ही काम कर रहे हैं, जल्द से जल्द कोई उपयोगी चीज प्रस्तुत करें। जिस ढंग से वह (गैलीलियो) अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, उससे आप समझ सकते हैं कि उसे इंकार सुनने और अपनी बातों को संशोधित किये जाने की आदत हो गई है। रेक्टर उसे ध्यान दिलाता है कि रिपब्लिक भले ही कम पैसे देता हो, पर वह अनुसंधान की स्वतंत्रता तो उपलब्ध कराता है। वह जवाब देता है कि अगर उसके पास अच्छे वेतन के कारण उपलब्ध होने वाला खाली समय न हो तो वह इस स्वतंत्रता का कोई खास उपयोग नहीं कर पायेगा। यहां आप देखेंगे कि उसका अधैर्य अटल नहीं है वरना उसकी गरीबी पर उचित ध्यान नहीं दिया जायेगा। क्योंकि थोड़ी ही देर बाद आप उसे ऐसी बातें सोचते हुए पाते हैं जिन्हें समझना थोड़ा मुश्किल है : वैज्ञानिक सत्य के नये युग का उद्घोषक यह सोच रहा है कि टेलेस्कोप को अपने आविष्कार के रूप में प्रस्तुत करके रिपब्लिक से कैसे कुछ पैसे ठग लिये जायें। आप यह सुनकर हैरान रह जायेंगे कि इस नये आविष्कार में उसे बस कुछ स्कूडी (रोमन मुद्रा -अनु.) ही दिखाई दे रहे हैं, और वह इसका निरीक्षण सिर्फ इसे हड़प लेने के लिए करता है। लेकिन अगले दृश्य में आप देखते हैं कि वह वेनिस के गणमान्य नागरिकों को यह आविष्कार झूठों से भरे वक्तव्य के साथ बेचते हुए खुद अपने को नीचे गिरा रहा है। लेकिन इस समय तक वह पैसे की बात करीब-करीब भूल चुका है क्योंकि उसने समझ लिया है कि इस उपकरण का सैनिक ही नहीं बल्कि खगोलशास्त्रीय महत्व भी है। यह वस्तु जिसे बनाने के लिए उसे ब्लैकमेल किया गया, (हम इसे यही कह सकते हैं) उसी अनुसंधान के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होती है, इसको बनाने के लिए जिसे बीच में छोड़ना पड़ा था। समारोह के दौरान एक ओर वह स्वयं को दिये जा रहे अनर्जित सम्मान को चुपचाप स्वीकार करता है, दूसरी ओर वह अपने विद्वान मित्र को शानदार खोजों की सम्भावना के बारे में बताता है—और वह जिस नाटकीय ढंग से ऐसा करता है, उसे अनदेखा मत कीजिए—मिलने वाले आर्थिक लाभ के विचार की तुलना में आप उसमें कहीं ज्यादा गहरा उत्साह देखें। शायद इस ढंग से देखने पर उसके फरेब का भी ज्यादा अर्थ नहीं रह जाता, लेकिन इससे यह तो पता चलता है कि यह आदमी आसान रास्ता लेने और अपने विवेक को उत्कृष्ट ढंग के साथ-साथ घटिया ढंग से भी इस्तेमाल करने के लिए कितना कृतसंकल्प है। आगे उसकी और भी महत्वपूर्ण परीक्षा होनी है, और क्या हर समझौता अगले समझौते को और करीब नहीं ले आता?

64

ऐसी सामग्री को विखंडित करके एक के बाद एक 'जेस्ट' में ढालते हुए, अभिनेता पहले 'कथानक' में महारत हासिल करने के जरिए अपने किरदार में महारत हासिल कर लेता है। पूरे दृश्यबंध पर ठीक से काम करने के बाद ही वह मानो एक छलांग में अपने किरदार को, उसके सभी विशिष्ट गुणों के साथ पकड़ सकता है। एक बार जब वह इसके विभिन्न रवैयों में निहित असंगतियों से चकित रह जाने की पूरी कोशिश कर चुकता है, यह जानते हुए कि बदले में उसे इनसे दर्शकों को भी चकित करना है, तो समग्रता में कथानक उसे असंगतियों को एक डोर में बांधने का मौका देता है, क्योंकि एक सीमित प्रसंग होने के चलते, कथानक का, एक विशिष्ट बोध होता है, यानी यह पैदा की जा सकने वाली दिलचस्पी के एक विशिष्ट हिस्से को सन्तुष्ट करता है।

65

सबकुछ 'कथानक' पर निर्भर करता है। यह नाट्य प्रदर्शन की धड़कन है। क्योंकि लोगों के *बीच* जो कुछ घटता है, वही अभिनेता को चर्चा करने, आलोचना करने और परिवर्तन करने की सामग्री उपलब्ध कराता है। यदि अभिनेता द्वारा अभिनीत व्यक्ति-विशेष को अंततः एक से ज्यादा प्रसंगों में भी आना हो, तो ऐसा मुख्यतः इसलिए है क्योंकि यदि कोई प्रसंग एक व्यक्ति-विशेष में पूर्णता तक पहुंचता है तो वह और भी ज्यादा विस्मयकारी होगा। 'कथानक' थिएटर की बड़ी कार्रवाई है : तमाम 'जेस्टिक' घटनाओं की वह समूची संरचना है जो सम्प्रेषणों और संवेदों को समेटते हुए, दर्शकों का मनोरंजन करती है।

66

हरेक घटना का अपना एक बुनियादी जेस्ट है : *रिचर्ड ग्लॉस्टर अपना शिकार बने व्यक्ति की विधवा से प्रणय निवेदन करता है। बच्चे की वास्तविक मां का पता खड़िया के घेरे*

के जरिए लगाया जाता है। ईश्वर डा. फाउस्टस की आत्मा के लिए शैतान के साथ शर्त बदता है। वायजेक अपनी पत्नी की हत्या करने के लिए एक सस्ता चाकू खरीदता है, आदि। मंच पर पात्रों का समूहन और इन समूहों की गति इस तरह से होनी चाहिए कि आवश्यक सौन्दर्य सबसे बढ़कर उस लालित्य से पैदा होना चाहिए जिसके साथ उस जेस्ट को सम्प्रेषित करने वाली सामग्री दर्शकों के सामने प्रस्तुत की जाती है।

67

चूंकि हम दर्शकों को यह नहीं कह सकते कि वे कथानक में इस तरह छलांग मार दें जैसे कि वह कोई नदी हो और खुद को उसके साथ यूं ही इधर-उधर बहने दें, इसलिए अलग-अलग प्रसंगों को इस तरह जोड़ा जाना चाहिए कि जोड़ आसानी से नजर आ जायें। ऐसा नहीं होना चाहिए कि एक के बाद दूसरे प्रसंग के आने का पता ही न चले, बल्कि दर्शकों को बीच-बीच में किसी फैसले पर पहुंचने का मौका मिलना चाहिए। कथानक के अलग-अलग हिस्सों में से हरेक को नाटक के भीतर के नाटक की संरचना देकर इन को ध्यानपूर्वक एक-दूसरे के विरुद्ध रखना होगा। इस उद्देश्य के लिए बेहतर होगा कि हर प्रसंग के उस तरह के शीर्षक दिये जायें जैसे पिछले पैराग्राफ में दिये गये हैं। शीर्षकों को एक सामाजिक दृष्टिकोण को भी दर्शाना चाहिए—इसे लोकप्रिय पुट देने के लिए इसमें अखबारी शैली, या लोकगान या दृष्टांत का इस्तेमाल किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, किसी चीज को अपरिचित (पृथक) बनाने का एक सरल तरीका प्रथाओं और नैतिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित है। किसी का आना, किसी शत्रु के साथ बर्ताव, प्रेमियों की मुलाकात, राजनीतिक या व्यापारिक समझौता—इन सबको इस तरह चित्रित किया जा सकता है जैसे वे सामान्य सिद्धान्तों के उदाहरण मात्र हों। इस तरह दिखाये जाने पर विशिष्ट और एक ही बार हुई घटना परेशान करने लगती है क्योंकि वह ऐसी दीख पड़ती है मानो कोई आम बात हो, कोई ऐसी बात हो जो सिद्धान्त का रूप ले चुकी हो। जैसे ही हम यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या वास्तव में इसे वैसा ही होना चाहिए था, या इसे किस तरह होना चाहिए था, हम उस घटना को अपरिचित के रूप में देख रहे होते हैं। इतिहास को देखने का काव्यात्मक नजरिया मेलों में होने वाली नौटंकियों के तथाकथित दृश्यपटलों में देखा जा सकता है। चूंकि इसी तरह पार्थक्य का मतलब भी एक तरह की प्रसिद्धि होता है, इसलिए कुछ घटनाओं को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जैसे वह प्रसिद्ध हों, जैसे उन्हें लम्बे समय से लोग जानते रहे हों। और यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि उन्हें और आगे संचारित करने में जरा भी बाधा न पड़े। संक्षेप में, किसी कथा को कहने के अनेक कल्पनीय तरीके हैं, जिनमें से कुछ ज्ञात हैं और कुछ को खोजा जाना है।

68

क्या चीज पृथक की जानी चाहिए और इसे कैसे किया जाये, यह इस पर निर्भर करता है कि पूरे प्रसंग को किस तरह के प्रतिपादन की आवश्यकता है। और यहीं पर थिएटर को अपने समय के हितों के लिए निर्णायक रूप से बोलना होता है। ऐसे प्रतिपादन के लिए हम एक पुराने नाटक 'हैमलेट' का उदाहरण लेते हैं। आज जिस अंधेरे और खूनी समय में मैं लिख रहा हूं—अपराधी शासक वर्ग; विवेक की शक्ति, जिसका लगातार दुरुपयोग हो रहा है, में व्यापक संदेह—ऐसे में मैं सोचता हूं कि मैं इस कहानी को इस ढंग से पढ़ सकता हूं : यह योद्धाओं का काल है। हैमलेट के पिता, डेनमार्क के राजा ने लूटमार के लिए हुए सफल युद्ध में नार्वे के राजा को मार दिया। उसका बेटा फोर्टिनब्रास बदले की लड़ाई के लिए सेना तैयार कर रहा होता है कि इसी बीच डेनिश राजा की उसका अपना भाई हत्या कर देता है। मारे गये राजा के भाई, जो अब खुद राजा बन गये हैं, युद्ध टालने के लिए यह समझौता करते हैं कि नार्वे के सैनिक पोलैण्ड पर हमला करने के लिए डेनमार्क की धरती से होकर गुजर सकते हैं। लेकिन इसी बिन्दु पर युवा हैमलेट के योद्धा पिता का भूत उसे अपने विरुद्ध हुए अपराध का बदला लेने के लिए कहता है। शुरू में हैमलेट एक खूनी कृत्य का जवाब दूसरे खूनी कृत्य से देने से हिचकिचाता है और यहां तक कि देश छोड़कर जाने की भी तैयारी करता है, लेकिन पोलैण्ड पर हमला करने के लिए जाते हुए फोर्टिनब्रास से समुद्र तट पर उसकी मुलाकता हो जाती है। उसके योद्धा-रूप का उदाहरण उसपर इस कदर हावी हो जाता है कि वह वापस लौटता है और बर्बर ढंग से अपने चाचा, मां और खुद को मार डालता है और डेनमार्क नार्वे के हवाले हो जाताा है। ये घटनाएं दिखाती हैं कि यह दिलेर युवक विटेनबर्ग विश्वविद्यालय में सीखे हुए विवेक के प्रति नये रुख का बिलकुल गलत इस्तेमाल कर रहा है। विश्वविद्यालय से वह जिस सामंती माहौल में लौटता है, वहां यह रुख उसे बाधित करता है। अतार्किक रिवाजों का सामना होने पर उसका विवेक पूरी तरह अव्यावहारिक सिद्ध होता है। वह ऐसे विवेक और ऐसे कार्यों के बीच की विसंगति का त्रासद ढंग से शिकार हो जाता है। मेरे ख्याल से इस नाटक को, जिसे एक से ज्यादा ढंग से पढ़ा जा सकता है, पढ़ने का यह ढंग हमारे दर्शकों की दिलचस्पी जगा सकता है।

69

साहित्य उन्हें सफलताओं के रूप में प्रस्तुत करे या नहीं, लेकिन आगे की ओर हर कदम, प्रकृति से हर वह मुक्ति जिसने उत्पादन को गति दी और समाज के रूपांतरण का मार्ग प्रशस्त किया, अपनी जिंदगी बेहतर बनाने के लिए इंसानियत ने किसी नई दिशा में जो भी नई खोजें की हैं, वे हममें आत्मविश्वास और जीत में विश्वास जगाती हैं और हमें हर चीज में परिवर्तन की सम्भावनाओं में आनन्द लेने योग्य बनाती हैं। गैलीलियो इसे इस तरह अभिव्यक्त करता है : ''पृथ्वी पर अनवरत घटित होते रहने वाले परिवर्तनों और बदलती पीढ़ियों की विराट संख्या और विविधता को देखते हुए मैं सोचता हूं कि यह धरती अत्यन्त अद्‌भुत और महान है।''

70

कथानक का प्रतिपादन और पार्थक्य के उचित तरीकों से इसका सम्प्रेषण थिएटर का मुख्य कार्य है। सबकुछ अभिनेता पर निर्भर नहीं करता, हालांकि उसपर ध्यान दिये बिना कुछ नहीं हो सकता। अभिनेता, मंच सज्जाकार, रूप सज्जाकार, वेशभूषाकार, संगीत निर्देशक और नृत्य निर्देशक—इन सबके सम्मिलित प्रयास से थिएटर कथानक को सामने लाता है और दर्शकों के सामने खोलता है। वे अपनी विविध कलाओं को इस संयुकत कार्रवाई में एकीकृत करते हैं, लेकिन जाहिरा तौर पर इस प्रक्रिया में वे अपनी स्वतंत्रता का त्याग नहीं करते हैं।

71

यह प्रदर्शन के आम 'जेस्ट' पर बल देता है, जो हमेशा ही मंच पर दिखाई जा रही चीज के मूल में बना रहता है, उस समय भी जब दर्शकों को गीतों के माध्यम से संगीतमय ढंग से सम्बोधित किया जा रहा हो। इसलिए अभिनेताओं को सहज ढंग से गाने नहीं लग जाना चाहिए, बल्कि इसे बाकी पाठ से स्पष्टत: अलग चिह्नित करना चाहिए, और यह सबसे अच्छी तरह लाइटिंग में बदलाव लाने या कोई शीर्षक डाल देने जैसी कुछ नाटकीय विधियों के द्वारा किया जा सकता है। संगीत को भी नाटक में घुलमिल जाने की प्रवृत्ति का सख्ती से विरोध करना होगा जिसकी उससे आम तौर पर अपेक्षा की जाती है और जो उसे महज एक विचारहीन दास में बदल देती है। संगीत केवल

टिप्पणी के रूप में ही 'संगत' दे सकता है। यह महज उन भावनाओं को प्रकट करके 'खुद को अभिव्यक्त' नहीं कर सकता जो नाटक की घटनाएं उसमें भरती हैं। जैसे, उदाहरण के लिए (हांस) आइसलर ने *गैलीलियो* में घटनाओं को आपस में जोड़ने में सराहनीय मदद की। कार्निवाल वाले दृश्य में उन्होंने गिल्डों (दस्तकार संघों) के जुलूस के लिए एक विजयोल्लसित और भयकारी संगीत तैयार किया जो निचले तबकों द्वारा विद्वान (गैलीलियो) के खगोलशास्त्रीय सिद्धान्तों को दिये गये एक हद तक क्रान्तिकारी मोड़ को जाहिर करता है। इसी तरह *खड़िया का घेरा* में गायक नौकरानी द्वारा बच्चे को बचाने का वर्णन करने के लिए गाने का एक ठण्डा और भावनाविहीन ढंग अख्तियार करता है, जबकि ठीक इसी समय यह दृश्य मंच पर मूकाभिनय से दर्शाया जा रहा है और इस तरह एक ऐसे समय की भयावहता को उजागर करता है जब मातृसुलभ नैसर्गिक भावनाएं एक आत्मघाती कमजोरी बन जाती हैं। इस तरह संगीत कई तरीकों से और पूरी स्वतंत्रता के साथ अपनी बात कह सकता है, और उठाये गये विषयों पर अपने ढंग से प्रतिक्रिया कर सकता है। साथ ही यह मनोरंजन में विविधता पैदा करने में तो मददगार होता ही है।

72

जिस तरह संगीत निर्देशक फिर से अपनी स्वतंत्रता हासिल करता है क्योंकि अब उसे माहौल तैयार नहीं करना है जो दर्शकों को मंच पर हो रही घटनाओं में खुद को पूरी तरह डुबा देने में मदद करे, इसी तरह मंच सज्जाकार को भी काफी स्वतंत्रता मिल जाती है। क्योंकि अब उसे सेट तैयार करने में किसी कक्ष या स्थान विशेष का भ्रम नहीं पैदा करना है। उसके लिए संकेत देना ही काफी है, हालांकि इन्हें इतना प्रभावी होना चाहिए कि वास्तविक सेटिंग के मुकाबले ऐतिहासिक या सामाजिक दृष्टि से कहीं ज्यादा अर्थपूर्ण बात कह सकें। मास्को के यहूदी थिएटर में *किंग लियर* में पार्थक्य प्रभाव एक ऐसे ढांचे से पैदा किया गया था जो एक मध्यकालीन खेमे जैसा लगता था। (कास्पर) नेहर ने *गैलीलियो* के सेट की पृष्ठभूमि में नक्शों, दस्तावेजों और पुनर्जागरणकालीन कलाकृतियों का इस्तेमाल किया था। पिस्केटर थिएटर में *हाइटैंग एरवाख्ट* नाटक के लिए हार्टफील्ड ने दोनों तरफ नारे लिखे हुए झण्डों से पृष्ठभूमि तैयार की थी। इनका इस्तेमाल राजनीतिक हालात में होने वाले बदलावों को दर्शाने के लिए उलट-पुलट कर किया जाता था जिनसे कई बार मंच पर मौजूद लोग अनभिज्ञ होते थे।

73

नृत्यनिर्देशन के सामने भी कुछ वास्तविक कार्यभार होते हैं। सापेक्षिक रूप से हाल के वर्षों में यह सोचने की गलती हुई है कि इसका लोगों के वास्तविक रूप की प्रस्तुति से कोई लेना-देना नहीं होता। कला जीवन को प्रतिबिम्बित करती है, पर वह विशेष दर्पणों से ऐसा करती है। कला अनुपातों को बदलने से नहीं बल्कि तब अवास्तविक बन जाती है जब वह उन्हें इस ढंग से बदलती है कि अगर दर्शक उसकी प्रस्तुति को विचारों और आवेगों की व्यावहारिक गाइड के रूप में लें तो वास्तविक जीवन में भटक जायें। निश्चित रूप से यह आवश्यक है कि किसी शैली में ढालने से स्वाभाविक तत्व खत्म नहीं होना चाहिए, बल्कि और पनपना चाहिए। और ऐसा थिएटर जहां सबकुछ 'जेस्ट' पर निर्भर करता हो, नृत्यनिर्देशन के बिना चल ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए लयबद्ध गति और लालित्यपूर्ण समूहन पार्थक्य प्रभाव पैदा कर सकते हैं और नवीनतापूर्ण मूकाभिनय कथानक को आगे बढ़ाने में बहुत मदद करता है।

74

इसलिए हम नाटक की सभी सहयोगी कलाओं को आमंत्रित करते हैं, एक ऐसी कलाकृति की रचना करने के लिए नहीं जिसमें वे सब अपने को अर्पित करके विलीन हो जायें, बल्कि इसलिए कि वे नाटक के साथ मिलकर साझा कार्यभार की दिशा में अपने-अपने ढंग से आगे बढ़ें। और एक-दूसरे से उनके सम्बन्ध ऐसे होने चाहिए कि वे एक-दूसरे से पार्थक्य पैदा करने की ओर ले जायें।

75

और यहां हमें एक बार फिर यह याद करना चाहिए कि उनका कार्यभार वैज्ञानिक युग की संतानों का मनोरंजन करना और इस काम को ऐन्द्रिकता और परिहास (ह्यूमर) के साथ करना है। यह ऐसी चीज है जिसमें हम जर्मन लोग काफी पीछे हैं, क्योंकि हमारे लिए हर चीज आसानी से निस्सार और अप्राप्य हो जाती है, और हम *वेल्टनशाउंग* की बात करने लगते हैं जबकि जिस दौर की बात है, वह खत्म हो चुका होता है। यहां तक कि भौतिकवाद भी हमारे लिए एक विचार से ज्यादा कुछ नहीं है। हमारे लिए कामक्रीड़ा का आनन्द वैवाहिक जिम्मेदारियों में बदल जाता है, कला का आनन्द आम संस्कृति के अधीन ही रहता है और सीखने से हमारा मतलब खोजने-अन्वेषण करने की एक आनन्ददायी प्रक्रिया नहीं बल्कि मजबूरी में किसी चीज में नाक घुसेड़ देना होता है। हमारी गतिविधियों में अन्वेषण के आनन्द के लिए कोई जगह नहीं होती और अगर हम किसी पर असर जमाना चाहते हैं तो हम यह नहीं कहते कि किसी काम में हमें कितना मजा आया बल्कि यह बताते हैं कि उसमें हमें कितनी मेहनत करनी पड़ गई।

76

एक और बात। रिहर्सलों में जो कुछ तैयार किया गया है, उसे दर्शकों तक पहुंचाना। यहां यह जरूरी है कि वास्तविक प्रदर्शन को एक तैयार माल के सौंपे जाने के 'जेस्ट' से लैस होना चाहिए। दर्शक के सामने अब जो प्रस्तुत हो रहा है, वह खारिज होने से बची चीजों में सबसे ज्यादा बार दोहराई गई चीज है, और इसलिए तैयार प्रस्तुतियों को आंखें खुली रहकर पेश किया जाना चाहिए, ताकि उन्हें आंखें खुली रहकर देखा भी जाये।

77

कहने का मतलब, हमारी प्रस्तुतियों का स्थान, जिसे प्रस्तुत किया जा रहा है, यानी मनुष्य के सामाजिक जीवन के बाद ही होना चाहिए और उनकी पूर्णता में अनुभव होने वाले आनन्द को ऐसे उच्चतर आनन्द में तब्दील किया जाना चाहिए जो इस समाज के नियमों को अपूर्ण और अस्थायी के रूप में पेश करने से उपजता है। इस ढंग से थिएटर प्रदर्शन खत्म होने के बाद भी दर्शकों को सार्थक ढंग से प्रभावित रख सकता है। हमें उम्मीद करनी चाहिए कि उनका थिएटर उन्हें जीवित रहने के लिए अपने भयानक और अनवरत श्रम तथा अपने सतत परिवर्तन को मनोरंजन के रूप में लेने का मौका देगा। उन्हें अपने जीवन की सरलतम ढंग से प्रस्तुति करने दिया जाना चाहिए, क्योंकि जीने का सरलतम ढंग कला के साथ जीना है।

अनुवाद **: सत्यम वर्मा**

---

1. 'जेस्ट' (gest) की अवधारणा ब्रेष्ट ने विकसित की जिसका अर्थ है भंगिमा (gesture) और सार (gist), मुद्रा (attitude) और दृष्टिकोण (point) साथ-साथ विकसित करना : दो लोगों के बीच सम्बन्ध के किसी एक पहलू का अलग से अध्ययन करके उसकी बुनियादी विशेषताएं तय करना और उसे शारीरिक या मौखिक रूप से अभिव्यक्त करना।

2. गेटे को लिखा गया पत्र, 26 दिसम्बर, 1797

पॉल रॉबसन के जन्मशती वर्ष के अवसर पर

पॉल रॉबसन और दु बोइस : जिनकी आवाज को दबाया नहीं जा सका

• चार्ल्स डब्ल्यू. चेङ

मुक्ति संग्राम के दो उत्कट योद्धाओं, पॉल रॉबसन और दु बोइस, के इतिहास और दुनिया के पैमाने पर चल रहे मुक्ति संघर्ष में उनके अमूल्य योगदान का उल्लेख करते हुए मुझसे अधिक विद्वान और सक्षम व्यक्तियों द्वारा पहले भी काफी कुछ महत्वपूर्ण लिखा जा चुका है।

इतिहास में उनकी उल्लेखनीय भूमिका के बारे में हुए लेखन पर यहां बहस चलाना मंतव्य नहीं है। हालांकि उन्नीस सौ पचास के दशक में उन पर हुए सरकारी हमले की व्यापकता को समझने के लिए यह चर्चा बहुत जरूरी है। शासन तंत्र द्वारा इस आक्रमण के आधारभूत कारणों को समझने के लिए सबसे पहले उन दोनों व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित विचारों के इर्द-गिर्द हम इस विमर्श को केन्द्रित करेंगे। जैसा कि हम आगे देखेंगे इस अवधि में उनके सार्वजनिक विचारों का सरकार की आधिकारिक नीतियों से तीखा विरोध था।

पॉल रॉबसन के मामले में, जैसा कि उन्होंने अपनी शानदार पुस्तक **'हियर आइ स्टैण्ड'** (Here I Stand) में लिखा है, सरकार के साथ उनकी मुसीबतों की शुरुआत 1949 में पेरिस के विश्व शान्ति सम्मेलन में दिये गये भाषण के सीधे नतीजे के रूप में हुई थी। जून 1956 में हाउस अनअमेरिकन एक्टिविटीज कमेटी के समक्ष बयान देते हुए रॉबसन ने अपने भाषण के मुख्य बिन्दु का सार प्रस्तुत किया था जिसके चलते वे सरकार का कोपभाजन बने :

''...मैं पहले भी कहता रहा हूं कि यह बात मेरी समझ से परे है कि ईस्टलैण्ड के लिए हथियार उठाने वाले लोग किसी व्यक्ति के खिलाफ कैसे हो सकते हैं और महानुभावो! मैं आज भी यही बात कह रहा हूं। मैं समझता हूं अमेरिकियों के लिए इसपर विचार करना हितकर होगा कि नीग्रो लोग ऐसे लोगों का साथ दें अथवा नहीं जो उन्हें अपमानित करते रहे हैं।

''इससे होगा यह कि अमेरिकी सरकार को मिसीसिपी जाना पड़ेगा और मेरे लोगों की हिफाजत करनी पड़ेगी।''[1]

इसी दु:साहसी वक्तव्य के चलते संघीय सरकार ने अंततः रॉबसन का पासपोर्ट रद्द कर दिया। सरकारी कार्रवाई का सबसे बड़ा कारण जाहिरा तौर पर उन्हें अपने विचारों के प्रचार-प्रसार से रोकने का प्रयास था। देश के भीतर, रॉबसन की आवाज दबाने के अभियान में एन.बी.सी. (टीवी चैनल) शामिल हो गया जब उसने एलीनर रूजवेल्ट के साथ टेलीविजन पर दिखाये जाने वाले रॉबसन के पूर्व निर्धारित कार्यक्रम को रद्द कर दिया। वास्तव में, रॉबसन ने अमेरिकी विदेश नीति की बुनियादी मान्यताओं को चुनौती देने की हिम्मत की थी। उदाहरण के लिए, एन.ए.ए.सी.पी. द्वारा अख्तियार किये गये रुख के ठीक उलट रॉबसन ने यह घोषणा की थी, ''अब वक्त आ पहुंचा है कि नीग्रो नेतृत्व अपने सरहदों के बाहर की दुनिया को नई नजर से देखे और वाशिंगटन अफसरशाही की बार-बार मचायी जाने वाली इस भयानक चीख पुकार को बन्द कर दें कि ''स्वतंत्र विश्व'' के हाथों से एशिया और अफ्रीका खिसक जायेगा।''[2]

रॉबसन जिस प्रकार अकाट्य दलीलें रख रहे थे उसे यदि अश्वेत जनता, समूचे राष्ट्र की बात छोड़ भी दी जाये, स्वीकार कर लेती तो अमेरिकी विदेश नीति की चूलें हिल जातीं।

''गोरी प्रभुता का युग और पूर्वी क्षेत्रों पर मुट्ठी भर पश्चिमी देशों का साम्राज्यवादी शासन तेजी से अपने अन्त की ओर बढ़ रहा है...

संयुक्त राज्य और साथ ही साथ, कैरीबियन के हम नीग्रो लोग पूरी दुनिया में उठ खड़े हुए अश्वेत उभार का एक हिस्सा हैं।''[3] यह वास्तव में एक खतरनाक सोच थी। उन्होंने न सिर्फ अपने देश में जारी अश्वेत संघर्ष का सूत्र अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर चल रहे मुक्ति संघर्ष से जोड़ कर दिखाया, बल्कि, यह भी इंगित किया कि शीतयुद्धकालीन घरेलू और विदेशी नीतियां उन्हीं लोगों द्वारा गढ़ी जाती हैं जो नस्लभेदी विचारधारा को बनाये रखने के लिए जिम्मेदार रहे हैं।

''नीग्रो अधिकार के खिलाफ 'राज्य के अधिकारों' के झण्डाबरदार ट्रेड यूनियन विरोधी तथाकथित 'काम के अधिकार' सम्बन्धी कानून के समर्थक भी थे। रूजवेल्ट के 'न्यू डील' की उपलब्धियों को जिन प्रतिक्रियावादी कानूनों— मजदूर विरोधी टाफ्ट-हार्टिली एक्ट, विदेश में जन्मे लोगों के खिलाफ वाल्टर मैककारन एक्ट, विचारों पर नियंत्रण सम्बन्धी स्मिथ एक्ट—ने कम कर दिया था, (अमेरिकी) कांग्रेस में उन सभी कानूनों को 'डिक्सीक्रेटों' का प्रबल समर्थन मिला था।''[4]

ऐसे ही बयानों ने वह स्थिति पैदा कर दी थी कि जब रॉबसन की 'हियर आई स्टैण्ड' छप कर आयी तो गोरों के प्रेस ने उसका बहिष्कार किया। यह 1958 के अन्त की बात है। बेशक, जिस दौरान अश्वेत विरोधी भावनाओं का दौर अपनी पराकाष्ठा पर था और सरकार उन पर तोड़-फोड़ की कार्रवाई का आरोप लगा रही थी, उन्हें भीड़ की हिंसा का शिकार होना पड़ा था। जैसे कि 1949 में, पीकस्किल, न्यूयार्क में उन्होंने अत्यन्त विस्फोटक परिस्थितियों में कन्सर्ट दिया। कन्सर्ट का आयोजन हुआ लेकिन उसकी समाप्ति पर कई गाड़ियों को भीड़ ने तहस-नहस कर दिया, उनके शीशे तोड़ डाले गये, पत्थरों की बौछार की गई और अनेक लोग घायल हुए। यह निश्चित है कि इस हमले और सप्ताह भर पहले हुए एक ऐसे ही हादसे का निशाना रॉबसन को सिर्फ इसलिए नहीं बनाया गया कि वे अश्वेत थे। आखिरकार उन्होंने अतीत में भी पूरे अमेरिका में प्रस्तुतियां दी थीं लेकिन इस तरह की आतंकवादी कार्रवाईयों के शिकार नहीं हुए थे।

दरअसल, भीड़ की इस हिंसा के लिए उनका अश्वेत होने के साथ-साथ यह तथ्य भी जिम्मेदार था कि एक अश्वेत व्यक्ति के रूप में सरकार के शीतयुद्ध कालीन तौर-तरीकों के खिलाफ वे खुल कर बोले थे। जो लोग कन्सर्ट में उपस्थित थे उन्हें उग्रपंथी (reds), उदारवादी (Pinkos), कम्युनिस्ट ढोंगियों (Communist dupes) अथवा अखण्डतावादी (integationist) जैसी ''गालियों'' से नवाजा गया। पीकस्किल की इस घटना के असल अर्थ को जैक 'ओ डेल ने संक्षेप में बड़े सटीक ढंग से प्रस्तुत किया है:

''पॉल रॉबसन उस दिन अपना कन्सर्ट देने में कामयाब रहे और हजारों लोगों ने अपनी उपस्थिति के जरिये आम तौर पर बोलने की आजादी और विशेष रूप से उस महान कलाकार के प्रदर्शन के अधिकार की हिफाजत के प्रति अपने समर्थन का इजहार किया था। बावजूद इसके, कार्यक्रम खत्म होने पर हमें जिस हिंसा का सामना करना पड़ा उससे यह तथ्य पुष्ट होता है कि

स्वयं सरकार की मदद और उकसावे से इस देश में जो उन्माद पैदा हुआ है उससे अभी तक हमारा पीछा नहीं छूटा है।''[5]

भीड़ की इस हिंसा और रॉबसन के खिलाफ सरकार की दमनात्मक कार्रवाई के बावजूद कुछ अश्वेत शीतयुद्ध के सुर में सुर मिलाते रहे। जैकी राबिन्सन ने हाउस अन-अमेरिकन एक्टिविटीज कमेटी के समक्ष इस आशय का बयान दिया कि रॉबसन बहुसंख्यक 'देशभक्त' नीग्रो नागरिकों के विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। और जब एन.ए.ए.सी.पी. की स्थानीय वाशिंगटन, डी.सी. शाखा रॉबसन के टेलीविजन कार्यक्रम को रद्द करने के लिए एनबीसी की भर्त्सना करने ही वाली थी कि महिलाओं की संस्था, अल्फा कप्पा अल्फा की प्रचारक थामसीना नारफोर्ड ने इस तरह की कोई कार्रवाई न करने के लिए शाखा को राजी करने के उद्देश्य से हस्तक्षेप किया। जैसाकि 'एफ्रो-अमेरिकन' के एक संवाददाता ने कहा, ''आज किसी सरकारी कर्मचारी की नौकरी का सबसे अच्छा बीमा यही हो सकता है कि वह कम्युनिस्टों और उनके हमसफरों के खिलाफ लड़ता रहे—और इसके लिए रॉबसन को बलि का बकरा बनाना सर्वसुलभ होगा।''[6] (सुश्री नारफोर्ड उस समय सरकार के लिए काम कर रही थीं।) अत: इस निष्कर्ष पर पहुंचना भ्रामक होगा कि रॉबसन के उत्पीड़न के पीछे किसी भी रूप में अश्वेत लोगों का हाथ था। जैसा कि रॉबसन ने खुद लिखा है जो उत्पीड़न उन्हें सहना पड़ा और बतौर संदिग्ध व्यक्ति जिस तरह उनका पीछा किया जाता रहा उसके लिए ''ऊपर बैठा हुआ श्वेत समुदाय'' जिम्मेदार था। यहां सिर्फ यह ध्यान देने की जरूरत है कि देश के हालात ऐसे **'लाल विरोधी उन्माद''** की दशा में पहुंच चुके थे कि कुछ अश्वेत नागरिक भी शीत युद्ध के दर्शन के 'धोखे में' आ गये।

संयुक्त राज्य की विदेश नीति के खिलाफ उठी रॉबसन की आवाज में एक दूसरी गरजदार आवाज जो आ मिली थी वह डा. डब्ल्यू. ई. बी. दु बोइस की थी। अपने लोगों के अधिकारों के लिए जीवनपर्यन्त लड़ने वाले योद्धा के नाते दु बोइस इस बात से पूरी तौर पर वाकिफ थे कि संघीय सरकार ने मानवाधिकारों को बढ़ावा देने से रोकने के लिए कितनी ताकत लगायी थी और कैसी-कैसी बाधाएं खड़ी की थीं। परन्तु उन्हें हमले की ऐसी तीव्रता की आशंका नहीं थी जिसका निशाना उन्हें तब बनाया गया जब रॉबसन की ही भांति उन्होंने संयुक्त राज्य में अश्वेत जनता की बर्बादी और अमेरिकी शैली के साम्राज्यवाद के बीच रिश्ते पर बोलना जारी रखा। वे शान्ति के पक्ष में लगातार बोलते रहे और इस पर अडिग बने रहे। कुछ लोगों का कहना है वे विश्व शान्ति के अग्रदूत थे। विश्व शान्ति आन्दोलन से अपने जुड़ाव के चलते संघीय सरकार द्वारा उन पर तथाकथित अपराधी होने का अभियोग लगाया गया। इस बात पर कोई बहस कर सकता है कि 1948 में एन ए ए सी पी के एक्जीक्यूटिव सेक्रेटरी वाल्टर व्हाइट के दबाव पर एन ए ए सी पी से दु बोइस की बर्खास्तगी इस वजह से हुई थी कि ट्रूमैन प्रशासन द्वारा लागू की जा रही शीतयुद्ध की नीतियों से उनका विरोध था। बहरहाल, स्वयं दु बोइस के अनुसार उनको बर्खास्त करते समय यह कारण नहीं बताया गया था। परन्तु इस नतीजे पर पहुंचना कि शान्ति पर उनके रैडिकल विचार एक ऐसे संगठन के लिए उलझनपूर्ण हो सकते थे जिसे जल्दी ही संयुक्त राज्य की विदेश नीति पर अपनी सहमति का मोहर लगाना था, कोरी अटकलबाजी नहीं लगती। एन ए ए सी पी को छोड़ देने पर टिप्पणी करते हुए दु बोइस ने दूरंदेशी दृष्टि से लिखा—

''दुनिया के समाजवादी और साम्यवादी (कम्युनिस्ट) आन्दोलनों तथा अमेरिका के मजदूर वर्ग के साथ अमेरिकी नीग्रो आबादी के रिश्ते को देखते हुए गम्भीर और तात्कालिक राय बनना लाजिमी था। पूरा विश्व इस समस्या का सामना कर रहा था, जबकि दुनिया के सैकड़ों लाख नीग्रो लोगों के सर्वाधिक प्रगतिशील वर्ग के बीच काम कर रहे सबसे बड़े संगठन, एन ए ए सी पी के पास कोई प्रोग्राम या नेतृत्व नहीं था, न उनके पास विशेषज्ञ थे, न आलोचक या मार्गदर्शक थे बल्कि उनके पास हर सवाल का तोते की तरह एक ही जवाब था ''कोई भेदभाव नहीं''। यह पिछली पीढ़ी का नारा था। आज के दौर में यह बिल्कुल ही अपर्याप्त है।''[7]

फिर उन्होंने स्पष्ट करते हुए आगे कहा, ''समाजवाद और कम्युनिज्म के प्रति उनका (नीग्रो) रुख क्या होगा, खास तौर से चीन और सोवियत संघ के प्रति, जो उस रंगभेद के खिलाफ लड़ाई में सबसे आगे रहे हैं जिससे हम छुटकारा पाने की कोशिश कर रहे हैं।''[8]

इन्हीं विचारों ने अमेरिकी लेबर पार्टी को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि 1950 में न्यूयार्क से अमेरिकी सीनेट का चुनाव लड़ने के लिए वह दु बोइस से उम्मीदवार बनने का अनुरोध करे। दु बोइस ने इस नामांकन को स्वीकार कर लिया। बयासी वर्ष की उम्र में सार्वजनिक पद के लिए यह उनका प्रथम प्रयास था। सीनेट की अपनी उम्मीदवादी की घोषणा करते हुए दु बोइस ऐतिहासिक घटनाओं के वर्तमान दौर के खिलाफ लगातार आग उगलते रहे। उन्होंने चीनी लोक गणराज्य को संयुक्त राष्ट्र में जगह देने, कोरियाई युद्ध को तत्काल समाप्त करने तथा पूर्व और पश्चिम के बीच मुक्त व्यापार को बहाल करने का आह्वान किया। शीत युद्ध और नागरिक अधिकार के रिश्तों पर जोर डालते हुए उन्होंने तीखेपन से कहा— ''प्रगति और तर्कपरकता के इस कार्यक्रम को रोकने के लिए, मिलजुल कर राजनीतिक मुनाफाखोरी करने वाली, रिपब्लिक और डेमोक्रेटिक पार्टियां हताशा में अन्तिम चाल चल रही हैं। वे न केवल सच्चाई का अपितु नागरिक अधिकारों का भी युद्ध के जरिये गला घोंट रहे हैं। उन्होंने प्रगति और शान्ति से आपका ध्यान घृणा और युद्ध की ओर मोड़ दिया है। प्रगति के लिए सोचने तथा शान्ति अथवा प्रगति के पक्ष में बोलने को वे गैरकानूनी बना रहे हैं। सुधार के प्रत्येक रास्ते को, जैसे भारी सम्पत्ति पर कराधान, प्रभावी किराया नियंत्रण, नदियों के विकास और वन परियोजना इन सभी को कम्युनिस्टपरस्त या समाजवादी कहा जा रहा है और उनके प्रवर्तकों को बदनामी की जेल की अथवा रोजगार छीन लेने की धमकियां दी जा रही हैं।''[9]

यह उल्लेखनीय है कि खूनी उन्माद जब चरम बिन्दु पर पहुंचा हुआ था, मैकार्थी का दमन चक्र जारी था और कोरिया में पुलिसिया कार्रवाई चल रही थी उस दौरान स्टाकहोम याचिका के नाम से प्रचलित वर्ल्ड पीस अपील में दु बोइस की सक्रिय भागीदारी बनी। परमाणु शास्त्रों को गैर कानूनी बनाना इस याचिका का लक्ष्य था। यह याचिका अमेरिका में पीस इन्फारमेशन सेन्टर के द्वारा प्रचारित किया गया जिसके दु बोइस मुख्य सदस्य थे। आखिरकार, संयुक्त राज्य के गृह मंत्रालय ने पीस सेण्टर को विदेशी संस्था के एजेण्ट के रूप में दर्ज कराने का आदेश दिया। पीस याचिका को अमेरिकी सरकार की नजर में विदेशी माना गया। गृहमंत्रालय के आदेश को मानने से इंकार करने के चलते दु बोइस पर अभियोग लगाया गया। इस अभियोग के लिए उनको हथकड़ियां लगाई गई और अमेरिकी न्यायालय में उनके खिलाफ आपराधिक मुकदमा चलाया गया। इस मुकदमे के दौरान उन्होंने सार्वजनिक रूप से कहा, ''यह एक विचित्र बात है कि शान्ति—एक ऐसी चीज जिसे सभी चाहते हैं—की खुली वकालत करने के अभियोग पर मुझसे अपनी सफाई देने की मांग की जा रही है।''[10] बहरहाल, दु बोइस ने अश्वेत जनता के संघर्षों के संदर्भ में अपने अभियोग का मतलब भी समझा। मुकदमा चलाने के पीछे सरकार की मंशा ऐसे अमेरिकी नागरिकों, विशेषकर अश्वेतों की आवाज को कुचल देना था जो अन्तरराष्ट्रीय पटल पर संयुक्त राज्य की कार्रवाइयों के खिलाफ खासतौर पर, औपनिवेशिक अधीनता को जारी रखने वाली तथा सोवियत संघ और चीन में समाजवाद को कुचलने वाली कार्रवाइयों के खिलाफ बोलने अथवा प्रश्न उठाने की जुर्रत करते थे।''[11]

इस आपराधिक दोषारोपण के आधारभूत कारणों को न्यूयार्क के *हेराल्ड ट्रिब्यून* द्वारा इस पर व्यक्त की गई प्रतिक्रिया को देखकर समझा जा सकता है। यह प्रतिक्रिया संघीय सरकार के

दृष्टिकोण को कहीं अधिक स्पष्टता के साथ रखती है। 11 फरवरी 1957 को *ट्रिब्यून* ने लिखा,

''दु बोइस का संगठन सोवियत संघ से उपजी एक कपटपूर्ण अपील को आगे बढ़ाने के लिए खड़ा किया गया था। याचिका के खोखले शब्दों में ''दुनिया भर में अच्छी-खासी तादाद में सद्भावना रखने वाले स्त्री-पुरुषों' को फुसलाकर इसपर हस्ताक्षर कराये गये और वे यह समझ भी न पाये कि यह चीज सीधे-सीधे कोमिनफोर्म से निकल कर आ रही है।''[12]

शिकागो डिफेण्डर ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए कहा, डा. दु बोइस ने बहुत सम्मानं अर्जित किया है और यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि वह अपने जीवन की सांध्यबेला में ऐसी गतिविधियों में उलझ गये हैं जो विध्वंसकारी कार्रवाइयों के रूप में उजागर हुई हैं।''[13] लगभग इसी समय दु बोइस के मित्रों ने उनका तिरासीवां जन्मदिन मनाने की योजना बनाई थी। बहरहाल, फरवरी 1951 में जब इस अभियोग की सार्वजनिक घोषणा की गई, तो इसके लिए तय किये गये होटल ने करार को रद्द कर दिया। पूर्व निर्धारित वक्ता पीछे हट गये और कई प्रायोजकों ने अपनानाम वापस ले लिया। थोड़ी खोजबीन करके जन्मदिन पार्टी (अश्वेतों के इलाके) हार्लेम के ठसाठस भरे हुए कैबरे हाल में रखी गई।

अभियोग की कार्यवाही आगे बढ़ने के साथ ही कई लोगों को यह भरोसा था कि दु बोइस की सहायता के लिए स्वयं एन ए ए सी पी आगे आयेगा। और कुछ हद तक ऐसा हुआ भी, एन ए ए सी पी ने बहुत हल्के ढंग से यह इंगित करते हुए प्रस्ताव पारित किया कि दु बोइस के खिलाफ लगाये गये अभियोग को ''नीग्रो लोगों की सम्पूर्ण समानता के प्रवक्ताओं की आवाज दबाने'' की कोशिश समझी जा सकती है। जबकि, चुपचाप तरीके से एन ए ए सी पी ने अपने स्थानीय शाखाओं पर यह दबाव बनाया कि दु बोइस से सम्बन्धित मामले में वे हाथ न डालें। जाहिर है, दु बोइस को स्पष्ट समर्थन हासिल न होने से एन ए ए सी पी का प्रस्ताव गिर गया। बहरहाल, दु बोइस ने अपने लोगों की उन्नति के लिए जारी संघर्ष में जिस निष्ठा, समर्पण और प्रतिबद्धता के साथ सहयोग किया उसे देखते हुए इस संगठन से इससे अधिक की अपेक्षा की जा रही थी। उन्होंने काफी कुछ सहयोग उस दरमियान किया जब वे एन ए ए सी पी को खड़ा करने में मदद दे रहे थे। परन्तु, जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है। दु बोइस के बचाव में खड़ा होना एक ऐसे संगठन के लिए काफी जोखिम भरा हो सकता था जिसने किन्हीं कारणों से शीत युद्ध के सवाल पर सरकार का साथ दिया।

दूसरी तरफ, दु बोइस बिल्कुल अकेले और अलग-थलग नहीं पड़े थे। उन्होंने स्वयं *पिट्सबर्ग कूरियर* और *अफ्रो-अमेरिकन* जैसे अश्वेतों के समाचारपत्रों और साथ ही टिप्पणीकार जे ए. रोजर्स का हवाला दिया जो सीधे-सीधे उनके बचाव में आगे आये थे। वास्तव में *पिट्सबर्ग कूरियर* का यह कहना ''दु बोइस को हथकड़ी लगाने का अर्थ है काले लोगों के उस नेतृत्व की आवाज घोंट देना जो मुक्ति के लिए आर-पार की लड़ाई को तेज कर रहा था। (ऐसे ही) वक्तों में हमारे बीच के अंकल टॉम जैसे लोगों को बुलाया जाता है'' बहुतेरों के विचारों को प्रतिबिम्बित करता है। स्पष्ट है कि ऐसे विचारों के साथ समाज की वे प्रभुत्वशाली शक्तियां नहीं खड़ी हो सकतीं जो शीतयुद्ध को आगे ढकेलने का काम कर रही थीं। मुकदमे के बाद भी, जिसमें वे निर्दोष साबित हो चुके थे, उन्हें शीत युद्ध की उग्र नीतियों का शिकार होना पड़ा था। ट्रूमन नेलसन ने मुकदमे की समाप्ति के बाद इस उत्पीड़न की नितान्त विडम्बनापूर्ण स्थिति को तीक्ष्णता से रेखांकित किया था—''वह निकम्मी भ्रष्ट सरकार और बिना कहे सुने मौत की सजा सुनाने वाली भीड़ की नजरों में आज भी कलंकित था। अफ्रीका का मुक्ति आन्दोलन ऊंची उड़ान भरता रहा और उत्कर्ष पर पहुंच कर आतिशी धमाके के साथ फट पड़ा... एम्पायर स्टेट बिल्डिंग से आगे नदी के पार एक आदमी रहता था जिसने इसकी भविष्यवाणी की थी और इसे सम्भव बनाया था। किसी ने उससे प्रश्न नहीं किया, 10 सेंट में एक फोन काल कर यह जानने की भी कोशिश नहीं की कि उसने ऐसा क्यों किया। और अब उसे निर्वासित कर दिया गया है।''[14]

एक तरह से देखा जाये तो रॉबसन और दु बोइस दोनों ही निर्वासितों जैसा जीवन जीने को बाध्य थे। इस बात पर ध्यान देना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि अश्वेत समुदाय जो सरकारी उत्पीड़न झेल रहा था उसके मुख्य निशाने पर नस्लवादी अन्याय के यही दो विख्यात, साहसी, निर्भीक और अक्लांत दुश्मन थे। अमेरिका में नस्लवादी भेदभाव के विरोध में खड़ा होना प्रमुख अश्वेत नेताओं से अपेक्षित ही था।

लेकिन, अमेरिकी विदेश नीति के मंतव्य को प्रभावी ढंग से चुनौती देना एक दूसरी बात थी, खासकर जब रॉबसन और दु बोइस शीतयुद्ध की नीतियां और अपने देश में अश्वेत लोगों के दमन के बीच के अन्तर्सम्बन्धों को उद्घाटित कर रहे थे। सम्मानित और ऊंची प्रतिष्ठा रखने वाले अश्वेत नेताओं पर 'विध्वंसकारी' का लेबल चस्पा हो चुका था। अमेरिका की शीतयुद्ध की नीतियों के खिलाफ बोलने की जुर्रत करने वाले गर्वीले अश्वेत लोगों को अमरीकी समाज में उनकी औकात बताई जा रही थी। इससे भी महत्वपूर्ण यह था कि रॉबसन और दु बोइस का उत्पीड़न दूसरे अश्वेत लोगों को याद दिला रहा था कि संघीय सरकार ऐसे किसी व्यक्ति खास कर अश्वेत के खिलाफ जिसको अमेरिका के इतिहास में दूसरी बार फैले व्यापक खूनी आतंक के विरोध में बोलने से रोका नहीं जा सकता, वास्तव में कितना घटिया कदम उठा सकती है। पॉल रॉबसन कदाचित अपने और दु बोइस दोनों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर रहे थे जब उन्होंने हाउस अन-अमेरिकन एक्टिविटीज कमिटी के समक्ष स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया:

''क्योंकि मेरे पिता एक गुलाम थे और इस देश को बनाने के लिए मेरे लोगों ने अपनी जानें दी हैं, मैं यहीं रहूंगा और अपना हिस्सा हासिल करूंगा जैसे कि तुम करते हो। और फासीवादी विचारों के तुम्हारे जैसे लोग मुझे यहां से भगा नहीं सकते। समझ गये?''[15]

सन्दर्भ

1. पॉल रॉबसन 'हियर आई स्टैण्ड', बेकन प्रेस, बोस्टन, पृ. 42
2. वही, पृ. 86
3. वही, पृ. 84
4. वही, पृ. 29
5. जे. एच. ओ' डेल, ''ए रॉक इन ऐन वीयरी लेन'', फ्रीडमवेज, न्यूयार्क खण्ड, 11, सं.-1, 1971, पृ. 43
6. ''व्हिच वे आर दे'', अफ्रो-अमेरिकन, 8 अप्रैल, 1950
7. डब्ल्यू. ई. वी. दु बोइस, ऑटोबायोग्राफी ऑफ डब्ल्यू. ई.वी. दु बोइस, इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क, 1968, पृ. 337
8. वही। पृ. 337
9. डब्ल्यू. ई.वी. दु बोइस, प्रेस बयान, 24 सितम्बर, 1950, पृ. 6
10. कार्लटन वी. गुडलेट और कार्ल ब्लॉइस, डब्ल्यू. ई.वी. दु बोइस, एपास्टल ऑफ वर्ल्ड पीस, फ्रीडमवेज, खण्ड 5, सं. 1, 1965, पृ. 190
11. ट्रूमन नेल्सन, डब्ल्यू. ई.वी. दु बोइस ऐज ए प्रॉफेट, फ्रीडमवेज, खण्ड 5, सं. 1, 1965
12. डब्ल्यू. ई.वी. दु बोइस, पूर्वोक्त, पृ. 369
13. वही, पृ. 370
14. ट्रूमन नेल्सन, पूर्वोक्त, पृ. 57
15. रॉबसन, पूर्वोक्त, पृ. XIX

पढ़िए, पढ़ाइए, प्रचारित कीजिए

मजदूर आंदोलन में क्रान्तिकारी विचारों का वाहक अखबार

बिगुल

मेहनतकशों का इंकलाबी अखबार

(मासिक)

एक प्रति : तीन रुपए, वार्षिक : 36 रुपए

संपादकीय पता : **द्वारा ओ.पी. सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006**

जब क्रान्ति के दिन थे, लोग चीजों को अलग ढंग से देखते थे

माओवादी चीन में बच्चों की सामूहिक देखभाल ने औरतों को किस तरह आजाद किया!

• ली ओनेस्टो

जब कभी औरतें आपस में मिलती जुलती हैं और अपनी समस्याओं के बारे में बातचीत करती हैं तो घरेलू कामकाज और बच्चों की देखभाल हमेशा उनकी चर्चा का मुख्य विषय होता है। समाज में जिस ढंग से कामों का बंटवारा हुआ है उसमें घर के कामों को निपटाने और बच्चों की देखभाल करने की मुख्य जिम्मेदारी उन्हीं की होती है। ज्यादातर नौकरीपेशा औरतें इस बात को महसूस करती हैं कि उन्हें 'दोहरी नौकरी' का बोझ उठाना पड़ता है—पूरे दिन बाहर काम करना और घर लौटने के बाद फिर चूल्हा-चौखट और बच्चे सम्हालना।

समाज में इस तरह का श्रम विभाजन औरतों के दमन-उत्पीड़न का कारण बनता है। वे अलग-थलग पड़ कर घर के दायरे में सिमट जाती हैं जहां बच्चों की चिन्ता और घर के कामों का बोझ उन्हें शारीरिक रूप से थका डालता है और दिमाग को सुन्न बना देता है। यह क्रान्तिकारी संघर्षों में उनकी भागीदारी को असम्भवप्राय ही नहीं बनाता वरन् उन्हें अपने ढंग से जी लेने की गुंजाइश भी नहीं छोड़ता। जाहिर है जिसकी जिन्दगी का एक बड़ा हिस्सा बच्चों के पालन-पोषण और घर के काम काज में व्यतीत होता हो वह समाज के प्रति अपने देय को पूरा करने के लिए पूर्णत: स्वतंत्र नहीं हो सकता। जब तक श्रम विभाजन की इस दमनकारी व्यवस्था से छुटकारा नहीं पा लिया जायेगा औरतों की मुक्ति असम्भव है।

'बच्चों की देखभाल कौन करे' यह प्रश्न स्त्रियों और पुरुषों के बीच एक बड़ा मुद्दा बना रहता है। कुछ स्त्रियां चाहती हैं कि उनके पति घर के कामों और बच्चों की देखभाल में और अधिक से अधिक जिम्मेदारी उठायें। इस प्रकार एक अन्तहीन संघर्ष चलता रहता है। दुनिया भर की औरतें इस स्थिति से निपटने की राह ढूंढ़ रही हैं। गरीब स्त्रियां महसूस करती हैं कि न्यूनतम मजदूरी पर उन्हें कोई काम मिलता भी है तो बच्चों की देखभाल इस नौकरी की इजाजत उन्हें नहीं देती। और बहुत सी नौजवान औरतों को तो इसके लिए अपनी मां पर निर्भर रहना पड़ता है। मध्य वर्ग की औरतें अपने बच्चों की देखभाल के लिए ऐसी आयाओं की नियुक्ति करती हैं जो ज्यादातर आप्रवासी होती हैं और बहुत कम वेतन पर बिना किसी लाभ के काम करने को विवश होती हैं। और हम ज्यादा से ज्यादा यही सुनते आ रहे हैं कि कोई स्त्री, चाहे कितना ही जरूरी काम उसके पास क्यों न हो, 'सबसे पहले वह एक मां होती है। यह परिस्थितियां वाकई पागल बना देने वाली होती हैं। स्त्री और पुरुष के बीच इस प्रकार का उत्पीड़नकारी श्रम विभाजन एक विश्व ऐतिहासिक समस्या है। पूंजीवादी समाज में पारिवारिक जीवन को नितान्त निजी बना दिया जाता है। करोड़ों की संख्या में औरतें अपने घरों में प्रतिदिन रात को वापस लौटती हैं जहां उन्हें वही चूल्हा-चौखट, कपड़ा बासन, झाड़ू-पोछा, हाट-बाजार और बच्चों को खिलाने-सुलाने के कामों से रोज-रोज जूझना पड़ता है। रोजमर्रा के यही घरेलू काम अपने-अपने घरों में अलग-अलग करने से उन करोड़ों औरतों की ऊर्जा और समय की व्यर्थ बरबादी होती है और जिसकी थकान उनके शरीर को तोड़ डालती है। जब कि ऐसे ही घरेलू काम और साथ-साथ बच्चों की परवरिश भी सामूहिक रूप में और समाजीकृत तरीके से हो सकती है। यह मानव संसाधन का भारी अपक्षय है और पूरी दुनिया के पैमाने पर सर्वहारा के लिए एक बड़ी समस्या है। क्योंकि जब तक ऐसे हालात रहेंगे मानव जाति का यह आधा हिस्सा सामाजिक विकास में कभी पूरी तरह से सहयोग नहीं कर सकता। इसलिए हम कहते हैं कि ''क्रान्ति के एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में औरतों के आक्रोश को उन्मुक्त करो।''

ऐसी तमाम बातें हमें यह सोचने को बाध्य करती हैं कि इस समस्या का समाधान कहीं पूरे समाज को एक भिन्न तरीके से संगठित करने में तो नहीं है और क्या इसके लिए कोई राह निकाली जा सकती है? और रास्ता निकला था। क्रान्तिकारी चीन में माओ त्से-तुङ की अगुवाई में मेहनतकश जनता 1949 में सत्ता पर कब्जा करने के बाद एक नये समाजवादी समाज के निर्माण में पच्चीस वर्षों से अधिक समय तक लगी रही। माओ ने इस बात की अनिवार्यता को समझा कि क्रान्ति स्त्रियों को उनके रोजमर्रा के घरेलू कामों और बच्चों के परवरिश से मुक्त करे। अन्यथा इस मुक्ति के बिना सभी प्रकार के शोषण-उत्पीड़न से युक्त एक नये समाजवादी समाज के निर्माण में आधी आबादी बराबरी की हैसियत से और पूरी क्षमता के साथ लग कर काम कर सके, यह सम्भव ही नहीं है। और यही वह माओवादी दृष्टिकोण था जिसकी रोशनी में चीनी जनता ने बच्चों की समस्या का सच्चा समाधान पाया।

आज अमरीकी शासक लोगों से कहते हैं, ''परम्परागत पारिवारिक मूल्यों की ओर लौट चलो।'' लेकिन क्रान्तिकारी चीन में स्त्रियां उन तमाम 'परम्परागत पारिवारिक मूल्यों' के खिलाफ उठ खड़ी हुई थीं जिन्होने हजारों हजार साल से उन्हें दबाये रखा था। माओ के क्रान्तिकारी चीन ने बच्चों की समस्या का समाधान किस प्रकार किया था यह वृतान्त ऐसे तमाम लोगों के लिए जानना प्रासंगिक होगा जो मूलभूत और क्रान्तिकारी बदलाव के लिए संघर्षरत हैं। क्योंकि यह बताता है कि किस प्रकार जब जनता मौजूदा ढांचे को गिराकर वास्तविक अर्थों में राजनीतिक सत्ता पर कब्जा जमा लेती है, तो उन सभी समस्याओं का समाधान ढूंढ लेती है जो पूंजीवादी समाज में कभी सम्भव नहीं रहा। और यह दिखाता है कि किस तरह केवल माओवादी क्रान्ति ही औरतों को आजाद कर सकती है।

पुराने चीन में कनफ्यूशियस का प्राचीन दर्शन लोगों के जीवन को नियंत्रित करता था और स्त्रियों को उत्पीड़ित करने में परम्पराओं की महती भूमिका होती थी। औरतों को हर हालत में पुरुषों से कमतर समझा जाता था। उनके लिए एक ही तयशुदा काम था — अपने पतियों की सेवा करना और उनके लिए कई-कई बेटे पैदा करना।

शुरू से ही माओ ने स्त्रियों की मुक्ति को क्रान्ति का अविभाज्य अंग बनाया। 1949 के पूर्व जिन क्षेत्रों को लाल सेना ने मुक्त किया वहां स्त्रियों को दबाने वाली तमाम सामन्ती परम्पराओं के विरुद्ध जबर्दस्त संघर्ष चला। और शहरी एवं ग्रामीण इलाकों से औरतों की अच्छी-खासी आबादी क्रान्ति की कतारों में आकर शामिल हुई।

1949 के बाद ऐसे कानून बनाये गये जिसमें औरतों को जमीन पर बराबर का मालिकाना हक मिला और काम करने तथा शासन व्यवस्था चलाने में उनकी समान भागीदारी सुनिश्चित हुई। लेकिन

पूरे चीनी समाज में एक पिछड़ी और स्त्री विरोधी सोच मौजूद थी। और समाजवाद के निर्माण के लिए स्त्रियों को पूरी तरह और बराबर की भागीदारी के लिए आगे लाने का काम आसानी से या एक झटके में नहीं हो गया।

कम्युनिस्ट पार्टी ने स्त्रियों के 'घर से बाहर निकलने और स्त्री समुदाय के राजनीतिक-आर्थिक जीवन में हिस्सेदारी की जरूरत पर बल दिया। लेकिन इसका भारी प्रतिरोध हुआ — पुरुषों और साथ-साथ परिवार के दूसरे सदस्यों द्वारा भी। जैसे सासें चाहती थीं कि उनकी बहुएं घर सम्हालें और बच्चों की देखभाल करें। क्रान्ति के लिए यह एक आसन्न समस्या थी।

ग्रामीण इलाकों में, जहां चीनी समाज की बहुसंख्यक आबादी रहती थी, और शहरों में नारी सभाएं स्थापित की गईं। औरतों के ये संगठन उत्पीड़नकारी पारिवारिक सम्बन्धों को बरकरार रखने वाले पतियों, पिताओं और सासों के खिलाफ संघर्ष में स्त्रियों के मददगार होते थे। उदाहरण के लिए यदि कोई पति बच्चों की देखभाल से इंकार करता था या अपनी पत्नी को नौकरी ढूंढने अथवा राजनीतिक बैठकों में शामिल होने की इजाजत नहीं देता था तो संगठन का एक प्रतिनिधिमंडल जाकर उसके साथ उन तौर-तरीकों को बदलने के लिए संघर्ष चलाता था। यदि किसी स्त्री को किसी राजनीतिक बैठक में शामिल होने के लिए रात को बाहर निकलना पड़ता था तो बच्चों की देखभाल की जिम्मेदारी पति को दे दी जाती थी। औरत राजनीतिक बैठक में जाये और बच्चों की देखभाल पति करे ऐसी चीजें पुराने चीन में कभी सुनी नहीं गई थी। और जब पुरुषों ने बच्चों की देखभाल में और अधिक जिम्मेदारी उठानी शुरू कर दी तो सच्चे अर्थों में यह एक आगे बढ़ा हुआ कदम था। लेकिन इस समस्या का समाधान तब तक नहीं ढूंढा जा सका जब तक दायित्व का यह बंटवारा केवल पति-पत्नी के बीच बना रहा। हर परिवार का अलग-अलग और निजी मसला बना रहा। दरअसल होता यह था कि परम्परा के दबाव में बच्चों की देखभाल का ज्यादा से ज्यादा बोझ औरतों पर ही आ पड़ता था। इस समस्या का सही समाधान तभी सम्भव था जब बच्चों के देखभाल की समूची जिम्मेदारी समाज उठाये। प्रत्येक परिवार के वैयक्तिक स्तर पर जूझने की जगह जरूरत इस बात की थी कि बच्चों के पालन-पोषण और अन्य घरेलू कामों का समाजीकरण किया जाये।

और समाजीकरण की यह प्रक्रिया नये समाज के निर्माण का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था जिसमें लोग सहकार के साथ और सामुदायिक रूप से रहते और काम करते थे।

बच्चों के पालन-पोषण की समस्या का सामूहिक ढंग से समाधान

पचासवें दशक के आरम्भ में बच्चों की देखभाल सम्बन्धी सुविधाओं का एक तानाबाना शहर के निकटवर्ती क्षेत्रों और देहाती इलाकों में स्थापित कर लिया गया। इसके अन्तर्गत शिशुओं के लिए पालनाघर खोले गये जहां मांएं काम के घंटों के बीच अपने बच्चों को दूध पिला सकती थीं और उनकी देखभाल कर सकती थीं। इसके अतिरिक्त सात वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिए, जो अभी स्कूल नहीं जाते थे, शिशु-सदनों (नर्सरी) और बालविहारों (किन्डरगार्टेन) की स्थापना की गई। ये नर्सरी और बालविहार निकटस्थ संगठनों, विद्यालयों और कारखानों द्वारा अथवा देहाती इलाकों में किसानों की सहकारी समितियों के द्वारा चलाये जाते थे। बच्चों के पालन-पोषण में उपचारिकाओं और शिक्षिकाओं को प्रशिक्षित करने के लिए स्कूल खोले गये। बड़े शहरों में लोगों को बच्चों के सामूहिक देखभाल में प्रशिक्षित करने के लिए महिला संघ ने अल्पकालिक कक्षाओं की श्रृंखला की शुरुआत की।

ग्रामीण क्षेत्रों में बच्चों के देखभाल की सुविधा शुरू में तो बहुत व्यापक स्तर तक नहीं पहुंची थी और उनमें से कई तो प्रयोगों के दौर में तथा छोटे पैमाने पर उपलब्ध थीं। लेकिन 1958-59 में महान अग्रवर्ती छलांग के साथ ही इस स्थिति में एक भारी परिवर्तन आया। महान अग्रवर्ती छलांग एक वृहद जनान्दोलन था जिनका सूत्रपात माओ ने किया था। आर्थिक विकास के क्षेत्र में यह एक जबर्दस्त कदम था — खासकर ग्रामीण इलाके में जहां कृषि तथा छोटे स्थानीय उद्योगों के वास्तविक विकास के लिए किसानों को गोलबन्द किया गया इसने गुलाम बनाने वाली परम्पराओं और विचारों पर जबर्दस्त प्रहार किया।

राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाले इस अभियान में स्त्रियों की मुक्ति एक केन्द्रीय मुद्दा था। गांवों में सामूहिक खेती के रूप विकसित किये गये और कम्यूनों की स्थापना की गई जहां दसियों हजार किसान साथ-साथ रहते और काम करते थे। इससे परिवार के एक इकाई के रूप में लोगों के जीवन की धुरी बने रहने पर जोर कम पड़ने लगा। जैसे-जैसे लोगों का आर्थिक जीवन अधिका-धिक समाजीकृत होता गया अन्य चीजों जैसे बच्चों के पालन पोषण के समाजीकरण का भी आधार तैयार होने लगा। समाज द्वारा बच्चों की यह सामूहिक देखभाल चीन में एकदम नई चीज थी।

शिशुसदन और बाल विहार खोले जा सकें, इसके लिए कम्युनिस्ट पार्टी को वास्तव में महिलाओं की आबादी पर निर्भर होना पड़ा। यदि वे ऐसा नहीं करते तो महिलाओं की जरूरतों और सरोकारों को ध्यान में रखे बिना ही शिशु केन्द्रों की स्थापना होती। और अपनी भागीदारी के बगैर निर्मित संस्था में वे अपने बच्चों को अपरिचितों के साथ छोड़ने में हिचकतीं। इससे भी ज्यादा जरूरी चीज यह थी कि इसके बिना उन पिछड़े विचारों और परम्पराओं के खिलाफ संघर्ष के लिए औरतों की आबादी को गोलबन्द नहीं किया जा सकता था क्योंकि यदि उन्हें 'घर से बाहर निकालना था' तो इसके लिए आवश्यक था कि ऐसे पिछड़े विचारों और परम्पराओं पर प्रहार किया जाये। किसी गांव या निकटवर्ती क्षेत्रों में (जिला, प्रांत) जांच-पड़ताल करने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी के नेता वहां की महिलाओं को विचार-विमर्श के लिए तथा अपनी दिक्कतों और परेशानियों के बारे में विस्तार से और खुलकर बातचीत करने के लिए बुलाते थे। वे सबके साथ मिलबैठ कर तय करते थे कि बाल केन्द्रों की स्थापना किस ढंग से की जाये जिससे कि समूचे समुदाय के बच्चों की देखभाल हो सके। इसी क्रम में वे विभिन्न प्रकार के कार्यों का बंटवारा और उन कार्यों के लिए वेतन की अदायगी के सम्बन्ध में बातचीत कर लेते थे। बाल केन्द्रों की स्थापना के बाद उसमें काम करने वाले स्टाफ तथा बच्चों के माता-पिता की तमाम समस्याओं अथवा चिन्ताओं के निराकरण के लिए नियमित बैठकें हुआ करती थीं। एक बार किसी गांव में नये शिशु केन्द्रों के लिए स्टाफ जुटाने में उन्हें काफी मशक्कत करनी पड़ी। अधिकांश महिलाएं पुरुषों के साथ खेतों पर जाकर काम करना ज्यादा पसंद करती थीं। और दोनों ही बच्चों के देखभाल के काम को नीची नजर से देखा करते थे।

अवकाश प्राप्त बूढ़ी औरतों के लिए भी धमाचौकड़ी मचाते जिंदादिली से भरपूर बच्चों और किशोरों से भरे कमरे को सम्हाल पाना सम्भव नहीं होता था। अंततः इस गांव में समस्या का समाधान ढूंढ निकाला गया। वहां की युवा अविवाहित औरतों को शिशु पालन और सामूहिक रूप से बच्चों के देखभाल के लिए एक अल्पकालिक ट्रेनिंग कोर्स के लिए भेजा गया। प्रशिक्षित होकर लौटने के बाद छोटे-छोटे बालकेन्द्रों की जिम्मेदारी उनको सौंप दी गई जहां सहयोगी के रूप में अवकाश प्राप्त बूढ़ी औरतें उनके कामों में मददगार होती थीं। और वे बूढ़ी औरतें पुराने समाज में जनता के अमानवीय उत्पीड़न के किस्से बच्चों को सुनाती थीं, यह भी उनके कामों का एक हिस्सा था। इस तरह बच्चों के पालन-पोषण की समाजीकृत व्यवस्था जैसे-जैसे व्यापक रूप से स्थापित होती गयी करोड़ों की संख्या में औरतें भी समाजवाद के निर्माण में भाग लेने के लिए स्वतंत्र होने लगीं। 1952 तक आते-आते कारखानों में, खदानों में सरकारी संगठनों में, शिशु केन्द्रों तथा स्कूलों की संख्या में 1949 के मुकाबले 22 गुना तक की वृद्धि हुई। और उन्नीस सौ पचास

के पूरे दशक में खासकर 'महान अग्रवर्ती छलांग' के दौर में यह लगातार बढ़ता ही गया क्योंकि उस समय तक घरेलू श्रम के कई रूपों का जैसे रसोई, सिलाई और अनाज पीसने के कामों का समाजीकरण हो चुका था। अनुमान था कि 1959 तक देहाती इलाकों में लगभग 5 करोड़ शिशु केन्द्र और बालविहार, 3.5 करोड़ से अधिक सार्वजनिक भोजन कक्ष और अनगिनत आटे की मिलें तथा सिलाई केन्द्र स्थापित हो चुके थे। शहरों में सामूहिक सेवा सुविधाओं की व्यवस्था निकटवर्ती संगठनों द्वारा की जाती थी। और इसमें 'नुक्कड़ शिशु केन्द्र' (Street Nursing) और सामुदायिक भोजन कक्ष की सुविधायें भी थीं। इसमें से कुछ तो काफी बड़े थे और सैकड़ों परिवारों को खाना खिलाने की क्षमता रखते थे व कुछ छोटे और साधारण थे जहां कुछ दर्जन परिवार ही खाना खा सकते थे। नौकरीपेशा माता-पिता काम के बाद अपने बच्चों को इन सामुदायिक रसोई घरों में भोजन के लिए ले जाते अथवा उन्हें साथ लेकर अपने परिवार के साथ खाने के लिए घर पर जाते। कुछ शहरों ने 'पहिए गाड़ी पर भोजन (meals on wheels) पहुंचाने की व्यवस्था ऐसे लोगों के लिए शुरू की जिन्हें अपनी बीमारी की वजह से अथवा बीमार बच्चों के देखभाल के लिए घर पर रुकना पड़ता था। कारखानों में काम करने वाली मजदूर औरतों के लिए स्थापित शिशु केन्द्रों में बच्चों के देखभाल की अलग-अलग व्यवस्थाएं की गईं। वहां आधे दिन की, पूरे दिन की, चौबीस घंटों तथा पूरे सप्ताह के लिए बच्चों के देखभाल की व्यवस्था थी। इन शिशु केन्द्रों में समय का निर्धारण कारखानों की समय-सारिणी के अनुरूप होता था और औरतों के कार्य स्थल से इनकी दूरी कम से कम रखी गई थी।

समाजवादी चीन में बच्चों के देखभाल के ऐसे केन्द्रों की स्थापना को समाज ने भारी प्राथमिकता दी। नतीजतन बाल केन्द्रों का तेजी से विस्तार हुआ। उदाहरण के लिए 1959 में राजधानी पीकिङ में लगभग 1,250 नुक्कड़ बाल विहार और शिशु केन्द्र थे जिनमें करीब 62,000 बच्चों की देखभाल होती थी। 1960 तक इन बाल विहारों और शिशु केन्द्रों की संख्या छलांग लगा कर 18,000 तक जा पहुंची, जहां 600,000 से भी अधिक बच्चों की देखभाल होने लगी।

सामूहिक देखभाल के व्यापक विस्तार के साथ ही पीकिङ में लोगों ने 12,000 सामुदायिक भोजन-कक्ष बनाये तथा 1200 से अधिक सफाई व मरम्मत की दुकानें और 3,700 सेवा केन्द्रों की स्थापना की जहां वे अपने कपड़ों को मरम्मत तथा धुलाई के लिए छोड़ सकते थे। इसके साथ ही छोटे-छोटे शिशु केन्द्र (नर्सरी) भी खोले गये जहां महिलाएं कुछ घंटों के लिए अपने बच्चों को छोड़कर खरीददारी करने, फिल्म देखने अथवा अंशकालिक कक्षाओं के लिए स्कूल जा सकती थी।

सांस्कृतिक क्रान्ति ने रुढ़ियों की जकड़बन्दी पर गहरा प्रहार किया

1966 में माओ ने महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। इसका लक्ष्य स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी के ही अन्दर बैठे हुए उन नेताओं को बाहर निकाल फेंकना था जो पूंजीवाद की पुनर्स्थापना चाहते थे, समाज की दिशा क्या होगी? इस पर वाद-विवाद चलाने और संघर्षों में उतर पड़ने के लिए पूरे समाज के उतर पड़ने के लिए पूरे समाज के करोड़ों-करोड़ लोगों को लामबन्द किया गया। यह तय होना था कि क्या वर्ग समाज के भेदभाव और गैरबराबरी को मिटा कर जनता समाजवाद के निर्माण में लगी रहेगी अथवा 'एक दूसरे की हड्डी चिचोड़ने वाला' और 'मुनाफे को हर चीज के ऊपर रखने वाला' पूंजीवाद फिर से बहाल हो जायेगा?

सर्वहारा क्रान्ति ने वर्ग समाज के सभी पिछड़े रुढ़ियों और रिवाजों पर जबर्दस्त प्रहार किया तथा औरतों के उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष इस 'क्रान्ति के भीतर चल रही क्रान्ति' का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बना। जो लोग चीन में पूंजीवाद का समर्थन कर रहे थे वे क्रान्ति को बीच में ही रोक देना चाहते थे। वे परम्परावादी पारिवारिक ढांचे को तोड़ने के खिलाफ थे और पिछड़े नारी विरोधी विचारों को बढ़ावा दे रहे थे।

कम्युनिस्ट पार्टी में रहते हुए पूंजीवाद की राह पकड़ने वाले लिन पियाओ जैसे लोगों ने कुछ इस प्रकार की चीजों जैसे कन्फ्यूशियस की उक्ति 'अपने पर संयम रखो और (बुर्जुआ-अनु) अधिकारों को पुनर्स्थापित करो' (Restrain one-self and restore the right) को प्रचारित किया जिसका तात्पर्य यह निकलता था कि प्रत्येक व्यक्ति को इस श्रेणीबद्ध समाज में अपनी 'स्थिति' को स्वीकार कर लेना चाहिए। उन्होंने इस विचार को बढ़ावा दिया कि औरतों को अपने परिवार और बच्चों के अलावा किसी चीज से मतलब नहीं रखना चाहिए। उन्होंने बच्चों की देखभाल करने वाले बाल-केन्द्रों की आलोचना की और कहा कि यहां बच्चों की उचित देखभाल नहीं होती तथा इसके पहले कि इनके पालन-पोषण का सामूहिकीरण हो उनके विचार से समाज का और अधिक आर्थिक विकास होना आवश्यक था।

पार्टी के इन नेताओं ने समाज के ऐसे लोगों को गोलबन्द किया और उनकी अगुवाई की जो पिछड़े और परम्परागत नारी विरोधी विचारों का समर्थन करते थे। वे घरेलू कामों और बच्चों के पालन पोषण के समाजीकरण के प्रयासों पर कुठाराघात करते थे। ये चीजें इस बात को और अधिक पुख्ता ढंग से रेखांकित करती हैं कि समूचे चीन में औरतों के इतने अधिक घरेलू कामों का सामूहिकीकरण कितनी महान उपलब्धि थी। घरेलू कार्यों और बच्चों की देखभाल के समाजीकरण का स्तर क्रान्ति के बाद के चीन में एक समान नहीं था, विशेषकर गांवों और शहरों के बीच। 1971 तक चीन में 90 प्रतिशत औरतें घर से बाहर निकलकर काम कर रही थीं लेकिन शिशु देखभाल के सामूहिकीकरण की गति इतनी तेज नहीं थी। शहरों में एक से तीन वर्ष के आयु के लगभग 50 प्रतिशत बच्चे ही शिशु केन्द्रों में जाते थे जब कि शेष 50 प्रतिशत घर पर ज्यादातर अपने दादी-दादा के देखरेख में रहते थे तथा ग्रामीण इलाके में सामूहिक देखरेख में रहने वाले बच्चों का प्रतिशत तो और भी कम था। लेकिन चीन में शिशु देखभाल का समाजीकरण वर्ग संघर्ष का एक अंग था और औरतों की मुक्ति के लिए यह एक बड़ा कदम था। बच्चों के सामूहिक देखभाल जैसी 'नई समाजवादी चीजें' स्थापित करने के लिए समाज में भीषण राजनीतिक व विचारधारात्मक संघर्ष चला। हजारों साल की रुढ़ियों को चुनौती मिली और परम्पराओं की ये बेड़ियां उस समय टूट गई जब औरतों ने घर से बाहर कदम निकाला और समूचे चीनी समाज में आमूल चूल परिवर्तन के संघर्षों का हिस्सा बनीं। माओ के नेतृत्व में करोड़ों की संख्या में लोग हर प्रकार के उत्पीड़न और गैरबराबरी के खात्मे के लिए सचेतन रूप से काम कर रहे थे। और इस संघर्ष ने समाजीकृत शिशु देखभाल जैसी समाजवादी जिन 'नई चीजों' को सृजित किया वह एक जबर्दस्त उपलब्धि व ऐतिहासिक प्रगति थी।

(रिवोल्यूशनरी वर्कर' से साभार)

अनुवाद : **मीनाक्षी**

क्रान्तिकारियों की नई पीढ़ी तैयार करना

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान चीन में 'शिशु देखभाल केन्द्रों का उद्देश्य क्या था इस बात पर मतभेद था। कुछ लोगों का तर्क था कि सामूहिक देखभाल का मुख्य उद्देश्य बच्चों को महज भोजन, वस्त्र तथा एक सुरक्षित शरणस्थली देना था जबकि क्रान्तिकारियों का कहना था कि इन बाल केन्द्रों की महती जिम्मेदारी ''क्रान्तिकारी उत्तराधिकारी'' तैयार करना था। बच्चों को सिखाया गया 'जनता की सेवा करो'। उन्हें आपसी सहकार और सामूहिक रूप से पढ़ने, खेलने तथा समस्याओं को सुलझाने की शिक्षा दी गई। और उन्हें शारीरिक श्रम के महत्व के बारे में समझाया गया। उन्हें बताया गया कि जिस अनाज को वे खाते हैं , जो कपड़े वे पहनते हैं और जीवन की सभी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले किसान और मजदूर ही हैं।

गतिविधि

''आज देश को नजरुल जैसे ही विद्रोही कवि की जरूरत है''

काजी नजरुल इस्लाम के जन्मशती वर्ष पर राहुल फाउण्डेशन का कार्यक्रम

''आज देश को नजरुल जैसे ही एक ऐसे विद्रोही कवि की जरूरत है जिसकी अग्निवीणा की झंकार जन-जन के दिल में समाकर उनमें शोषण और अन्याय के विरुद्ध उठ खड़े होने का जोश भर दे।''

वरिष्ठ कवि और 'सर्वनाम' के सम्पादक **विष्णुचन्द्र शर्मा** ने 22 अप्रैल को लखनऊ में आयोजित द्वितीय **राहुल सांकृत्यायन स्मृति व्याख्यानमाला** के तहत 'काजी नजरुल इस्लाम और क्रान्तिकारी कविता की विरासत' पर अपने व्याख्यान में ये बातें कहीं। व्याख्यान का आयोजन नजरुल जन्मशती वर्ष के अवसर पर राहुल फाउण्डेशन की ओर से किया गया था।

उन्होंने कहा कि नजरुल की कविता की विरासत खतरे का सामना करने की विरासत है। जहां विरोध है, जहां क्रान्तिकारी चेतना है, वहां नजरुल है। शायद यही कारण है कि सत्ता प्रतिष्ठान ने नजरुल को बाकी देश की जनता से जोड़ने का कोई प्रयास नहीं किया जबकि बंगाल के घर-घर में नजरुल पढ़े और गाये जाते हैं।

श्री विष्णुचन्द्र शर्मा ने कहा कि नजरुल की कविता महज विद्रोह की कविता न होकर परम्परा और सामाजिक परिवेश से शक्ति अर्जित करती है जिसकी वजह से वह आम लोगों के दिलों और कण्ठ में बस जाती है। उनकी जमीन जयदेव के गीत गोविंद और लोक संगीत बाउल की जमीन के साथ ही जनसरोकारों की जमीन है। तभी उन्होंने कहा था : ''मेरे एक हाथ में टेढ़े बांस की बंसी है और दूसरे हाथ में रणभेरी''।

नजरुल के जीवन के अनेक संस्मरण सुनाते हुए उन्होंने कहा कि नजरुल ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की धारा के समानान्तर विप्लवी कविता की धारा को आगे बढ़ाया। नजरुल और रवीन्द्रनाथ दोनों में लोकतत्व की मौजूदगी है और दोनों ने ही लोकगीत, लोककथाओं और लोक शैलियों में निरन्तर प्रयोग किये लेकिन जहां रवीन्द्रनाथ इन लोकरूपों में सांस्कृतिक बोध की तलाश करते थे वहीं नजरुल उनमें संघर्ष के रंग भरते थे।

श्री शर्मा ने नजरुल के समझौताहीन जीवन, उनकी विद्रोही चेतना और जनता के जीवन तथा संघर्षों के साथ जुड़ने की उत्कट अभिलाषा से प्रेरणा लेने का आह्वान किया।

इस अवसर पर क्रान्तिकारी कविता की विरासत पर बोलते हुए प्रसिद्ध लेखक **श्रीलाल शुक्ल** ने कहा कि आज जीवन की जिन विभीषकाओं से हम जूझने को अभिशप्त हैं, उनकी चर्चा हिन्दी कविता में बहुत कम दिखाई पड़ती है। जटिल यथार्थ की समझ की कमी दिखती है। आज सत्ता प्रतिष्ठान के विरुद्ध खड़ा होने का माद्दा घटता जा रहा है।

इससे पूर्व श्री विष्णुचन्द्र शर्मा ने भगतसिंह की जेल डायरी के प्रथम हिन्दी अनुवाद **'शहीदे आजम की जेल नोटबुक'** का लोकार्पण किया। इतिहास के इस दुर्लभ दस्तावेज का प्रकाशन 'परिकल्पना प्रकाशन' ने किया है। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की 150वीं वर्षगांठ तथा पेरिस कम्यून दिवस की स्मृति में **'बिगुल'** मजदूर अखबार द्वारा प्रकाशित दो प्रेरक पोस्टरों का लोकार्पण भी श्रीलाल शुक्ल ने किया।

प्रख्यात आलोचक **रमेश कुंतल मेघ** तथा लखनऊ विश्वविद्यालय की पूर्व कुलपति **प्रो. रूपरेखा वर्मा** ने नजरुल जन्मशती पर उनकी कविताओं को हिन्दी पाठकों के लिए प्रस्तुत करने की आवश्यकता पर जोर दिया।

इसके अगले दिन 23 अप्रैल को श्री विष्णुचन्द्र शर्मा ने राहुल स्मृति व्याख्यानमाला के तहत दूसरे कार्यक्रम में 'साम्प्रदायिक फासीवाद की चुनौती और राहुल का मिशन' विषय पर आधार वक्तव्य में कहा कि आज फासीवाद के मुकाबले के लिए राहुल के समान सड़क पर उतरकर और विचारों के स्तर पर चौतरफा संघर्ष छेड़ना होगा। चर्चा में कथाकार **शकील सिद्दीकी,** दायित्वबोध के सहायक सम्पादक **अरविन्द सिंह,** वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता **सी.बी. सिंह** तथा राहुल फाउण्डेशन के **सत्यम वर्मा** ने भाग लिया।

''सुधरी हुई राजनीतिक संस्थाएं, पूंजी और श्रम के बीच समझौता कराने वाली परिषदें, परोपकार और विशेषाधिकार जो पूंजीपतियों की खैरातों के अलावा और कुछ नहीं हैं—इनमें से कोई भी चीज उस सवाल का जवाब नहीं दे सकती जो मंदिरों, सत्ता के सिंहासनों और संसदों को कंपकंपा रहा है। जो लोग दबे-कुचले हैं और जो उनकी पीठ पर सवार होकर आगे बढ़े हुए हैं, अब इन दोनों के बीच कोई अमन-चैन नहीं रह सकता। अब वर्गों के बीच कोई मेल-मिलाप नहीं हो सकता; अब तो वर्गों का सिर्फ अन्त ही हो सकता है। जब तक पहले न्याय न हो, तब तक सद्भावना की बात करना अनर्गल प्रलाप है, और जबतक इस दुनिया का निर्माण करने वालों का अपनी मेहनत पर अधिकार न हो, तब तक न्याय की बात करना बेकार है।''

(भगतसिंह की जेल नोटबुक से)

दायित्वबोध को शुभकामनाओं सहित

डा. आर. के. नरेश

शस्य वैज्ञानिक, कृषि विज्ञान केन्द्र, गाजियाबाद

आर-7/124, राजनगर, गाजियाबाद-201001

साझा सांस्कृतिक अभियान का दूसरा सम्मिलन

20-23 नवम्बर 1999, जबलपुर

संगोष्ठी के मुख्य विषय

भूमण्डलीकरण और संस्कृति

जनपक्षधर सांस्कृतिक आंदोलन की चुनौतियां

सम्पर्क : रवीन्द्र शुक्ला, 'विकल्प' सांस्कृतिक मोर्चा, 1835, सिल्वर ओक कम्पाउंड, नेपियर टाउन, जबलपुर

जिस दिन हमारी आत्मा इतनी निर्बल हो जाए कि अपने प्यारे आदर्शों से डिग जाएं, जानबूझकर असत्य के पक्षपाती बनने की बेशर्मी करें और उदारता, स्वतंत्रता और निष्पक्षता को छोड़ देने की भीरुता दिखाएं, वह दिन हमारे जीवन का सबसे अभागा दिन होगा। –गणेशशंकर विद्यार्थी

दायित्वबोध को शुभकामनाओं सहित

डा. ओमवीर सिंह

उपसंभागीय कृषि प्रसार अधिकारी, हापुड़

66/2 जागृति विहार, मेरठ-250004

अध्याय 17

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने में हमें आधार के रूप में कृषि पर और नेतृत्वकारी उपादान के रूप में उद्योग पर भरोसा करना चाहिए

समाजवादी कृषि और उद्योग के बीच अन्तर्सम्बन्ध

समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि और उद्योग भौतिक उत्पादन के दो महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं। यदि हमें मजदूर-किसान संश्रय को सुदृढ़ और विकसित करना है तथा समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का तीव्र और नियोजित विकास करना है तो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में इन दो क्षेत्रों की भूमिका एवं महत्ता को सही ढंग से समझना और इनके सम्बन्धों को सही ढंग से संचालित करना अनिवार्य है।

कृषि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का आधार है

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने में आधार के रूप में हमें कृषि पर निर्भर करना चाहिए

जिन्दा रहने के लिए, उत्पादन करने के लिए और सांस्कृतिक एवं सामाजिक गतिविधियों में भागीदारी करने के लिए लोगों को पहले भोजन की समस्या हल करनी होती है। मानव जाति के अस्तित्व के लिए और सभी उत्पादक गतिविधियों के लिए कृषि-उत्पादन एक पूर्वशर्त है। कृषि (एकत्र करने, रोपने, शिकार करने, मछली मारने और पशुपालन सहित) मानव-समाज की प्रारम्भिक अवस्थाओं में उत्पादन का एकमात्र क्षेत्र हुआ करता था। चूंकि मानव इतिहास के इस युग में श्रम-उत्पादकता बहुत ही कम थी, इसलिए महज जिन्दा रहने के लिए यह जरूरी था कि आदिम कम्यून का समस्त उपलब्ध श्रम कृषि-कार्यों में लगाया जाये। जब कृषि में श्रम-उत्पादकता उस सीमा तक विकसित हो गई कि श्रम-शक्ति का एक हिस्सा समाज के सभी सदस्यों के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त मात्रा में कृषि-उत्पाद पैदा करने लगा तभी दूसरी गतिविधियों में लगने के लिए श्रम का मुक्त होना सम्भव हो सका। इसतरह, दस्तकारी उद्योग कृषि से अलग होकर उत्पादन की एक स्वतंत्र शाखा बन गई; वाणिज्य का उदय हुआ, और फिर इसी तरह मानव-गतिविधि की अन्य शाखाएं अस्तित्व में आईं जो बौद्धिक उत्पादन से जुड़ी हुई थीं, जैसे कि संस्कृति और शिक्षा। कृषि में श्रम-उत्पादकता जितनी बढ़ती गई, उसी अनुपात में कृषि से बाहर की, भौतिक और बौद्धिक उत्पादन की शाखाएं विकसित होती चली गईं। मार्क्स के अनुसार, ''गेहूं, पशुधन आदि के उत्पादन में समाज द्वारा खर्च किया जाने वाला समय जितना ही कम होता जाता है, उतना ही अधिक समय वह (यानी समाज-अनु.) अन्य भौतिक या मानसिक उत्पादन के लिए अर्जित करता चला जाता है।''[1] उन्होंने यह भी बताया है, ''कृषि श्रम की यह प्राकृतिक उत्पादकता...सारे अतिरिक्त श्रम का आधार है।''[2] सार रूप में कहें तो, कृषि मानव अस्तित्व का आधार है तथा यह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अन्य शाखाओं के स्वतंत्र अस्तित्व और आगे विकसित होने का आधार है। यह एक आर्थिक नियम है जो मानव समाज के सभी ऐतिहासिक कालों पर लागू होता है।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आधार के रूप में कृषि की भूमिका किसी भी पूर्ववर्ती समाज की अपेक्षा समाजवादी समाज में अधिक सुस्पष्ट होती है। पूंजीवादी समाज में, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आधार के रूप में कृषि के अस्तित्व का वस्तुगत नियम प्रतियोगिता और उत्पादन की अराजकता के अन्तर्गत अपनी भूमिका निभाता है। कुछ साम्राज्यवादी देशों ने, जिनकी घरेलू कृषि अल्पविकसित थी, एकाधिकारी पूंजी की विकास-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों के कृषि-उत्पादों की कम कीमतें चुकाकर उन्हें लूटने का काम किया। उन देशों में, घरेलू कृषि ने नहीं बल्कि विदेशी कृषि ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आधार का काम किया। समाजवादी समाज में, पिछड़े देशों की कृषि को लूटने की कत्तई इजाजत नहीं होती। यहां तक कि यदि समान मूल्य के अनुसार विनिमय हो तो भी ऐसा नहीं किया जा सकता कि समाजवादी देश खाद्यान्न के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहे, या समाजवादी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए विदेशी कृषि को आधार बनाया जाये। ऐसा करना स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के सिद्धान्तों के विपरीत होगा। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास को संगठित करने में, समाजवादी देश को, कृषि को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का आधार बनाने के वस्तुगत नियम को सचेतन तौर पर लागू करना करना चाहिए।

समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास में आधार के रूप में कृषि पर निर्भर करना चाहिए; इसका बुनियादी कारण, ठोस रूप में यह है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था की विभिन्न शाखाओं का विकास इस बात पर निर्भर होता है कि कृषि भरण-पोषण के साधन उपलब्ध कराये। उद्योग, परिवहन, या शिक्षा—उपक्रम चाहे जो भी हो—बुनियादी जरूरत यह होती है कि कृषि को अनाज और मालों की एक सुनिश्चित मात्रा मुहैया करनी होती है।

समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के लिए कृषि के आधार होने का दूसरा कारण यह तथ्य है कि यह औद्योगिक कच्चे मालों का स्रोत होती है (इसका अपवाद कच्चे माल का सिर्फ वह हिस्सा होता है, जिसकी आपूर्ति स्वयं उद्योग ही करता है)। खासकर हल्के उद्योगों के लिए, कच्चे माल, लगभग पूरी तरह, कृषि द्वारा ही उपलब्ध कराये जाते हैं। भारी उद्योग

को भी 'इनपुट' के रूप में कुछ विशेष कृषि-उत्पादों की आवश्यकता होती है। माओ त्से-तुङ ने बताया है : "हल्का उद्योग कृषि के साथ घनिष्ठता से जुड़ा होता है। कृषि के बिना हल्का उद्योग हो ही नहीं सकता।"[3] कृषि औद्योगिक विकास से, खासकर हल्के उद्योग से, सीधे जुड़ी होती है।

कृषि समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के लिए आधार का काम क्यों करती है, इसका एक अन्य कारण यह तथ्य है कि ग्रामीण इलाके औद्योगिक उत्पादों का विशाल बाजार होते हैं। ग्रामीण आबादी, जो कुल आबादी का लगभग 80 प्रतिशत है, उद्योग के लिए एक बड़ा बाजार है। अधिक विकसित कृषि-उत्पादन का मतलब है कि माल के रूप में अनाज और औद्योगिक कच्चे माल का अधिक उत्पादन होगा, और किसानों की क्रय-शक्ति अधिक उन्नत होगी। भारी और हल्के, दोनों ही किस्म के औद्योगिक उत्पादों के लिए किसानों की आवश्यकता लगातार बढ़ती जा रही है। चीन के सहकारीकरण के सफल क्रियान्वयन के तत्काल बाद, माओ ने इंगित किया था, "अभी भी यह बात उतनी स्पष्टतापूर्वक समझी नहीं गई है कि कृषि भारी उद्योग को एक महत्वपूर्ण बाजार मुहैया कराता है। लेकिन, इस तथ्य को तब और अधिक आसानी से समझा जा सकेगा जब तकनीकी प्रगति और कृषि का आधुनिकीकरण ज्यादा से ज्यादा मशीनों, उर्वरकों, जल-संरक्षण व्यवस्था और विद्युत परियोजनाओं की तथा फार्मों के लिए परिवहन-सुविधाओं की और ग्रामीण उपभोक्ताओं के लिए ईंधन एवं भवन-सामग्रियों की मांग करेगा।"[4]

कृषि को ही समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के लिए आधार क्यों बनाया जाना चाहिए, इसका एक और कारण यह तथ्य है कि कृषि, उद्योग के लिए और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अन्य सेक्टरों के लिए श्रम-शक्ति का मुख्य भण्डार है। समाजवादी उद्योग, वाणिज्य और परिवहन के विकास के लिए ज्यादा से ज्यादा श्रम की आवश्यकता होती है। सिर्फ यही काफी नहीं होगा कि हम इन सेक्टरों में श्रम-उत्पादकता को ऊपर उठाने की कोशिशें करें ताकि श्रम-शक्ति खाली की जा सके और इस तरह नई जरूरतों के लिए उसकी बचत की जा सके; इन सेक्टरों के बाहर से भी, कुछ हद तक शहरी इलाकों से और कुछ हद तक ग्रामीण इलाकों से और अधिक श्रम का आना जरूरी है। माओ त्से-तुङ ने स्पष्ट किया है, "चीन के औद्योगिक मजदूरों के स्रोत किसान ही हैं।"[5] लेकिन, ग्रामीण आबादी के जिस भाग को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अन्य सेक्टरों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रम-शक्ति के रूप में स्थानान्तरित किया जा सकता है, उसका निर्धारण इन विकासपरक आवश्यकताओं से अपने-आप में सीधे-सीधे या उसी रूप में नहीं होता, बल्कि कृषि-उत्पादन के विकास के स्तर से होता है और इस बात से होता है कि कृषि-श्रम की उत्पादकता को कितना बढ़ाया जा सकता है। केवल उन्हीं स्थितियों में जबकि कृषि-श्रम-उत्पादकता को लगातार उन्नत किया जा रहा हो तथा कृषि एवं अन्य सहायक उत्पादों की पैदावार लगातार बढ़ती जा रही हो; यह संभव हो सकता है कि श्रम-शक्ति के एक समुचित परिमाण को कृषि से बाहर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अन्य सेक्टरों के विकास को आगे बढ़ाने के लिए स्थानान्तरित कर दिया जाये।

समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के आधार के रूप में कृषि पर निर्भर रहने का एक कारण और भी है। कृषि राज्य के संचय कोषों का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। कृषि करों के जरिये राज्य को प्रत्यक्षत: धन उपलब्ध कराने के साथ ही, हल्के उद्योग को कच्चे मालों के रूप में कृषि-उत्पादों की आपूर्ति के द्वारा, कृषि समाजवादी संचय को परोक्ष रूप से बढ़ाने का काम भी करता है। इसतरह, राजकीय राजस्व को बढ़ाने, संचय कोष का विस्तार करने और समाजवादी निर्माण की सहायता करने के नाते कृषि का विकास महत्वपूर्ण हो जाता है।

उपरोक्त पहलुओं से देखे जाने पर, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि की महत्ता और भूमिका यह तय कर देती है कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास को कृषि के विकास से अलग नहीं किया जा सकता। यदि कृषि का सही ढंग से विकास नहीं किया जायेगा तो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अन्य सेक्टरों की स्थिति भी बेहतर नहीं हो सकती। चीन के समाजवादी निर्माण का अनुभव बताता है कि यदि किसी विशेष वर्ष में फसल जबर्दस्त होती है तो उसी वर्ष या उसके ठीक बाद के वर्ष में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास की गति तेज हो जाती रही है। इसके विपरीत, यदि किसी वर्ष फसल अच्छी नहीं होती है तो उसी वर्ष या उसके आगे के वर्ष में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास मन्द हो जाता रहा है।

यह हमें बताता है कि समाजवादी निर्माण के दौरान राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने में आधार के रूप में कृषि पर निर्भर होने के सिद्धान्त पर मजबूत पकड़ अनिवार्य है।

कृषि के लिए बुनियादी युक्ति मशीनीकरण में निहित है

कृषि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का आधार है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने के लिए हमें कृषि के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी। जब कृषि को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आधार के रूप में विकसित किया जायेगा, केवल तभी हल्के उद्योग, भारी उद्योग तथा अन्य आर्थिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक उपक्रमों का विकास संभव हो पायेगा।

कृषि को कैसे विकसित किया जा सकता है? कोई समाजवादी देश कृषि के सामूहिकीकरण से पहले उसका मशीनीकरण नहीं कर सकता। बड़ी मशीनों के इस्तेमाल से पहले कृषि का सामूहिकीकरण अपरिहार्य है। लेकिन जब कृषि के सामूहिकीकरण का काम पूरा हो जाता है, तो फिर इस सामूहिकीकरण के आधार पर कृषि का मशीनीकरण करना अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। कृषि-सहकारिता में चीन के उभार की पूर्वबेला में, माओ ने पहले ही निर्दिष्ट किया था कि चीन के देहात को सिर्फ सामाजिक सुधार के अमल की ही—सिर्फ निजी स्वामित्व की व्यवस्था के सामूहिक स्वामित्व की व्यवस्था में रूपान्तरण की ही—आवश्यकता नहीं है, बल्कि इसे तकनीकी अभिनव परिवर्तन की—हाथ के श्रम को यांत्रिक उत्पादन में बदल डालने की भी आवश्यकता है।

"चीन की सामाजिक और आर्थिक शक्ल पूरी तरह से तबतक नहीं बदलेगी जबतक कि सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के समाजवादी रूपान्तरण का काम पूरा नहीं हो जाता और जबतक कि तकनीकी क्षेत्र में, उत्पादन की हर शाखा में, हर जगह, जहां कहीं भी सम्भव है, मशीनरी का इस्तेमाल नहीं होने लगता।"[6] चीन के कृषि के सामूहिकीकरण को सफलतापूर्वक पूरा किये जाने और ग्रामीण जन-कम्यूनों की स्थापना के बाद, माओ त्से-तुङ ने सर्वथा सही अवसर पर, कृषि के निरन्तर मशीनीकरण के महान कार्यभार को पूरा करने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में बताया, "कृषि के लिए बुनियादी युक्ति मशीनीकरण में निहित है।" समाजवादी उत्पादन-सम्बन्धों की उत्प्रेरक भूमिका को पूरी तरह प्रभावी बनाकर तथा समाजवादी उद्योग, विशेषकर भारी उद्योग की सहायता से, कृषि के मशीनीकरण की गति को तेज किया जायेगा।

मुक्ति के पूर्व, पुराना चीन एक अत्यन्त पिछड़ा हुआ कृषि-प्रधान देश था। 1949 में, पूरे देश का खाद्यान्न-उत्पादन सिर्फ 216.2 अरब *जिन** था। मुक्ति के बाद जब कृषि के सामूहिकीकरण और जन-कम्यूनों के जरिये ग्रामीण इलाकों में समाजवादी उत्पादन-सम्बन्ध स्थापित और विकसित हो गये, तो कृषि-उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। 1971 में खाद्यान्नों का उत्पादन 492 अरब *जिन* तक जा पहुंचा जो 1949 की तुलना में दुगुने से भी अधिक था। लेकिन चीन की कृषि में मशीनीकरण का स्तर ऊंचा नहीं है। कृषि-श्रम-उत्पादकता अपेक्षाकृत निम्न बनी हुई है। दूसरे देशों की तुलना में, जहां कृषि के मशीनीकरण का स्तर पर्याप्त उन्नत है, चीन का कृषि-उत्पादन अभी भी अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई स्थिति में है। यह स्थिति चीन के उद्योग

* 1 जिन 0.5 किलोग्राम या 1.1 पाउण्ड के बराबर होता है।

और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अन्य सेक्टरों के विकास के साथ मेल नहीं खाती। इसलिए, यह जरूरी है कि कृषि के मशीनीकरण को आगे बढ़ाया जाये और ग्रामीण इलाकों में समाजवादी उत्पादन-सम्बन्धों के निरन्तर विकास और सुदृढ़ीकरण के आधार पर कृषि-उत्पादन के तेज विकास को प्रोत्साहित किया जाये।

जब जोतने, बोने, फसल काटने और ढोने में मशीनों का इस्तेमाल किया जाने लगता है तो कृषि-श्रम-उत्पादकता दसियों और सैकड़ों गुना बढ़ जाती है। हाथ से हल जोतने पर, एक अनुभवी मजदूर एक दिन में सिर्फ एक *मू** जमीन जोत सकता है। एक बैल के सहारे, एक दिन में चार *मू* की जुताई सम्भव है। एक मध्यम दर्जे के या बड़े ट्रैक्टर के द्वारा एक दिन में कुछ दहाइयों से लेकर कुछ सैकड़े *मू* तक की जुताई की जा सकती है और कृषि-श्रम-उत्पादकता को प्रभावी रूप में दसियों गुने से लेकर सैकड़ों गुने तक बढ़ाया जा सकता है। कृषि के मशीनीकरण के जरिए बचाई गई श्रम-शक्ति का इस्तेमाल, प्रति इकाई-क्षेत्र पैदावार बढ़ाकर तथा कृषि, वनोपज, पशुपालन, सहायक उत्पादन और मत्स्यपालन के समग्र विकास को बढ़ावा देकर सघन और व्यापक—दोनों ही रूपों में उत्पादन बढ़ाने के लिए किया जा सकता है। बचाई गई श्रम-शक्ति का इस्तेमाल राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अन्य सेक्टरों की विकास-सम्बन्धी जरूरतों को पूरा करने के लिए भी किया जा सकता है।

कृषि का मशीनीकरण प्राकृतिक आपदाओं से लड़ने में चीन की क्षमता बढ़ाने में भी मददगार हो सकता है। यह खाद्यान्न के लिए मौसम पर निर्भरता को कम करने में भी सहायक हो सकता है। विशाल भूभाग और बहुतेरी नदियों के चलते, चीन में हर वर्ष कुछ सूखा और कुछ बाढ़ का आना तो स्वाभाविक है, लेकिन विद्युत शक्ति-चालित जल-प्रवाह और सिंचाई के साधनों से पानी को अधिक प्रभावी ढंग से नियंत्रित किया जा सकता है। नतीजे के तौर पर, सम्भावित सूखे या बाढ़ से होने वाला नुकसान कम हो जायेगा और कृषि-उत्पादन में सुस्थिर वृद्धि सुनिश्चित हो सकेगी। गरीब और निम्न मध्यम किसान इसे इस रूप में सटीक अभिव्यक्ति देते हैं : ''नदी में मशीनों की आवाज खेत में खड़ी फसलों को खुशियों से भर देती है। सूखे और बाढ़ का डर जाता रहता है, अच्छी फसल और ऊंची उपज की गारण्टी हो जाती है।''

अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन के मार्गदर्शन में, और विशेष तौर पर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के बाद चीन के कृषि-मशीनीकरण में तीव्र विकास हुआ है। 1965 की तुलना में 1973 में ग्रामीण इलाकों में विद्युत-उपभोग में 2.8 गुने की, रासायनिक उर्वरकों के इस्तेमाल में 1.9 गुने की, बड़े और मझोले ट्रैक्टरों की संख्या में 2.2 गुने की तथा हस्तचालित ट्रैक्टरों की संख्या में 75 गुने की वृद्धि हुई है। इसी अवधि में, कुल कृषि भूमि के मशीनी साधनों द्वारा जोते जाने वाले हिस्से में 70 फीसदी की बढ़ोत्तरी हुई है। विद्युतीकृत जल-प्रवाह और सिंचाई साधनों में 2.8 गुने की वृद्धि हुई है। देश की 90 फीसदी काउण्टियों में कृषि-मशीनरी के लिए मरम्मत केन्द्र हैं। चीन में कृषि-मशीनीकरण की कदम-ब-कदम प्रगति के साथ ही सूखा-नियंत्रण और कृषि की सिंचाई क्षमता बढ़ती जायेगी और प्राकृतिक आपदाओं का मुकाबला करने की लोगों की क्षमता मजबूत होती जायेगी, तथा कृषि-उत्पादन का सुस्थिर विकास और अधिक सुनिश्चित हो जायेगा। इससे हम देख सकते हैं कि कृषि में उत्पादक शक्तियों को विकसित करने के लिए कृषि-सामूहिकीकरण के आधार पर, कृषि के मशीनीकरण को आगे बढ़ाना एक जरूरी रास्ता है।

कृषि में उत्पादक-शक्तियों के विकास को आगे बढ़ाने के अतिरिक्त कृषि का मशीनीकरण भारी उद्योग—विशेषकर मशीन-निर्माण, रसायन, विद्युत और ईंधन उद्योगों पर भी जबर्दस्त प्रभाव छोड़ेगा। कृषि का मशीनीकरण उद्योग और कृषि, शहर और गांव, तथा मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच के अंतर को कम करने के लिए अनुकूल परिस्थितियां तैयार करेगा, और इस तरह मजदूर-किसान संश्रय को और अधिक मजबूत बनायेगा।

कृषि के मशीनीकरण को क्रमशः आगे बढ़ाने की प्रक्रिया में सामूहिक अर्थव्यवस्था का भौतिक आधार प्रतिदिन विकसित होगा, और ग्रामीण जन-कम्यून की त्रिस्तरीय स्वामित्व-व्यवस्था और अधिक सुदृढ़ बनेगी तथा विकसित होगी। कृषि के मशीनीकरण के अनुभव ने यह दिखाया है कि बड़े और मध्यम दर्जे की कृषि-मशीनों का प्रभावी ढंग से इस्तेमाल केवल तभी हो सकता है जब उनका स्वामित्व कम्यून या उत्पादन-ब्रिगेड के हाथों में हो। परिणामस्वरूप, कृषि के मशीनीकरण के विकास के साथ-साथ, कम्यून और ब्रिग्रेड स्तर पर सामूहिक अर्थव्यवस्था की भूमिका बढ़ती चली जायेगी और उसका पैमाना उन्नत होता चला जायेगा तथा जन-कम्यूनों की श्रेष्ठता और अधिक स्पष्ट होती चली जायेगी। गरीब और निम्न मध्यम किसान जन-कम्यूनों को और अधिक प्यार करने लगेंगे तथा समाजवादी मार्ग को अपनाने में और अधिक दृढ़ होते चले जायेंगे। गरीब और निम्न-मध्यम किसान कृषि के मशीनीकरण की आवश्यकता को अभिव्यक्त करने में जीवन्त भाषा का प्रयोग करते हैं : ''जन-कम्यून शक्ति से भरपूर है। सामूहिक अर्थ-व्यवस्था एक लाल फूल के साथ खिलती है। कृषि के मशीनीकरण की स्थिति में, सबसे प्रचण्ड तूफान भी हमें पराजित नहीं कर पायेगा।''

कृषि में ताचाई से सीखो

कृषि के मशीनीकरण को क्रमशः सामूहिकीकरण के आधार पर अंजाम दिया जायेगा—यह समाजवादी कृषि के विकास की एक अपरिहार्य प्रवृत्ति है। लेकिन कृषि का मशीनीकरण क्रान्तिकारीकरण की कमान के अन्तर्गत होना चाहिए। अध्यक्ष माओ हमें बताते हैं, ''एक बार जब सही विचारों को, जो उन्नत वर्ग की अभिलाक्षणिकता होते हैं, जनता पकड़ लेती है तो ये विचार एक भौतिक शक्ति बन जाते हैं जो समाज को बदल डालती है और दुनिया को बदल डालती है।''[7] जब गरीब और निम्न-मध्यम किसान, जो समाजवादी कृषि के मालिक होते हैं, मार्क्सवाद-लेनिनवाद और माओ त्से-तुङ विचारधारा का अध्ययन करते हैं तथा माओ की लाइन और सामान्य एवं विशिष्ट नीतियों को भली-भांति समझ लेते हैं तो उन्हें अदम्य शक्ति प्राप्त हो जाती है और वे पहाड़ों को पालतू बनाने और नदियों पर जीन कसने की सामर्थ्य अर्जित कर लेते हैं। वे प्रतिकूल प्राकृतिक स्थितियों को अनुकूल बना सकते हैं, कम उपज को अधिक उपज में बदल सकते हैं, एक भी कृषि-मशीन के मालिक न होने की स्थिति से आगे बढ़कर कई कृषि-मशीनों के मालिक बन सकते हैं और कृषि के मशीनीकरण की क्षमता हासिल कर सकते हैं। शानसी प्रान्त की सियाङ काउण्टी में स्थित ताचाई कम्यून के ताचाई उत्पादन ब्रिग्रेड का रूपान्तरण ठीक इसी तरह हुआ।

ताचाई उत्पादन-ब्रिग्रेड ताइहाङ पहाड़ों में स्थित है। कृषि के सामूहिकीकरण से पहले यह ढेर सारी चट्टानों और बहुत थोड़ी-सी मिट्टी वाला गरीब पहाड़ी इलाका था। ताचाई के गरीब और निम्न-मध्यम किसान इसका बयान इन शब्दों में किया करते थे : ''पहाड़ ऊंचे हैं और चट्टाने इफरात। बाहर जाना हो तो कठिन चढ़ाई चढ़कर। हर परिवार के पास 3.5 *मू* से भी कम जमीन है। प्राकृतिक आपदायें आम बात हैं।'' 1953 में जब प्रारम्भिक सहकारी खेती शुरू हुई तो अनाजों की प्रति *मू* उपज औसतन 250 *जिन* थी। प्रारम्भिक सहकारिता से उन्नत सहकारी कृषि और फिर जन-कम्यून के विकास की प्रक्रिया में, ताचाई उत्पादन-ब्रिगेड की पार्टी-शाखा दृढ़तापूर्वक सर्वहारा राजनीति को कमान में रखने के सिद्धान्त पर कायम रही। उसने नारा दिया, ''लोगों को बदल डालो, जमीन को बदल डालो, उपज को बदल डालो।'' उसने कार्यकर्ताओं को और जनसमुदाय को शिक्षित करने में माओ त्से-तुङ विचारधारा का इस्तेमाल किया और जनता के बीच विचारधारात्मक क्रान्ति के माध्यम से कृषि-उत्पादन में जबर्दस्त बदलाव ला

* 1 मू 1/15 हेक्टेयर या 0.16 एकड़ के बराबर होता है।

दिया। ताचाई ब्रिगेड के कार्यकर्ताओं और जनसमुदाय ने भूस्वामियों, धनी किसानों, प्रतिक्रान्तिकारियों और बुरे तत्वों की तोड़-फोड़ की कार्रवाइयों को कुचल दिया तथा ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ गिरोह की संशोधनवादी लाइन के हस्तक्षेप का प्रतिरोध किया। कठिन संघर्ष के जरिये आत्मनिर्भरता की अध्यक्ष माओ की महान नीति के मार्गदर्शन में, ताचाई-ब्रिगेड जल-नियंत्रण के लिए महत्वपूर्ण निर्माण के कार्य में सन्नद्ध हो गया और "तीन खोये हुए क्षेत्रों" को जिनमें खराब निर्माण के कारण जल, उर्वरकों और मिट्टी को खो दिया गया था, उसने "तीन सुरक्षित क्षेत्रों" में, जिनमें जमीन के समतलीकरण और सीढ़ीदार खेत बनाने के बाद जल, उर्वरकों और मिट्टी को सुरक्षित कर लिया गया था, रूपान्तरित कर डाला। ताचाई ब्रिगेड में अनाज की प्रति *मू* उपज क्रमशः बढ़कर 1953 में 250 *जिन* से 1958 में 543 *जिन* 1964 में 802 *जिन,* और 1967 में 1,096 *जिन* हो गई। अनाज-उत्पादन में तेज बढ़ोत्तरी के साथ-साथ, ताचाई ब्रिगेड ने कृषि, वनरोपण, पशुपालन और सहायक उत्पादन के क्षेत्रों में सर्वतोमुखी विकास किया। "लोगों को बदल डालने, जमीन को बदल डालने, और उत्पादन को बदल डालने" की इस प्रक्रिया में ताचाई ब्रिगेड की पार्टी-शाखा ने जोतने, फसल उगाने, दंवाई-मंडाई करने, ढोने और अनाज एवं चारा तैयार करने के कामों के मशीनीकरण को बड़े पैमाने पर आगे बढ़ाने के लिए देशी और विदेशी तकनोलाजी को एक साथ मिलाने के काम को खुद अंजाम देने तथा मशीनीकरण को क्रान्ति की कमान में रखने के मार्ग पर आगे बढ़ने में भी कम्यून-सदस्यों को नेतृत्व दिया। क्रान्ति के लिए प्रकृति से संघर्ष में और कृषि-क्षेत्र के संघर्ष में गरीब और निम्न-मध्यम किसानों का वीरोचित आचरण लिन प्याओ के प्रतिक्रियावादी भ्रामक प्रचारों की शक्तिशाली आलोचना और खण्डन प्रस्तुत करता है, जो कहा करता था कि, "वे (यानी गरीब और निम्न मध्यम किसान-अनु.)बस इतना ही सोचते हैं कि कैसे पैसे बनाये जायें, कैसे चावल, तेल, नमक, चटनी, सिरका और जलावन की लकड़ी हासिल की जाये और कैसे अपने बीवी-बच्चों की देखरेख की जाये।" साथ ही, गरीब और निम्न-मध्यम किसानों का यह वीरोचित आचरण कन्फ्यूशियस का भी खण्डन करता है, जो कहता था, "आम लोग केवल स्वार्थों के द्वारा ही कायल किये जा सकते हैं।"

ताचाई ब्रिग्रेड इस बात का एक मॉडल है कि समाजवादी कृषि को माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन के अनुसार कैसे विकसित किया जाये। ताचाई ब्रिगेड का मूलभूत अनुभव—वर्ग संघर्ष, उत्पादन के लिए संघर्ष और वैज्ञानिक प्रयोग—इन तीन महान क्रान्तिकारी आन्दोलनों को संचालित करने में, सर्वहारा राजनीति और माओ त्से-तुङ विचारधारा को कमान में रखने के सिद्धान्त पर दृढ़तापूर्वक डटे रहने, और आत्मनिर्भरता एवं कठिन परिश्रम की स्पिरिट को तथा (सर्वहारा-अनु.) राज्य को प्यार करने और (अपनी-अनु.) सामूहिक इकाई को प्यार करने की कम्युनिस्ट शैली को कायम रखने में निहित है। सर्वाधिक अनिवार्य बात यह है कि किसानों को मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा की शिक्षा दी जाये, पार्टी की बुनियादी लाइन सचेतन रूप से लागू की जाये तथा बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वहारा के अधिनायकत्व को समेकित एवं सुदृढ़ीकृत किया जाये।" कृषि में ताचाई से सीखो"—यह माओ का महान आह्वान है। अनगिनत उदाहरणों ने यह दिखा दिया है कि कृषि के क्षेत्र में ताचाई से ही सीखा जाये अन्यथा कोई महत्वपूर्ण बदलाव नहीं आ सकता।

ल्यू शाओ-ची की संशोधनवादी लाइन के हस्तक्षेप और विध्वंसक भूमिका के चलते, महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के पहले, सियाङ काउण्टी में, जहां ताचाई ब्रिगेड स्थित है, ताचाई से सीखने का जन-आन्दोलन शुरू नहीं हो सका। इससे कृषि-उत्पादन के विकास की गति अत्यन्त मद्धम रही। फिर भी काउण्टी में खाद्यान्न का कुल उत्पादन सात-आठ करोड़ *जिन* के आसपास होता था। राज्य को सालाना लगभग 70 लाख *जिन* खाद्यान्न बेचा जाता था। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने सियाङ काउण्टी के दृष्टिकोण को बदल दिया। 1967 से नई शुरुआत हुई और पूरी काउण्टी में ताचाई से सीखने का जन-आन्दोलन जबर्दस्त ढंग से उठ खड़ा हुआ। इसने लिन प्याओ की संशोधनवादी लाइन के हस्तक्षेप और तोड़फोड़ की कार्रवाई का भी विरोध किया। समूची काउण्टी की जनता ने आकाश-पाताल एक कर दिया, पहाड़ों और नदियों को रूपांतरित कर डाला और सियाङ काउण्टी के भूक्षेत्र का नक्शा बदल डाला। कृषि-उत्पादन तेजी से बढ़ा। खाद्यान्न का उत्पादन तीन वर्षों में दुगुना और पांच वर्षों में तिगुना हो गया। 1971 में खाद्यान्न का कुल उत्पादन 24 करोड़ *जिन* हो गया, जो महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के पहले के सर्वाधिक उत्पादन से भी तिगुना अधिक था। राज्य को माल के रूप में बेचा जाने वाला खाद्यान्न 8 करोड़ *जिन* हो गया, जो महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के पहले के सबसे अच्छी फसल वाले वर्ष की तुलना में भी दस गुना अधिक था।

ताचाई से सीखने का सियाङ काउण्टी का अनुभव यह दिखाता है कि जब जनसमुदाय माओ त्से-तुङ विचारधारा से लैस होते हैं तो वह किसी भी कठिनाई पर विजय पा सकता हैं और इस मानव-संसार में कोई भी चमत्कार कर सकते हैं। ताचाई से सीखने का प्रबल जनान्दोलन खड़ा करने और पूरे देश में ताचाई के फूल खिलने देने के परिणामस्वरूप, निश्चित तौर पर, कृषि-उत्पादन में वृद्धि होगी, ग्रामीण इलाकों में समाजवादी आधार और अधिक समेकित होगा तथा कृषि को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आधार के तौर पर और अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का अवसर प्राप्त होगा।

सभी व्यवसायों और उद्योगों को सायास कृषि की सहायता करनी चाहिए

कृषि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का आधार है। कृषि-उत्पादन पूरी समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास को प्रभावित करता है। कृषि का यथोचित विकास किये बिना अन्य व्यवसायों और उद्योगों की विकास की भी आशा नहीं की जा सकती। यदि कृषि का सही ढंग से विकास हो तो अन्य सभी चीजें भी बेहतर ढंग से चलेंगी। समाजवादी कृषि का विकास सभी व्यवसायों और उद्योगों से जुड़ा हुआ है। सभी व्यवसायों और उद्योगों को चाहिये कि वे कृषि को सहायता देने के काम को अत्यधिक महत्व दें और इस जिम्मेदारी को सक्रियतापूर्वक निभाएं। औद्योगिक सेक्टरों को, सर्वोपरि तौर पर, कृषि की सहायता करने और कृषि के मशीनीकरण को आगे बढ़ाने के काम को एक महत्वपूर्ण कार्यभार समझना चाहिए। कृषि को आधार मानने के अनुसार ही उन्हें दृढ़तापूर्वक अपने कार्य की दिशा निर्धारित करनी चाहिए। लोहा और इस्पात, मशीन-निर्माण, रासायनिक उर्वरक और सीमेण्ट जैसे छोटे स्थानीय उद्योगों को कृषि-उत्पादन की सेवा करने की सही दिशा पर दृढ़ता के साथ अमल करना चाहिए।

सभी व्यवसायों और उद्योगों द्वारा कृषि को मदद, समाजवादी अर्थव्यवस्था की एक महत्वपूर्ण अभिलाक्षणिकता है। पूंजीवादी समाज में उद्योग कृषि का शोषण करता है, और शहरी इलाके ग्रामीण इलाकों को लूटते हैं। इसलिए, औद्योगिक पूंजीपति और मेहनतकश किसान के बीच के सम्बन्ध वर्ग-शत्रुता के सम्बन्ध होते हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था में, ग्रामीण और शहरी इलाकों के समाजवादी रूपान्तरण के बाद, और समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व की व्यवस्था के आधार पर, शहरी और ग्रामीण इलाकों के बीच का तथा उद्योग और कृषि के बीच का वर्ग-विभेद मिट जाता है। लेकिन अभी भी समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व के दो रूप हैं। और चूंकि ग्रामीण इलाकों का आर्थिक, सांस्कृतिक और तकनोलाजिकल स्तर अभी भी शहरी क्षेत्रों से नीचे है, अतः अभी भी उनके बीच बुनियादी अंतर मौजूद हैं। समाजवाद और कम्युनिज्म के निर्माण के सर्वहारा वर्ग के महान कार्यक्रम का यह तकाजा है कि कृषि-उत्पादन के सतत् विकास और सामाजिक सुधार एवं कृषि में तकनीकी परिवर्तनों को आगे बढ़ाते जाने की प्रक्रिया में, इन बुनियादी अंतरों को क्रमशः कम किया जाये और अंततोगत्वा समाप्त कर दिया जाये।

इसलिए, समाजवादी अर्थव्यवस्था को विकसित करने में, यह एक वस्तुगत आवश्यकता है कि सभी व्यवसाय और उद्योग कृषि की मदद करें तथा ग्रामीण इलाकों के आर्थिक, सांस्कृतिक और तकनीकी स्तर को ऊंचा उठाने में सहयोग करें। सर्वहारा पार्टी सभी व्यवसायों और उद्योगों से अपील करती है कि वे कृषि को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का आधार बनाने के सिद्धान्त को दृढ़ता से पकड़ें तथा समाजवादी कृषि को हर ओर से और हर पहलू से विकसित करने में अपना सहयोग दें।

पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की अपनी जरूरत के चलते बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा पार्टी के भीतर के उसके एजेण्ट न सिर्फ शहरी और ग्रामीण इलाकों के बीच के अंतर को कम नहीं करेंगे, बल्कि उद्योग को कृषि का शोषण करने देने और शहरी इलाकों द्वारा ग्रामीण इलाकों को लूटने देने की पूंजीवादी पद्धति को भी लागू करेंगे। सोवियत संघ में पूंजीवादी पुनर्स्थापना की प्रक्रिया, ब्रेझनेव के नेतृत्व में नौकरशाह-इजारेदार बुर्जुआ वर्ग द्वारा ग्रामीण इलाकों के शोषण और नियंत्रण के घनीभूत होते जाने की प्रक्रिया भी है। ''कृषि की कीमत पर उद्योग पर जोर देने'' और ''उद्योग को लाभ पहुंचाने के लिए कृषि को निचोड़ने'' की जिस संशोधनवादी लाइन की वकालत ल्यू शाओ-ची गुट कर रहा था, वह शहर और गांव का अंतर तथा उद्योग और कृषि के बीच का अन्तर बढ़ाते जाने की, और अंततोगत्वा, पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने की लाइन भी थी।

कृषि को आधार मानने और सभी व्यवसायों व उद्योगों द्वारा कृषि को सहयोग देने की नीति पर दृढ़तापूर्वक अमल करने के विचार से जनता को अनुप्राणित कर देना कोई आसान काम नहीं है। संशोधनवादी लाइन के प्रभाव में, लोगों में अक्सर उद्योग को ऊंचा और कृषि को नीचा मानने का विचार विकसित हो जाता है। कुछ वर्षों से लगातार जबर्दस्त रूप से अच्छी फसल होने के बाद, कृषि को आधार मानने का विचार लोगों के दिमागों में कमजोर पड़ा है। वे बातें तो करते हैं ''कृषि, हल्का उद्योग, भारी उद्योग'' की, पर अमल करते हैं ''भारी उद्योग, हल्का उद्योग, कृषि'' के अनुसार। धन के आवण्टन और वस्तुओं की आपूर्ति में कृषि की उपेक्षा करने की रुझान साफ तौर पर दिखती है। ये स्थितियां बताती हैं कि कृषि को आधार बनाने के सिद्धान्त को प्रोत्साहित करने के लिए, कृषि और उद्योग के बीच के अन्तर्सम्बन्धों पर माओ के सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन आवश्यक है, ''कृषि को आधार और उद्योग को नेतृत्वकारी उपादान'' बनाकर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने की आम नीति का गम्भीर अध्ययन आवश्यक है तथा आधुनिक संशोधनवाद की उन विभिन्न भ्रामक धारणाओं की आलोचना और खण्डन आवश्यक है जो कृषि का तिरस्कार करने की शिक्षा देती हैं।

माओ की क्रान्तिकारी लाइन के मार्गदर्शन में, चीन के करोड़ों युवकों ने उनके इन महान आह्वान का अनुसरण किया है कि, ''शिक्षित युवकों को गांवों में जाना चाहिए तथा गरीब और निम्न-मध्यम किसानों से फिर से शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।'' वे कृषि-उत्पादन के अग्रिम मोर्चे पर संघर्ष करने के लिए ग्रामीण इलाकों और पहाड़ी इलाकों में चले गये हैं। यह एक सामाजिक क्रान्ति है जो समाज के स्थापित रीति-रिवाजों को बदल रही है। साथ ही, यह भारी तादाद में सर्वहारा क्रान्तिकारी लक्ष्य के उत्तराधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए उठाया गया एक रणनीतिक कदम है। पतनशील दास-स्वामी वर्ग का प्रवक्ता कन्फ्यूशियस कृषि-श्रम को अत्यधिक तुच्छ समझता था। उसके शिष्य फान चिह ने उससे पूछा कि फसलें और सब्जियां कैसे उगाई जायें। कन्फ्यूशियस ने उसे ''एक तुच्छ आदमी'' बताते हुए फटकार लगाई। कन्फ्यूशियस के वफादार चेले लिन प्याओ ने विरासत में इस प्रतिक्रियावादी विचार को पूरी तरह हासिल किया है। उसने ग्रामीण और पहाड़ी इलाकों में शिक्षित युवाओं को भेजने की नीति पर दुर्भावनापूर्ण आक्रमण किया और इसपर ''प्रच्छन्न श्रम सुधार के समतुल्य'' होने का ठप्पा लगा दिया। सभी शोषक वर्ग कृषि और किसानों को अत्यधिक तुच्छ समझते हैं। इन वर्गों की निराशाभरी आकांक्षा यह होती है कि वे, जबतक संभव हो तबतक मेहनतकश जनता पर सवारी गांठें और उसका शोषण करें।

माओ ने कन्फ्यूशियस जैसे लोगों के प्रतिक्रियावादी विचारों की विस्तारपूर्वक आलोचना की और उनका खण्डन किया। उन्होंने बताया कि ''(क्रान्तिकारी युवाओं की) राजनीतिक दिशा और कार्य पद्धतियां सही हैं'' यानी क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के अध्ययन, उत्पादन में भागीदारी, और मजदूर-किसान जनसमुदाय के साथ शामिल हो जाने की दिशा और कार्य पद्धतियां सही हैं। ग्रामीण इलाके बहुत फैले हुए हैं। शिक्षित युवाओं के खुद के परिपक्व होने के लिए, एक नये समाजवादी देहात के निर्माण के लिए, लिन प्याओ और कन्फ्यूशियस की आलोचना के लिए, तथा मजदूर और किसान के बीच, और मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच के बुनियादी अंतरों को कम करने के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि शिक्षित युवा गरीब और निम्न-मध्यम किसानों से फिर से शिक्षित होने के लिए देहात में जायें, वहां वर्ग-संघर्ष, उत्पादन के लिए संघर्ष और वैज्ञानिक प्रयोग में भागीदारी करें तथा विभिन्न अनुभवों और परीक्षणों से गुजरें।

उद्योग समाजवादी अर्थव्यवस्था में नेतृत्वकारी उपादान है

नेतृत्वकारी उपादान के रूप में उद्योग की भूमिका को पूरी तरह प्रभावी बनाओ

कृषि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का आधार है। उद्योग राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का नेतृत्वकारी उपादान है। उद्योग सिर्फ उपभोग के साधनों का ही नहीं, बल्कि उत्पादन के साधनों का भी उत्पादन करता है। उत्पादन के साधनों का क्रान्तिकारीकरण सामाजिक उत्पादन के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ऐतिहासिक तौर पर देखें तो हड्डी के उपकरणों से धातु के औजारों तक और फिर धातु के औजारों से विभिन्न किस्म की मशीनों तक का क्रम-विकास सिर्फ मानव-विकास के बहुतेरे मील के पत्थरों के रूप में ही नहीं देखा जा सकता, बल्कि इन्हें मानव समाज के विभिन्न आर्थिक युगों के सन्दर्भ-बिन्दुओं के रूप में भी देखा जा सकता है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उद्योग की नेतृत्वकारी भूमिका का अर्थ यह है कि उद्योग का विकास निश्चित तौर पर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अन्य सेक्टरों को उन्नत औजार मुहैया करेगा, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में तकनीकी परिवर्तनों को प्रोत्साहित करेगा, और परिणामत: श्रम-उत्पादकता और सामाजिक उत्पादन को बढ़ाने का काम करेगा।

उद्योग हल्के और भारी उद्योगों में बंटा होता है। हल्के उद्योग का काम मुख्यत: उपभोग के साधनों का उत्पादन करना होता है। भारी उद्योग का काम मुख्यत: पूंजीगत मालों का उत्पादन करना और उत्पादन के साधनों का विनिर्माण करना होता है। यदि उद्योग को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में नेतृत्वकारी उपादान की भूमिका निभानी है तो यह जरूरी है कि भारी उद्योग का पूरा विकास किया जाये, खास तौर पर इसलिए कि यह उत्पादन के साधनों का उत्पादन करता है। समाजवादी समाज में, उद्योग को नेतृत्वकारी उपादान के रूप में देखने का मतलब मुख्यत: भारी उद्योग को नेतृत्वकारी उपादान के रूप में देखना होता है। भारी उद्योग की भूमिका इस रूप में बयान की जा सकती है : कृषि के लिए विभिन्न आधुनिक कृषि मशीनें, मोटर-पावर, रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक और उत्पादन के अन्य साधन उपलब्ध कराना, विभिन्न प्रकार की हल्की औद्योगिक मशीनों और हल्के औद्योगिक कच्चे मालों का उत्पादन करना तथा हल्के उद्योगों में नये तकनीकी परिवर्तनों और श्रम-उत्पादकता को बढ़ाना ताकि हल्के उद्योग लगातार अधिक से अधिक उन्नत तथा ज्यादा से ज्यादा प्रकार के औद्योगिक उत्पाद दैनन्दिन इस्तेमाल के लिए उपलब्ध करा सकें; तथा परिवहन, निर्माण और रक्षा उद्योगों के लिए आधुनिक उपकरण मुहैया कराना, ताकि इन क्षेत्रों में नये तकनीकी

परिवर्तन और विकास को प्रोत्साहित किया जा सके। इन सबसे, हम देख सकते हैं कि नेतृत्वकारी उपादान के रूप में कृषि की भूमिका सिर्फ कृषि के मशीनीकरण के लिए आवश्यक शर्त के रूप में ही नहीं व्यक्त होती है बल्कि यह सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए और राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के सुदृढ़ीकरण के लिए नये तकनीकी परिवर्तनों को प्रोत्साहित करने के लिए, राष्ट्रीय सुरक्षा को सुनिश्चित बनाने के लिए, सर्वहारा अधिनायकत्व को मजबूत बनाने के लिए तथा विश्व क्रान्ति को समर्थन देने के लिए भी अनिवार्य है। जैसा कि माओ ने बताया है, ''उद्योग के बिना ठोस राष्ट्रीय प्रतिरक्षा नहीं हो सकती, जनता का जीवन बेहतर नहीं हो सकता और राष्ट्र की समृद्धि एवं शक्तिमत्ता सम्भव नहीं हो सकती''[9] उद्योग राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का नेतृत्वकारी उपादान है, ऊपर वर्णित इसकी महत्वपूर्ण भूमिका से यह तय हो जाता है।

नेतृत्वकारी उपादान के रूप में उद्योग की भूमिका यदि मुख्यत: भारी उद्योग के द्वारा पूरी हो जाती है, तो इसका मतलब यह नहीं कि हल्के उद्योग महत्वपूर्ण नहीं होते। हालांकि आमतौर पर हल्का उद्योग उत्पादन के औजारों का उत्पादन नहीं करता, लेकिन फिर भी यह समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण सेक्टर है। बुनियादी तौर पर यह उपभोग के साधनों के उत्पादन से जुड़ा हुआ सेक्टर है। कृषि की ही भांति, श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन के लिए यह एक अपरिहार्य सेक्टर है। यह कृषि-उत्पादों व अन्य सह-उत्पादों की प्रोसेसिंग करता है, शहरी और ग्रामीण इलाकों की मेहनतकश जनता के लिए विभिन्न प्रकार की आवश्यक उपभोक्ता सामग्रियों का उत्पादन करता है तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आधार के रूप में अपनी भूमिका बेहतर ढंग से निभाने में कृषि की मदद करता है। भारी उद्योग की तुलना में, अल्प निवेश और त्वरित प्रतिलाभ हल्के उद्योग की अभिलाक्षणिकता होती है। हल्का उद्योग राज्य के संचय कोष में योगदान करता है और यह भारी उद्योग के विस्तार के लिए आवश्यक धन का एक महत्वपूर्ण स्रोत होता है। माओ ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में हल्के उद्योग की भूमिका और स्थिति पर विशेष ध्यान दिया है : ''कृषि और हल्के उद्योग जैसे-जैसे विकसित होते हैं, भारी उद्योग अपने बाजार और आर्थिक संसाधन के लिए निश्चिंत होता जाता है और तीव्रतर गति से विकसित होता है।''[10] माओ ने स्पष्टत: बताया कि भारी उद्योग का विकास सिर्फ कृषि पर ही नहीं बल्कि हल्के उद्योग पर भी निर्भर करता है। उन्होंने हल्के उद्योग की उस महत्वपूर्ण भूमिका पर बल दिया जिसे लोग आसानी से भूल जाया करते हैं।

समाजवादी औद्योगीकरण को कदम-ब-कदम आगे बढ़ने के रास्ते से अंजाम दो

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उद्योग की महत्वपूर्ण भूमिका वस्तुगत तौर पर यह मांग करती है कि समाजवादी देश समाजवादी उद्योग के विकास पर ध्यान दे। जिन देशों में औद्योगिक विकास अपेक्षाकृत पिछड़ी अवस्था में होता है, वहां राजनीतिक सत्ता हासिल करने के बाद सर्वहारा वर्ग के सामने एक महत्वपूर्ण कार्यभार यह होता है कि वह तेजी से आधुनिक उद्योग का विकास करे, समाजवादी औद्योगीकरण के काम को अंजाम दे और मूल रूप में आर्थिक तौर पर पिछड़े देश को आधुनिक कृषि, आधुनिक उद्योग, आधुनिक राष्ट्रीय प्रतिरक्षा, और आधुनिक विज्ञान एवं तकनोलाजी वाले एक मजबूत समाजवादी देश में बदल डाले।

नेतृत्वकारी उपादान के रूप में उद्योग की भूमिका को और अधिक पूर्णता के साथ प्रभावी बनाने के लिए, और इसतरह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आजादी की गारण्टी करने के लिए तथा राष्ट्रीय प्रतिरक्षा को मजबूत बनाने के लिए, समाजवादी औद्योगीकरण के काम को पूरा करने का महत्व और अधिक दूरगामी है। कदम-ब-कदम समाजवादी औद्योगीकरण के काम के अंजाम देने से, निश्चित तौर पर, राजकीय स्वामित्व के अंतर्गत आने वाली अर्थव्यवस्था का हिस्सा बढ़ेगा और समूची राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में राजकीय अर्थव्यवस्था की नेतृत्वकारी भूमिका मजबूत होगी। समाजवादी औद्योगीकरण का विकास उन इलाकों में उद्योग के विकास को गति प्रदान करेगा जहां पहले उद्योग पिछड़ा हुआ था। साथ ही, यह उद्योगों के अतर्कपरक वितरण को भी बदल डालेगा। इसी के साथ, मजदूर वर्ग की कतारों का विस्तार भी होगा, जो पूरे देश पर सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व को मजबूत बनाने के लिए अनुकूल होगा। समाजवादी औद्योगीकरण निश्चित तौर पर कृषि के मशीनीकरण की रफ्तार भी तेज कर देगा और कृषि को सहयोग देने की उद्योगों की क्षमता को बढ़ा देगा। इसतरह यह शहर और गांव के बीच तथा मजदूर और किसान के बीच के अंतर को धीरे-धीरे कम करते जाने के लिए अनुकूल परिस्थितियां तैयार करेगा। समाजवादी औद्योगीकरण को पूरा करने के काम के ठीक इसी महत्व के कारण, माओ ने, 1953 में संक्रमण काल के लिए पार्टी की आम लाइन के सूत्रीकरण का व्यक्तिगत तौर पर निर्देशन करते हुए, यह बताया कि कदम-ब-कदम समाजवादी औद्योगीकरण को पूरा करना एक महत्वपूर्ण कार्यभार है जिसे पूरा करने के लिए पूरी पार्टी और पूरी जनता को कोशिश करनी चाहिए।

पुराना चीन एक अर्द्धऔपनिवेशिक और अर्द्धसामन्ती देश था। साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और नौकरशाह पूंजीवाद के उत्पीड़न के अन्तर्गत, उत्पादन अत्यधिक पिछड़ा हुआ था। बहुत थोड़े से ही आधुनिक उद्योग थे। और जो आधुनिक उद्योग मौजूद थे, वे भी प्रधानतया हल्के उद्योग, खास तौर पर कपड़ा उद्योग थे। 1949 में जब देश मुक्त हुआ, तो इस्पात का वार्षिक उत्पादन मात्र 158,000 टन था। भारी औद्योगिक उत्पादन काफी कम था।

पुराने चीन से विरासत के तौर पर मिली इस ''अकिंचन और शून्य'' की स्थिति के सामने खड़े चीनी सर्वहारा वर्ग के लिए, जिसने अब राजनीतिक सत्ता हासिल कर ली थी, औद्योगीकरण को तेजी से अंजाम देने का काम एक अत्यन्त कठिन समस्या था। पिछले बीस वर्षों से भी कुछ अधिक समय के दौरान, माओ के प्रतिभाशाली नेतृत्व में समाजवादी औद्योगीकरण की प्रक्रिया की गति तेज करने के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं।

चीन में समाजवादी औद्योगीकरण के क्रियान्वयन के लिए एक सम्पूर्ण समाजवादी औद्योगिक तंत्र का निर्माण जरूरी है जिसमें बड़े, मंझोले और छोटे उपक्रम शामिल हों, जो भौगोलिक तौर पर अपेक्षाकृत अधिक तर्कपरक ढंग से वितरित हों, और जिनमें लोहा एवं इस्पात तथा मशीन-निर्माण उद्योगों का केन्द्रीय स्थान हो। यह राष्ट्रीय औद्योगिक तंत्र विभिन्न प्रांतों और समन्वयक क्षेत्रों* के औद्योगिक तंत्रों के आधार पर निर्मित है। एक बार जब प्रत्येक समन्वयक क्षेत्र में और बहुतेरे प्रान्तों के फ्रेमवर्क के अंतर्गत योजनाबद्ध ढंग से और कदम-ब-कदम आगे बढ़ने के तरीके से ऐसे आधुनिक औद्योगिक तंत्र स्थापित हो जायेंगे जो अपने-आप में सम्पूर्ण होंगे और सापेक्षत: स्वतंत्र होंगे पर स्थानीय परिस्थितियों के हिसाब से भिन्नता लिये हुए होंगे, तो राष्ट्रीय औद्योगिक तंत्र के गठन को और अधिक मजबूत आधार मिल जायेगा।

समाजवादी औद्योगीकरण को कैसे अंजाम दिया जायेगा? माओ ने हमें बताया है : ''औद्योगीकरण के हमारे रास्ते पर बातचीत करते हुए, मेरा सरोकार यहां मुख्यत: भारी उद्योग, हल्के उद्योग और कृषि के विकास के बीच के सम्बन्ध से है।''[11] समाजवादी औद्योगीकरण के लिए, निश्चित तौर पर भारी उद्योग के विकास को प्राथमिकता देना आवश्यक है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि कृषि और हल्के उद्योग की उपेक्षा की जाये। माओ ने निर्दिष्ट किया है : ''यह स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया जाना चाहिए कि

* 1950 के दशक से लेकर शंघाई टेक्स्टबुक के प्रकाशन के बीच की अधिकांश कालावधि में चीन 29 प्रांतीय स्तर के प्रशासकीय डिवीजनों (21 प्रांत, 3 म्युनिसिपैलिटियां और 5 स्वायत्त क्षेत्र) में बंटा हुआ था। इन इकाइयों को 1957-58 में 7 वृहत्तर इकाइयों के अंतर्गत समूहबद्ध कर दिया गया जिन्हें समन्वयक क्षेत्र या आर्थिक सहकार क्षेत्र कहा जाता था।

भारी उद्योग चीन के आर्थिक निर्माण का केन्द्रक है। साथ ही, कृषि और हल्के उद्योग के विकास पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए।''[12] कृषि, हल्के उद्योग और भारी उद्योग के अन्तर्सम्बन्धों के आधार पर माओ ने महत्तर, तीव्रतर, श्रेष्ठतर और अपेक्षाकृत अधिक मितव्ययितापूर्ण परिणामों के साथ समाजवादी औद्योगीकरण को अंजाम देने की क्रान्तिकारी लाइन को सूत्रबद्ध किया और यह क्रान्तिकारी लाइन है—भारी उद्योग को विकसित करने के लिए हल्के उद्योग और कृषि का और अधिक विकास करना। मूल पद्धति से कृषि और हल्के उद्योग का विकास हुआ है। ये न केवल ज्यादा से ज्यादा तादाद में आजीविका के साधन मुहैया कर रहे हैं और लोगों के जीवन-स्तर को उन्नत कर रहे हैं, बल्कि कृषि और हल्के उद्योग भारी उद्योग के लिए पूंजी संचय और बाजार उपलब्ध कराने की समस्या को भी हल कर सकते हैं और इसतरह, भारी उद्योग के अधिक स्थायित्वपूर्ण और भरोसेमन्द विकास को सुनिश्चित बना सकते हैं। लम्बे दौर में, यह पहुंच वास्तव में भारी उद्योग के और ज्यादा, और बेहतर विकास को बल प्रदान करेगी।

माओ की क्रान्तिकारी लाइन के विरोध में ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ गुटों की संशोधनवादी लाइन खड़ी थी। वे कृषि और हल्के उद्योग की कीमत पर भारी उद्योग को विकसित करने की वकालत कर रहे थे, जिसका मतलब था, अधिक मंहगी कीमतों पर और कम, और मद्धिम, और खराब नतीजे। कृषि और हल्के उद्योग के विकास की अनदेखी करने के नाते, भारी उद्योग का एकतरफा ढंग से विकास करने की यह लाइन व्यापक जन समुदाय के जीवन-स्तर को सुनिश्चित नहीं करेगी और इसका नतीजा निश्चित तौर पर जनता के बीच असंतोष और भारी उद्योग के असंगत विकास के रूप में सामने आयेगा।

माओ की क्रान्तिकारी लाइन के मार्गदर्शन में, ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ की संशोधनवादी लाइन की आलोचना की गई है और उसका खण्डन किया गया है, स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता दृढ़तापूर्वक कायम रही है, कृषि, हल्के उद्योग और भारी उद्योग के बीच के अन्तरसम्बन्धों को सही ढंग से संचालित किया गया है, चीन के समाजवादी औद्योगीकरण में देदीप्यमान उपलब्धियां अर्जित की गई हैं, और एक स्वतंत्र एवं आधुनिक औद्योगिक तंत्र के बुनियादी तत्वों का विकास हुआ है।

माओ के निर्देश पर, प्रधानमंत्री चाऊ एन-लाई ने चौथी राष्ट्रीय जन कांग्रेस में सरकार के काम पर प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में यह प्रस्ताव रखा है कि ''हमें अपनी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के काम को तीसरी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ के समय से दो मंजिलों में बांटकर हाथ में लेना होगा : पहली मंजिल है पन्द्रह वर्षों के भीतर, यानी 1980 के पहले तक एक स्वतंत्र और अपेक्षाकृत अधिक व्यापक औद्योगिक और आर्थिक तंत्र का निर्माण करना; दूसरी मंजिल है इस सदी के अंत के पहले कृषि, उद्योग, राष्ट्रीय प्रतिरक्षा और विज्ञान एवं तकनोलाजी के व्यापक आधुनिकीकरण के काम को पूरा करना, ताकि हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था विकसित होकर दुनिया की अगली पांतों में शामिल हो जाये।''[13] हमारे समाजवादी औद्योगीकरण ने महान सफलताएं अर्जित की हैं। लेकिन समाजवादी क्रान्ति और निर्माण के दीर्घकालिक और महान लक्ष्य की तुलना में देखें, तो हमें अभी काफी लम्बा रास्ता तय करना है। हमें समाजवादी औद्योगीकरण के उस मार्ग पर आगे बढ़ना जारी रखना होगा, जिसकी रूपरेखा माओ ने तैयार की है, हमें संघर्ष जारी रखना होगा और इस शताब्दी के अन्त से पहले बीस-एक वर्षों के भीतर एक शक्तिशाली समाजवादी देश का निर्माण करना होगा।

उद्योग में ताचिङ से सीखो

समाजवादी औद्योगीकरण की प्रक्रिया दो वर्गों, दो रास्तों और दो लाइनों के बीच प्रचण्ड संघर्ष की प्रक्रिया है। समाजवादी औद्योगीकरण के काम में चीन का नेतृत्व करते हुए, माओ ने कृषि, हल्के उद्योग और भारी उद्योग के बीच के अन्तरसम्बन्धों के आधार पर, वैज्ञानिक ढंग से समाजवादी औद्योगीकरण के मार्ग की रूपरेखा तैयार की। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता, दुष्कर संघर्ष, और ''विदेशी परिपाटियों को नष्ट कर डालने और उद्योग को विकसित करने के अपने खुद के रास्ते पर चलने'' जैसी नीतियों को भी आगे बढ़ाया। यह ''विदेशी चीजों की ताबेदारी'' और ''कछुए की रफ्तार से पीछे-पीछे घिसटने'' की लाइन की, जिसकी वकालत ल्यू शाओ ची और लिन प्याओ गुट करते थे, तीखी आलोचना और खण्डन है। माओ की शिक्षाओं का अनुसरण करते हुए, चीन के मजदूर वर्ग ने सोचने का साहस करने, खरी-खरी बोलने का साहस करने और अंजाम देने का साहस करने की क्रान्तिकारी स्पिरिट का प्रदर्शन किया है और चीन के औद्योगिक निर्माण के तीव्र विकास को संवेग प्रदान किया है। ताचिङ तेल क्षेत्र महत्तर, तीव्रतर, श्रेष्ठतर और अधिक मितव्ययितापूर्ण परिणामों के साथ, समाजवाद के निर्माण का एक औद्योगिक मॉडल है। दो लाइनों के बीच के संघर्ष में, यह माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन पर दृढ़तापूर्वक डटा रहा है।

नया ताचिङ तेल क्षेत्र पहले एक ऊसर मैदान था। 1960 में जब सैकड़ों-हजारों की संख्या में स्टाफ के लोग और मजदूर वहां तेल-क्षेत्र का निर्माण करने के लिए पहुंचे तो ''ऊपर नीला आकाश था और नीचे घास का मैदान।'' मौसम सर्द था और धरती जमी हुई थी। न घर थे, न बिस्तर, न ही खाना बनाने के सामान। उत्पादन की परिस्थितियां भी अत्यन्त कठिन थीं। घास के मैदान में कुछ दर्जन दैत्याकार ड्रिलिंग मशीनें लगा दी गईं। लेकिन साजो-सामान पूरा नहीं था। न पर्याप्त ट्रकें थीं, न ही क्रेन थे और न ही राजमार्ग थे। सड़कें कीचड़ भरी थीं। पानी और बिजली की आपूर्ति नितान्त अपर्याप्त थी। इन कठिन स्थितियों में ताचिङ के वीर मजदूरों ने यह रणघोष किया, ''विशाल तेल क्षेत्र पर विजय प्राप्त करो, और साम्राज्यवादियों, संशोधनवादियों और प्रतिक्रियावादियों की बाधाओं को पीछे धकेल दो।'' वे सर्वहारा राजनीति को कमान में रखने पर डटे रहे और माओ की रचनाओं का विशेष तौर पर ''व्यवहार के बारे में'' और ''अन्तरविरोध के बारे में'' का, उन्होंने अध्यवसाय के साथ अध्ययन किया। उन्होंने स्वयं को मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा से लैस किया, ''आनशान लोहा और इस्पात कम्पनी के घोषणापत्र'' के झण्डे को ऊंचा उठाया, वर्ग-शत्रुओं से संघर्ष किया तथा आत्मनिर्भरता और उत्कट संघर्ष की क्रान्तिकारी स्पिरिट का प्रदर्शन किया। महज तीन वर्षों की छोटी अवधि में चीन में एक विशाल, अव्वल दर्जे का तेल क्षेत्र स्थापित हो गया। चीन तेल-उत्पादों के मामले में, बुनियादी तौर पर 1963 से ही आत्मनिर्भर है। ताचिङ के मजदूरों ने बड़े पैमाने पर वैज्ञानिक शोध भी किये और तेल की सम्भावनाओं का पता लगाने और तेल-शोधन से जुड़ी कई ऐसी महत्वपूर्ण तकनीकी समस्याओं का हल ढूंढ़ निकाला जिनका विश्वव्यापी महत्व है। किसी भी उद्यम को अध्यवसाय और मितव्ययिता के साथ चलाने के बारे में माओ की शिक्षाओं का अनुपालन करते हुए, 1963 में सम्पूर्ण राजकीय निवेश वापस वसूल कर लिया गया था। मई दिवस, 1974 की पूर्व संध्या तक, ताचिङ द्वारा राज्य के लिए संचित कोष राज्य द्वारा किये गये निवेश से ग्यारह गुना अधिक हो चुका था जो महत्तर, तीव्रतर, श्रेष्ठतर और अधिक मितव्ययितापूर्ण परिणाम प्राप्त करने का एक उदाहरण था। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि ताचिङ तेल-क्षेत्र ने एक ऐसी मजदूर बटालियन को प्रशिक्षित किया है जिसके पास वर्ग-चेतना है, ऊर्जस्विता है, श्रेष्ठ कार्यशैली है, संगठन और अनुशासन है और जो कठिनाइयां झेल सकती है तथा कठिन संघर्षों में जूझ सकती है। क्रान्तिकारी तौर से रूपान्तरित मजदूरों के इस दस्ते के चलते ही ताचिङ तेल क्षेत्र का निरन्तर और तेज गति से विकास सम्भव हो सका। ताचिङ माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन की एक महान विजय का प्रतिनिधित्व करता है।

ताचिङ तेल क्षेत्र चीन के समाजवादी औद्योगिक मोर्चे पर लहराता हुआ लाल परचम है। ''उद्योग में, ताचिङ से सीखो'' माओ का महान

आह्वान है। ताचिङ तेलक्षेत्र और ताचाई ब्रिगेड में एक बुनियादी समानता है। दसवीं पार्टी कांग्रेस में प्रस्तुत अपनी राजनीतिक रिपोर्ट में कामरेड चाऊ एन लाई ने कहा है : ''दो दशकों से भी अधिक समय तक हमारे समाजवादी निर्माण का एक बुनियादी अनुभव यह है कि जनता पर भरोसा रखो। उद्योग में ताचिङ से और कृषि में ताचाई से सीखने के लिए हमें सर्वहारा राजनीति को कमान में रखने पर दृढ़ रहना चाहिए, ओजस्वी ढंग से जनान्दोलन खड़े करने चाहिए तथा जनसमुदाय के उत्साह, समझदारी और सर्जनात्मकता को पूरा अवसर प्रदान करना चाहिए।'' ताचिङ से सीखने में, ठीक उसी तरह जैसे कि ताचाई से सीखने में, बुनियादी महत्व की बात यह है कि सर्वहारा राजनीति को कमान में रखा जाये, पार्टी की बुनियादी लाइन को पूरी तरह लागू किया जाये, समाजवादी दिशा पर दृढ़तापूर्वक कायम रहा जाये। ताचिङ का अनुभव दिखाता है कि समाजवादी उद्यम के निर्माण में सर्वाधिक बुनियादी तत्व यह है कि जनता को मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा से शिक्षित किया जाये और मजदूरों का दस्ता तैयार किया जाये। यदि माओ त्से-तुङ विचारधारा से लैस लोहे और इस्पात की एक ऐसी बटालियन मौजूद हो तो कठिनाइयों-बाधाओं का कोई डर नहीं। कठिनाइयां जितनी ही अधिक होंगी, दस्ता सभी बाधाओं को पार करता हुआ महत्तर, तीव्रतर, श्रेष्ठतर और अधिक मितव्ययितापूर्ण परिणामों के साथ समाजवादी उद्योगों का निर्माण करने के लिए आगे बढ़ता जायेगा। लिन प्याओ जैसे लोगों ने मजदूर वर्ग के बारे में यह कुत्सा-प्रचार किया कि वह सिर्फ ''जीविका के मामले में ही'' दिलचस्पी रखता है। ताचिङ का अनुभव उनके मुंह पर एक तमाचा है। क्या समाजवादी उद्योग के निर्माण में, स्टाफ और मजदूरों की राजनीतिक और विचारधारात्मक शिक्षा को प्राथमिकता दी जाती है, क्या हम जनता पर भरोसा करते हैं, क्या हम जनता को गोलबन्द करने का साहस करते हैं, क्या हम जन दिशा को लागू करने पर जोर देते हैं, तथा, क्या आत्मनिर्भरता और कठिन संघर्ष के रास्ते को अपनाया जा रहा है ये इस बात के महत्वपूर्ण संकेतक हैं कि क्या ''उद्योग में, ताचिङ से सीखो'' का झण्डा सच्चे अर्थों में ऊपर उठाया गया है और क्या माओ की क्रान्तिकारी लाइन के वास्तव में व्यवहार में लाई जा रही है।

माओ के आह्वान ''उद्योग में ताचिङ से सीखो'' ने चीन के औद्योगिक विकास की दिशा को निर्दिष्ट किया है। इसने बड़े पैमाने पर चीन के मजदूर वर्ग को आत्मनिर्भर होने, कड़ी मेहनत करने और चीन के उद्योग की शक्ल तेजी से बदल डालने के लिए जागृत कर दिया है। ''उद्योग में ताचिङ से सीखने'' के जन-आन्दोलन का सशक्त उभार निश्चित तौर पर चीन के समाजवादी औद्योगीकरण की गति को तेज करेगा और चीन को आधुनिक कृषि, आधुनिक उद्योग, आधुनिक राष्ट्रीय प्रतिरक्षा और आधुनिक विज्ञान एवं तकनोलाजी से सम्पन्न एक महान समाजवादी देश बना देगा।

मजदूर-किसान संश्रय का सुदृढ़ीकरण करके, उद्योग और कृषि के बीच के सम्बन्ध को सही ढंग से संचालित करो

समाजवादी समाज में उद्योग-कृषि संयोजन का दुहरा चरित्र होता है

मार्क्स और एंगेल्स ने बताया है कि सत्ता पर कब्जा करने के बाद एक प्रमुख कार्यभार, जिसे सर्वहारा वर्ग द्वारा अपने अधिनायकत्व के अंतर्गत पूरा किया जाना चाहिए, ''कृषि का विनिर्माण उद्योगों के साथ संयोजन करना तथा शहर और गांव के बीच के अन्तर को क्रमिक प्रक्रिया में समाप्त करना''[14] है। समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व की स्थापना के बाद, समाजवादी समाज उस शत्रुवत अन्तरविरोध को समाप्त कर देता है जो पूंजीवादी समाज की अभिलाक्षणिकता होती है जिसके चलते उद्योग कृषि का शोषण करता है और शहर गांव को लूटता है। लेकिन उद्योग और कृषि के बीच, तथा गांव और शहर के बीच के अन्तर, तब भी मौजूद रहते हैं। इसतरह, समाजवादी समाज में उद्योग और कृषि के बीच के सम्बन्ध का दुहरा चरित्र होता है जो पूंजीवाद से कम्युनिज्म के बीच के संक्रमण काल की विशिष्टता होती है।

मानव समाज के इतिहास में, कृषि और उद्योग के बीच के सम्बन्धों ने अनेक रूप ग्रहण किये हैं। आदिम कम्यून अर्थव्यवस्था में कातने, बुनने तथा औजार एवं बरतन-भांड़े बनाने के जैसे दस्तकारी उत्पादन के काम कृषि की सहायक गौण गतिविधि के रूप में किये जाते थे। यह कृषि और उद्योग के बीच एक तरह का आदिम सम्बन्ध था। सामाजिक उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ अपेक्षाकृत अधिक जटिल सामाजिक श्रम-विभाजन पैदा हुआ; निजी स्वामित्व अस्तित्व में आया, और दस्तकारी और कृषि के बीच के सम्बन्ध टूट गये। यहां से, कृषि और उद्योग के बीच मुद्रा के जरिए विनिमय के एक वृत्ताकार ढांचे की शुरुआत हुई। उद्योग और कृषि के बीच के सम्बन्ध का यह रूप, जिसमें मुद्रा के जरिए विनिमय होता है, पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत अपने विकास की उच्चतम अवस्था तक जा पहुंचा। लेकिन, मुद्रा के जरिए विनिमय ने बुर्जुआ वर्ग को यह क्षमता दे दी कि वह औद्योगिक और कृषि उत्पादों के बीच ''दाम की कैंची'' चला सके,* तथा इसके द्वारा उद्योग और कृषि के बीच के और शहर और गांव के बीच के अंतरविरोधों को और उग्र बनाता चला जाये। परन्तु यह उस प्रक्रिया को तेज कर देता है जिसके द्वारा पूंजीवाद अपने विपरीत में बदल जाता है। मार्क्स के अनुसार, ''...साथ ही... पूंजीवादी उत्पादन भविष्य में एक उच्चतर संश्लेषण की, यानी कृषि और उद्योग द्वारा अर्जित अपेक्षतया अधिक शुद्ध रूपों के आधार पर उनके एकीकरण की, भौतिक स्थितियां पैदा कर देता है।''[15] मार्क्स कृषि और उद्योग के बीच जिस नये, ''उच्चतर संश्लेषण'' की बात करते हैं, और पूंजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के साथ जो अब सम्भव हो चुका है, वह कृषि और उद्योग के बीच उत्पादन में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, जो उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व की व्यवस्था के आधार पर तथा समाज के एकीकृत नियोजन के मार्गदर्शन के अन्तर्गत स्थापित हुआ है।

समाजवादी समाज में, उत्पादन के साधनों के स्वामित्व की व्यवस्था के समाजवादी रूपान्तरण के साथ ही, और राज्य द्वारा औद्योगिक और कृषि-उत्पादन के नियोजित विनियमन के क्रियान्वयन के साथ ही, उद्योग और कृषि के बीच के सम्बन्ध का वह नया रूप आकार लेना शुरू कर देता है, जिसे मार्क्स ने पहले ही देख लिया था। समाजवादी राज्य राष्ट्रीय आर्थिक नियोजन के जरिए कृषि और उद्योग को उत्पादन के दायरे में जोड़ता है। यह सुनिश्चित करता है कि समाजवादी कृषि नियोजित ढंग से खाद्यान्नों का उत्पादन करे और यह कि कृषि भोजन और उद्योग के विकास के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध करायें। समाजवादी राज्य यह सुनिश्चित करता है कि समाजवादी उद्योग नियोजत ढंग से, रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों और सभी प्रकार की कृषि मशीनरी तथा कृषि के विकास के लिए जरूरी औजारों के साथ ही, गांवों की जरूरत के सभी किस्म के दैनन्दिन औद्योगिक उत्पादों का उत्पादन करे। उत्पादन के क्षेत्र में उद्योग और कृषि के बीच के ऐसे नियोजित संयोजन, उद्योग और कृषि के बीच पारस्परिक सहयोग और पारस्परिक प्रोत्साहन का एक नया सम्बन्ध प्रस्तुत करते हैं। चीजों के इस पहलू की दृष्टि से, समाजवादी कृषि और उद्योग के बीच के सम्बन्ध में एक कम्युनिस्ट तत्व पहले से ही मौजूद है।

लेकिन दूसरी ओर, अभी भी उद्योग और कृषि के बीच तथा शहर और गांव के बीच अन्तर मौजूद हैं। साथ ही, समाजवादी उद्योग मुख्यत: समूची जनता के स्वामित्व की व्यवस्था के आधार पर खड़े किये गये हैं,

* यानी औद्योगिक सामग्रियों की कीमत को ऊपर चढ़ाना और कृषि उत्पादों की कीमत को नीचे रखना।

जबकि समाजवादी कृषि मुख्यत: सामूहिक स्वामित्व की व्यवस्था के आधार पर खड़ी की गई है, और इसलिए, उत्पादन के क्षेत्र में उद्योग और कृषि के बीच का नियोजित संयोजन सिर्फ मुद्रा के जरिये विनिमय के माध्यम से ही कायम किया जा सकता है। इन कारणों से, बुर्जुआ अधिकार उद्योग और कृषि के बीच के सम्बन्धों का एक अनिवार्य पहलू है। वस्तुस्थिति के इस पहलू से देखें तो, समाजवादी समाज में कृषि और उद्योग के बीच के सम्बन्धों में पुराने समाज के अवशेष अभी भी मौजूद हैं।

समाजवादी समाज में उद्योग और कृषि के बीच की सहलग्नता के दोहरे चरित्र का यह तकाजा है कि हम उद्योग और कृषि के बीच के सम्बन्धों को संचालित करते समय, काम के दोनों पहलुओं पर ध्यान दें। एक ओर, और यह प्रधान पहलू है, हमें औद्योगिक और कृषि उत्पादन के बीच के संयोजन का नियोजन अच्छी तरह से करना चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि औद्योगिक उत्पादन और कृषि-उत्पादन राजकीय नियोजन के दायरे में हों तथा उत्पादन के क्षेत्र में पूंजीवादी उदारीकरण की इजाजत कतई नहीं दी जानी चाहिए। दूसरी ओर, उद्योग और कृषि के बीच माल का विनिमय अच्छीतरह से संगठित किया जाना चाहिए। हालांकि यह गौण पहलू है, पर इसकी ओर कम ध्यान देना गलत होगा। चूंकि समाजवादी उद्योग और कृषि के बीच का सम्बन्ध माल-व्यवस्था के अन्तर्गत स्थापित सम्बन्ध होता है, अत: मूल्य का नियम लाजिमी तौर पर काम करता है। माल, मूल्य, मुद्रा, दाम आदि प्रवर्गों को सही ढंग से प्रयोग करना, समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार औद्योगिक और कृषि उत्पादों के विनिमय में आने वाली समस्याओं को सही ढंग से हल करना, औद्योगिक और कृषि उत्पादों के बीच की ''दाम की कैंची'' को धीरे-धीरे कम करना, राज्य द्वारा कृषि से अर्जित विभिन्न कृषि उत्पादों व अन्य सहायक उत्पादों के सापेक्षिक दाम समुचित ढंग से तय करना—ये सभी उपादान समाजवादी उद्योग और कृषि को एक दूसरे से जोड़ने में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। साथ ही, इस बात पर अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए कि समाजवादी कृषि और उद्योग को जोड़ने की प्रक्रिया में, सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच का संघर्ष अत्यन्त तीखा हो जाता है। उद्योग और कृषि के संयोजन लिए माल और मुद्रा सम्बन्धों के इस्तेमाल की आवश्यकता होती है, जबकि माल और मुद्रा-सम्बन्ध खासतौर पर नये बुर्जुआ-तत्वों को पैदा करने वाली जमीन का काम करते हैं। बुर्जुआ प्रभाव, बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी और छोटे उत्पादकों की आदत की शक्ति के चलते, नये बुर्जुआ तत्वों के जत्थे के जत्थे पैदा होते रहेंगे। नये और पुराने बुर्जुआ तत्व हमेशा ही, उद्योग और कृषि के बीच के माल और मुद्रा-सम्बन्धों का इस्तेमाल सट्टेबाजी करने और भारी मुनाफा बटोरने के लिए करना चाहते हैं। इसप्रकार की पूंजीवादी गतिविधियों पर प्रहार किया जाना चाहिए, उद्योग और कृषि के संयोजन की प्रक्रिया में बुर्जुआ अधिकार को नियंत्रित किया जाना चाहिए। छोटे उत्पादकों की स्वत:स्फूर्त रुझानों की आलोचना की जानी चाहिए। सिर्फ इसी ढंग से, उद्योग और कृषि का संयोजन क्रमिक प्रक्रिया में पुराने समाज की निशानियों से मुक्ति पा सकता है और कम्युनिज्म की दिशा में आगे बढ़ सकता है।

मजदूर और किसान संश्रय का प्रश्न उद्योग और कृषि के संयोजन का सार-तत्व है

समाजवादी कृषि और उद्योग के संयोजन का प्रश्न भौतिक उत्पादन के इन दो सेक्टरों के बीच के समानुपातिक सम्बन्धों का प्रश्न ही नहीं है, यह दो बड़े मेहनतकश वर्गों—मजदूरों और किसानों के बीच के अन्तर्सम्बन्धों का भी प्रश्न है, या यूं कहें कि, यह मजदूर-किसान संश्रय का प्रश्न है।

समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत, मजदूर और किसान के बुनियादी हित समान होते हैं। मजदूर वर्ग के नेतृत्व के अन्तर्गत, मजदूर-किसान संश्रय, जो पारस्परिक सहयोग और सहकार का संश्रय होता है, समाजवाद के निर्माण और कम्युनिज्म की प्राप्ति का साझा संघर्ष चलाने के उद्देश्य से स्थापित किया जाता है। लेकिन शहर और गांव के बीच, और मजदूर और किसान के बीच आर्थिक, सांस्कृतिक, तकनोलाजिकल और भौतिक आजीविका-सम्बन्धी कुछ अंतर फिर भी बने रहते हैं। ये अंतर पुराने समाज के अवशेष होते हैं। इन अंतरों का बढ़ना तो दूर, यदि इन्हें लम्बे समय तक बने भी रहने दिया जाये और इन अंतरों को कम करने और समाप्त करने की स्थितियां यदि पैदा न की जायें, तो इससे मजदूर-किसान संश्रय के सुदृढ़ीकरण में सिर्फ बाधा ही पैदा हो सकती है।

नेतृत्वकारी वर्ग और उस वर्ग के बीच, जिसे वह नेतृत्व देता है, सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए माओ ने बताया है :

''वर्गों, संस्तरों, राजनीतिक पार्टियों और जनता के संगठनों पर अपना नेतृत्व लागू करने के लिए नेतृत्वकारी वर्ग और नेतृत्वकारी पार्टी को दो शर्तें पूरी करनी होती हैं :

'' (अ) उनका नेतृत्व करो जो साझा दुश्मन के खिलाफ समझौताहीन संघर्ष चलाने और जीतें हासिल करने के लिए आगे बढ़ रहे (संश्रयकारी) हैं;

''(ब) जिन्हें नेतृत्व देना है, उन्हें भौतिक लाभ पहुंचाओ, या कम से कम उनके हितों को नुकसान न पहुंचाओ और साथ ही उन्हें राजनीतिक शिक्षा दो।''[16]

मजदूर वर्ग द्वारा राजनीतिक सत्ता पर कब्जा कर लेने, जमींदार वर्ग को उखाड़ फेंकने में किसानों को नेतृत्व देने, और भूमि सुधार तथा कृषि-सामूहिकीकरण को पूरा करने के बाद, अभी भी जरूरी है कि ग्रामीण इलाकों में वर्ग शत्रुओं के विरुद्ध दृढ़निश्चयी संघर्ष चलाने में मजदूर वर्ग किसानों को नेतृत्व दे, सामूहिकीकरण के आधार पर और अधिक उन्नत धरातल पर कृषि के मशीनीकरण में उनकी मदद करने के उद्देश्य से समाजवादी शिक्षा को संचालित करे, उत्पादन के विकास के आधार पर उनके भौतिक एवं सांस्कृतिक जीवन-स्तर को क्रमश: ऊपर उठाये, और समाजवादी मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ने में उनका नेतृत्व करे। इस ढंग से, शहर और गांव के बीच के अंतर को कम किया जा सकता है तथा मजदूर-किसान संश्रय को और अधिक मजबूत बनाया जा सकता है।

इसतरह, कृषि और उद्योग के संयोजन का प्रश्न बुनियादी तौर पर मजदूर और किसान के बीच के सम्बन्धों को सही ढंग से संचालित करने का प्रश्न है। मजदूर वर्ग के नेतृत्व का सुदृढ़ीकरण, मजदूर-किसान संश्रय का सुदृढ़ीकरण और यह देखना कि किसानों की हितपूर्ति के लिए मजदूर वर्ग बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध संघर्ष चलाये—इस समस्या का सारतत्व है। यह सब कुछ समाजवादी व्यवस्था के अंतर्गत वर्ग संघर्ष का नया मुद्दा है। कृषि, हल्के उद्योग और भारी उद्योग के बीच के अन्तर्सम्बन्धों का माओ के सिद्धान्त, ''कृषि को आधार और उद्योग को नेतृत्वकारी उपादान'' मानकर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने की आम नीति और कृषि, हल्के उद्योग और भारी उद्योग के क्रमानुसार राष्ट्रीय आर्थिक योजना के निर्धारण ने इन समस्याओं के समाधान के लिए रास्ता तैयार किया है।

अध्ययन के लिए प्रमुख सन्दर्भ

मार्क्स, 'पूंजी', खण्ड 3, अध्याय 37

माओ, 'जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में', भाग 3 और 12

समीक्षात्मक प्रश्न

1. हम यह क्यों कहते हैं कि कृषि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का आधार है? कृषि को सहायता देने के काम को अच्छे ढंग से कैसे अंजाम दिया जा सकता है?
2. हम यह क्यों कहते हैं कि उद्योग राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का नेतृत्वकारी उपादान है? भारी उद्योग का विकास करते हुए, कृषि और हल्के उद्योग के विकास पर भी ध्यान देना क्यों जरूरी है?
3. कृषि, हल्के उद्योग और भारी उद्योग के बीच के सम्बन्धों को सही ढंग

से संचालित करने का भारी महत्व क्या है?

टिप्पणियां

1. मार्क्स, ''मुद्रा'' : 1857–58 की आर्थिक पाण्डुलिपियों में से एक, 'कम्युनिस्ट समाज के बारे में मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और स्तालिन', से उद्धृत, पृ. 67, 1958, चीनी संस्करण।

2. मार्क्स, पूंजी, खण्ड–3, पृ. 632, अंग्रेजी संस्करण।

3. माओ, ''जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में'', सेलेक्टेड रीडिंग्स, पृ. 476

4. वही

5. माओ, ''मिली–जुली सरकार के बारे में'', सेलेक्टेड वर्क्स, भाग–3, पृ. 250

6. माओ, ''कृषि–सहकारिता के प्रश्न पर'', सेलेक्टेड रीडिंग्स, पृ. 413

7. माओ, ''सही विचार कहां से आते हैं?'', सेलेक्टेड रीडिंग्स, पृ. 502

8. माओ, ''नौजवान आन्दोलन की दिशा'', सेलेक्टेड वर्क्स, भाग–2, पृ. 248

9. माओ, ''मिली–जुली सरकार के बारे में, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड–3, पृ. 252

10. माओ, ''जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में'', सेलेक्टेड रीडिंग्स, पृ. 476

11. वही

12. वही

13. चाऊ एन–लाई, ''सरकार के कामों पर रिपोर्ट'', चीन लोक गणराज्य की चौथी राष्ट्रीय जन कांग्रेस के पहले सत्र के दस्तावेज (विदेशी भाषा प्रेस, पीकिङ; 1975), पृ. 55

14. मार्क्स–एंगेल्स, 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र', अंग्रेजी संस्करण, पृ. 60

15. मार्क्स, 'पूंजी', खण्ड–1, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 474

16. माओ, ''पार्टी की वर्तमान नीति की कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं के बारे में'', सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड–4 पृ. 187–188

(चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान तैयार की गयी पुस्तक **फण्डामेण्टल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी** (***दि शंघाई टेक्स्टबुक*** के नाम से प्रसिद्ध) के अंग्रेजी संस्करण से हिन्दी अनुवाद : **सत्यम वर्मा**)

'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त' पुस्तक का प्रथम खण्ड **राहुल फाउण्डेशन,** 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ–226010 से प्रकाशित। दूसरा खण्ड शीघ्र प्रकाश्य।

दायित्वबोध यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश • संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, **गोरखपुर** • जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर** • विजय इन्फार्मेशन सेंटर, कचहरी बस स्टैण्ड, **गोरखपुर** • राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, **लखनऊ** • जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, **लखनऊ** (शाम पांच से साढ़े सात) • ओ.पी. सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, **लखनऊ** • डी.सी. वर्मा, बी–118, आजादनगर, कैम्पबेल रोड, **लखनऊ** • इण्डियन बुक डिपो, अमीनाबाद, **लखनऊ** • विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, **बड़हलगंज, गोरखपुर** • शहीद पुस्तकालय, द्वारा, डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादपुर, मऊ** • **मौर्या बुक स्टाल, सआदतपुरा (निकट रोडवेज), मऊ** • प्रो. प्यारेलाल, 139, फूलबाग कालोनी, पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय, **पंतनगर** • डी.के. सचान, कृषि विज्ञान केन्द्र, विकास भवन, नई कलक्ट्रेट, गाजियाबाद • ललित सती, भारतीय जीवन बीमा निगम, आवास विकास, **रुद्रपुर** • श्री रामधीरज, स्वराज्य स्टेशनर्स, प्रयाग चुंगी, मोती लाल नेहरू मार्ग, **इलाहाबाद** • करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, (फूलबाग के सामने), **कानपुर** • प्रतिभा प्रकाशन, (पेप्सी होटल के नीचे), स्टेशन रोड, **बलिया** • राजेन्द्र प्रसाद, रेणु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, रेणुकूट, **सोनभद्र** • नेशनल न्यूज एजेन्सी, पल्टन बाजार, **देहरादून** • श्री मुचकुंद, प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, लंका, **वाराणसी** • डा. पी.एस. कुशवाहा, ओल्ड हास्टल, सेंट जॉन्स कालेज, आगरा–2

बिहार • एस.के. शर्मा, 282–बी, रेलवे कालोनी, **गढ़हरा, बेगूसराय** • समकालीन प्रकाशन, पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना** • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना** • जिज्ञासा प्रकाशन, झेलम अपार्टमेंट, राजेन्द्रनगर, **पटना** • मैग्जीन कार्नर, नाला रोड, दिनकर चौक, **पटना** • अविनाश कुमार सिन्हा/रणजीत कुमार श्रीवास्तव, द्वारा, शैलेन्द्र श्रीवास्तव, बरियारी चक, पो. **मेंहसी, पूर्वी चम्पारण** • विजय कुमार आर्य, सचिव –'मजदूर संगठन समिति', गुरारू चीनी मिल्स, गुरारू, पो. –**गुरारू**, जि.–**गया** • वी. प्रशान्त, कन्हौली (बी.एम.पी. –6 से पूरब), **मुजफ्फरपुर** • रामपुकार सिंह, ग्रा.–पो. –भदई, जि.–**मुजफ्फरपुर** • विद्यानन्द सिंह, वार्ड न. 4, **सुपौल** • श्री भुवन वेणु, 'प्रतीक्षा', मधुबनी, चूनापुर रोड, **पूर्णिया** • लक्ष्मीकांत मुकुल, द्वारा श्री सिंहासन मिश्र, टीचर्स कालोनी, चरित्रवन, **बक्सर** • कौशल कुमार सिंह, पूर्व सचिव, जिला विधिज्ञ संघ, **गोपालगंज** • गोवर्धन सिंह, ग्राम–चुटिया, पो. गोदरमाना, थाना–रंका **(गढ़वा)–822125**

दिल्ली • सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, 9, रफी मार्ग • बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, मण्डी हाउस • गीता बुक सेण्टर, शापिंग काम्प्लेक्स, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय • पत्रिका मण्डप, दिल्ली विश्वविद्यालय कोआपरेटिव्स स्टोर्स, लि., दिल्ली विश्वविद्यालय • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मरीना होटल बिल्डिंग, कनाट प्लेस • पीपुल ट्री, 8, रीगल बिल्डिंग, कनाट प्लेस • एतकाद अहमद, डिपार्टमेण्ट ऑफ फाउण्डेशन आफ एजुकेशन, जामिया मिल्लिया इस्लामिया • अखिल भारतीय नेपाली एकता समाज, आर.के. पुरम

महाराष्ट्र • परिदृश्य प्रकाशन, 6, दादी संतुक लेन, इंजीनियर हाउस, धोबी तालाब, **मुम्बई** • सतीश कालसेकर, पीपुल्स बुक हाउस, मेहर हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई** • शैलेश वाकड़े, विजयालक्ष्मी नगर, टीचर्स कालोनी, बल्लारपुर, **चन्द्रपुर** • सूर्यदेव उपाध्याय, लेनिन लाइब्रेरी, उल्हासनगर, जि.–**ठाणे** • शांतनु श्रीवास्तव, सी–43, सी. एम.पी.डी., जरीपटका, **नागपुर**

हिमाचल प्रदेश • एस.आर. हरनोट, हिमाचल पर्यटन विकास निगम, रिट्ज एनेक्सी, **शिमला**

हरियाणा • नरभिंदर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा.–पो.–संतनगर, जि.–**सिरसा** • राजीव रंजन, द्वारा पाश पुस्तकालय, पुलिस लाइन, **करनाल** • सुरेश जांगिड़, अक्षर धाम, सुकीर्ति प्रिंटर्स, डी.सी. निवास के सामने, करनाल रोड, **कैथल**

राजस्थान • सर्जना, सांखला प्रिंटर्स परिसर, चंदन सागर कुएं के पास, **बीकानेर** • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधों की गली, एम. डी. रोड, **जयपुर** • संजय श्रीवास्तव, 221, उत्तरी सुन्दरवास, गंगा फ्लोर मिल, **उदयपुर**

प. बंगाल • श्याम अविनाश, पी. एन. घोष स्ट्रीट, **पुरुलिया** • राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मन्दिर प्रधान नगर, सिलीगुड़ी, **दार्जीलिंग** • बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता** • न्यू होराइजन बुक ट्रस्ट, 57/1, पटुआटोला लेन, **कलकत्ता** • जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो.आ.–केरन, जि.–**जलपाईगुड़ी** • ओमप्रकाश पाण्डेय, प्राध्यापक, 35/डी, सेंट्रल कालोनी, पो. भक्तिनगर, **न्यू जलपाईगुड़ी**

आन्ध्र प्रदेश • गोविन्द अक्षय, 'सारस्वत सदन', 13/6/411/2, रामसिंहपुरा, कारवान, **हैदराबाद**

मध्यप्रदेश • जयप्रकाश जायसवाल, 'पितृछाया,' अमृत सागर कालोनी, एम.आई.जी. 96–97 **रतलाम** • चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, **जगदलपुर, बस्तर** • 'विकल्प' सांस्कृतिक मोर्चा, 1835, सिल्वर ओक कम्पाउंड, नेपियर टाउन, **जबलपुर**

नेपाल • पुस्तक पत्र–पत्रिका बिक्री वितरण केन्द्र, डिल्ली बाजार, चढ़ाव के पास, निकट पद्म कन्या स्कूल, **काठमाण्डू** • विशाल पुस्तक पसल, अस्पताल लाइन, **बुटवल, लुम्बिनी** • विशाल पुस्तक सदन, विजुवार बाजार, प्यूठान, **राप्ती अंचल** • गुनप्रसाद, विश्व नेपाली पुस्तक सदन, श्रवन पथ, बुटवल–8, **रूपनदेई** • संगम पुस्तक पसल, वीरेन्द्रनगर, भेरी अंचल, जिल्ला **सुर्खेत, मध्य पश्चिमांचल क्षेत्र** • प्रगति पुस्तक सदन, त्रिभुवन नगरपालिका, **दाङघोराही, राप्ती अंचल**

•

राजनीतिक टिप्पणियां

बीमा विधेयक : राजनीतिक उठापटक से पैदा अनिश्चितता के बावजूद साम्राज्यवादी डाकुओं के ध्वजपोत को हरी झंडी मिलना तय

बारहवीं लोकसभा भंग हो जाने के कारण बीमा नियामक प्राधिकरण विधेयक (आई.आर.ए. बिल) पर संसद की मुहर नहीं लग सकी। अब देशी-विदेशी पूंजी के मालिकों को नयी लोकसभा गठन तक इस औपचारिकता के पूरा होने का इन्तजार करना पड़ेगा। यह सिर्फ औपचारिकता ही है, क्योंकि इस मसले पर गठित संयुक्त संसदीय प्रवर समिति की सिफारिशों को वाजपेयी सरकार की कैबिनेट ने इस्तीफा देने के पूर्व पारित कर दिया था और इस बात की सम्भावना न्यनातिन्यून है कि नयी सरकार (चाहे जिस भी पार्टी या गठबन्धन की सरकार बने) इसके उलट कोई फैसला करेगी।

संसदीय प्रवर समिति की सिफारिशों को हूबहू पारित हो जाने के प्रति देश के बड़े पूंजीपति एकदम आश्वस्त हैं। उनकी चिन्ता की बात सिर्फ यह है कि राजनीतिक अस्थिरता से वह शुभ दिन टलता जा रहा है, जब वे अपने बड़े बिरादरों के साथ मिलकर देश की मेहनतकश जनता पर टूट पड़ें। वे घात लगाये बैठे हैं और बहुत से घराने तो पहले ही कई विदेशी कम्पनियों की साझेदारी भी कर चुके हैं (देखें तालिका)।

देशी पार्टनर	विदेशी पार्टनर
टाटा	अमेरिकन इण्टरनेशनल ग्रुप, अमेरिका
सी.के. बिड़ला ग्रुप	ज्यूरिख इंश्योरेंस, स्विट्जरलैण्ड
आई.सी.आई.सी.आई.	प्रुडेंशियल, ब्रिटेन
हिन्दुस्तान टाइम्स	कामर्शियल यूनियन, ब्रिटेन
रैनबैक्सी	सिग्ना, अमेरिका
बाम्बे डाइंग	जनरल ऐक्सिडेण्ट, ब्रिटेन
डी.सी.एम. श्रीराम	रॉयल सन एलायंस, ब्रिटेन
डाबर ग्रुप	लिबर्टी म्युचुअल फण्ड, अमेरिका
कोटक महिन्द्रा	चुब्ब, अमेरिका
गोदरेज	जे. रॉथ्स चाइल्स, ब्रिटेन
आई.टी.सी.	ईगल स्टार, ब्रिटेन
एस.के. मोदी ग्रुप	लीगल एण्ड जनरल, आस्ट्रेलिया
एस.के. मोदी ग्रुप	क्यू. बी.ई., आस्ट्रेलिया

देश का औद्योगिक समूह बीमा विधेयक पास हो जाने के बारे में कितना आश्वस्त है इसके लिए एक प्रमुख उद्योग समूह के मालिक के.एन. मेनानी का वह बयान ही काफी है, जो उसने वाजपेयी सरकार के इस्तीफा देने के बाद नई सरकार बनाने की उठापटक के बीच एक पत्रकार के सवाल के जवाब में कहा था।

उसने कहा था—"यदि सी.पी.आई. (एम) भी सत्ता में आती है तो भी हमारी उम्मीद है कि सुधार जारी रहेंगे।" आर्थिक "सुधारों" के सबसे मुखर विरोधी का तेवर दिखाने वाली पार्टी के बारे में देश का पूंजीपति वर्ग आश्वस्त है कि जनता को भरमाने के लिए जो भी भंगिमा वह अपनाये, उदारीकरण-निजीकरण की गाड़ी सरपट दौड़ती रहेगी।

वैसे, संसदीय समिति ने भी अपनी सिफारिश में "वामपंथी" पार्टियों और उनसे जुड़े ट्रेड यूनियन नेतृत्व को लाज बचाने का भरपूर मौका दिया है और मूल आई.आर.ए. बिल में कुछ मामूली संशोधन किये हैं। ये संशोधन इस उम्मीद में भी किये गये हैं कि इससे आम बीमाकर्मियों के असन्तोष पर भी पानी के छींटे मारे जा सकते हैं।

समिति ने मूल आई.आर.ए. बिल में प्रस्तावित विदेशी निवेश की सीमा 40 प्रतिशत से घटाकर 26 प्रतिशत तक सीमित कर दिया है। मूल बिल में विदेशी संस्थागत निवेशकों, ओवरसीज कारपोरेट निकायों और अनिवासी भारतीयों को इस 26 प्रतिशत के साथ ही 14 प्रतिशत पूंजीनिवेश की अतिरिक्त छूट देने का प्रावधान किया था जिसे समिति ने अनिच्छापूर्वक नामंजूर कर दिया। हालांकि पूंजीपतियों की शीर्ष संस्थाओं ने इसे मंजूर कराने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया था।

संयुक्त संसदीय प्रवर समिति के सामने देशी पूंजीपतियों के हितों की जोरदार वकालत करते हुए 'फिक्की' अध्यक्ष सुधीर जालान ने विदेशी पूंजी के साथ देशी पूंजी के गठबन्धन की मजबूरी के पक्ष में तर्क दिया कि बीमा क्षेत्र में निजी पूंजीनिवेश की न्यूनतम सीमा 100 करोड़ रुपये होने के कारण यदि सिर्फ 26 प्रतिशत निवेश की अनुमति दी जाती है तो दो-तीन घरानों को छोड़कर कोई भी 74 करोड़ रुपये के आरम्भिक निवेश की स्थिति में नहीं है। लेकिन, बीमाकर्मियों के असन्तोष का दबाव सुधीर जालान की मांग के आड़े आ गया। समिति को बेमन से फिलहाल 26 प्रतिशत विदेशी निवेश को ही अनुमति देना पड़ा और पूंजीपति वर्ग के दूरगामी हितों के लिए उसे तात्कालिक रूप से नाखुश करना पड़ा।

कांग्रेसी सांसद मुरली देवड़ा की अध्यक्षता में गठित 56 सदस्यीय इस समिति में संसदीय वामपंथी प्रतिनिधियों के साथ-साथ सभी चुनावी दलों के प्रतिनिधि शामिल थे। एल.आई.सी. और जी.आई.सी. के कर्मचारियों के असन्तोष पर पानी के छींटे डालने के लिए इस समिति ने कुछ और चारे भी फेंके हैं। विदेशी बीमा कम्पनियों के प्रस्तावों को स्वीकृत करने के लिए यह शर्त भी लगायी गयी है कि वे अपने निवेश का एक निश्चित हिस्सा ग्रामीण एवं सामाजिक क्षेत्रों में करें। इसे पूरा न करने वाली विदेशी कम्पनियों पर दण्डात्मक कार्रवाई करने का अधिकार बीमा नियामक प्राधिकरण को देने की सिफारिश भी की गयी है। इसमें आर्थिक हर्जाना लगाना भी शामिल है।

एक तरह से देखा जाये तो संयुक्त प्रवर समिति ने संसदीय वामपंथी पार्टियों और उनसे जुड़ी बीमा कर्मचारी यूनियनों की प्रमुख आपत्तियों को दूर कर उनके विरोध के उस राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को ही अप्रासंगिक कर दिया है जिसे हैदराबाद में विगत 26-30 दिसम्बर 1998 को सम्पन्न अखिल भारतीय बीमा कर्मचारी महासंघ के सत्रहवें सम्मेलन में कार्यसमिति ने अपनी रिपोर्ट में प्रस्तुत किया था। इस रिपोर्ट के अनुच्छेद 2.110 में कहा गया था कि "भूमण्डलीकरण के विरोध का तात्पर्य यह नहीं है कि हम अपनी अर्थव्यवस्था को विदेशी पूंजी और तकनोलाजी के लिए पूरी तरह बन्द कर देना चाहते हैं। विदेशी पूंजी आ सकती है, लेकिन राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के आधार पर और उसे राष्ट्रीय नियंत्रण के अन्तर्गत काम करना होगा तथा उसे निर्बन्ध स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती।" स्पष्ट है कि संयुक्त संसदीय समिति ने वामपंथी बिरादरों के "बहुमूल्य सुझावों" को गम्भीरता से सुना है और "राष्ट्रीय

प्राथमिकताओं'' के आधार पर 40 प्रतिशत से घटाकर सिर्फ 26 प्रतिशत विदेशी पूंजीनिवेश की अनुमति दी है और ''ग्रामीण एवं सामाजिक'' क्षेत्रों में उनके व्यवसाय का एक निश्चित प्रतिशत अनिवार्य बनाकर ''राष्ट्रीय नियंत्रण'' की व्यवस्था भी लागू कर दी है।

यह आज के समय की त्रासद विडम्बना और देश भर के बीमाकर्मियों एवं आम तौर पर समूचे मेहनतकश वर्ग का ऐतिहासिक दुर्भाग्य है कि वह भूमण्डलीकरण के दौर में विश्व वित्तीय पूंजी की आक्रामक नीतियों का मुकाबला एक ऐसे कथित वामपंथी नेतृत्व में कर रहा है जो वस्तुत: नीयत और नीति दोनों ही धरातलों पर वित्तीय पूंजी के दुर्गों की हिफाजत में ही खड़ा है। लेकिन, नीयत के पहले आइये नीति की चर्चा करें क्योंकि गलत नीति की बुनियाद पर सही नीयत से भी लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती।

संसदीय वामपंथी दलों और उनके ट्रेड यूनियन नेतृत्व ने भूमण्डलीकरण की आर्थिक नीतियों के विकल्प के रूप में देश के मेहनतकश अवाम के सामने नेहरू के पुराने 'पब्लिक सेक्टर' की बहाली का अधिकतम लक्ष्य रखा है। उत्पादन के साधनों को राजकीय स्वामित्व के अधीन होने मात्र को समाजवाद मानने का ''वैधिक विभ्रम'' पाले इन ''कम्युनिस्टों'' की समाजवाद की अवधारणा किसी भी रूप में नेहरू मार्का समाजवाद से आगे नहीं जाती। सोवियत संघ और चीन में पूंजीवाद की वापसी के अनुभवों से, जहां स्तालिन और माओ के परवर्ती कालों में समाजवाद राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद में बदल गया था, सीख निकालकर इस विभ्रम के बारे में मेहनतकश अवाम को सचेत करने में भला उन ''कम्युनिस्टों'' को क्या दिलचस्पी हो सकती है, जिनके लिए पूंजीवादी संसद और विधानसभाएं मक्का-मदीना हैं, और व्यवस्था के राजनीतिक-संवैधानिक संकटों को दूर करने में अपनी समस्त सृजनात्मकता को खपा देना एकमात्र पुनीत कर्तव्य है। इसीलिए, उनकी दृष्टि नेहरू के ''पब्लिक सेक्टर'' से आगे नहीं जा पाती। संसद में बैठकी लगाते-लगाते वे यह भी भूल गये हैं कि मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्त क्या हैं? वे यह नहीं समझ पाते (या समझदार नासमझ हैं?) कि पब्लिक सेक्टर यानी राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद की कोख से ही आज का तथाकथित मुक्त बाजारी पूंजीवाद पैदा हो रहा है। नेहरू का पब्लिक सेक्टर यदि भारतीय शासक पूंजीपति वर्ग की तत्कालीन आवश्यकता-विवशता था तो आज क्लासिकीय पूंजीवाद की तथाकथित बहाली उसकी आज की आवश्यकता-विवशता है। दूसरे शब्दों में कहें तो भारतीय पूंजीवाद आज जो रूप ले रहा है वह देशी पब्लिक सेक्टर पूंजीवाद के आन्तरिक तर्कों-संकटों और विश्व पूंजीवाद के आज के संकटों के परस्पर प्रभावित करने वाली अन्तर्क्रियाओं का योग है।

भारतीय पूंजीवाद के विकास के इस बुनियादी अन्तर्निहित तर्क को समझना इसलिए जरूरी है क्योंकि सवाल चाहे बीमा क्षेत्र में उदारीकरण-निजीकरण की प्रक्रिया के विरोध का हो या आम तौर पर पूरे भूमण्डलीकरण की नीतियों के विरोध का हो, विरोध का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य और रणनीति एवं रणकौशल इसी समझदारी से ही निर्धारित होंगे। इसलिए, यह चर्चा थोड़े में ही सही जरूरी है।

1947 में सत्ता हस्तान्तरण के बाद नेहरू द्वारा अपनायी गयी विकास-रणनीति, 'पब्लिक-सेक्टर, प्राइवेट सेक्टर-मिक्स्ड सेक्टर', की मिश्रित अर्थव्यवस्था की जिस रणनीति को ''समाजवादी पैटर्न'' के नाम पर लागू किया गया था, उसकी मजबूरियां और जरूरतें क्या थीं? पूंजी और सक्षम तकनोलाजी के अभाव में भारतीय पूंजीपति वर्ग सत्ता हासिल करने के तत्काल बाद बुनियादी और अवरचनागत क्षेत्र का खुद अपने दम पर विकास करने में अक्षम था। इसके लिए साम्राज्यवादी बड़े बिरादरों के सामने हाथ पसारकर राजनीतिक आजादी के सीमित हो जाने का जोखिम भी वह मोल लेना नहीं चाहता था। उसके सामने एक विकल्प यह हो सकता था, जैसाकि यूरोप के नवोदित पूंजीपति वर्गों ने आरम्भिक पूंजी संचय के लिए किया—यानी देशी राजे-रजवाड़ों, मठों-मन्दिरों में जनता को लूटकर रखी गयी अकूत धनसम्पदा को जब्त करना। लेकिन, इसमें उसे जनता की पहलकदमी के जरूरत से आगे निकल जाने का भय आड़े आ गया। इन्हीं विवशताओं-आवश्यकताओं के संघात में नेहरू का 'पब्लिक सेक्टर' जन्मा था, आज यह सचाई जगजाहिर है। इसी विकास रणनीति के तहत सार्वजनिक क्षेत्र में तमाम भारी उद्योग—बिजली, इस्पात, लोहा आदि अन्य बुनियादी व अवरचनागत उद्योग जनता की गाढ़ी कमाई को लोक-लुभावन नारों की आड़ में लूटकर खड़े किये। 1956 में भारतीय जीवन बीमा निगम का राष्ट्रीकरण भी इसी रणनीति का अंग था। पूंजीपतियों ने अपनी पूंजी कम निवेश पर अधिकाधिक मुनाफा देने वाले उपभोक्ता मालों के उत्पादन में लगायी।

प्रसंगवश यह उल्लेख भी जरूरी है कि सार्वजनिक क्षेत्र के इन उद्योगों ने ही वह भौतिक आधार मुहैया कराया था, जिसपर 'एटक' और 'सीटू' जैसी ट्रेडयूनियनों ने अपना व्यापक जनाधार बनाया था, क्योंकि यह उनकी अर्थवादी ट्रेडयूनियन गतिविधि के लिए ज्यादा अनुकूल भौतिक आधार था। बेशक, इन जुझारू ट्रेडयूनियन संघर्षों का भरपूर लाभ इन क्षेत्रों के संगठित मेहनतकश अवाम को वेतनवृद्धि, बेहतर सेवा शर्तों और अन्य सुविधाओं के रूप में मिला। इसके बदले में नेतृत्व को भी भरपूर साख-प्रतिष्ठा मिली। संघर्षों की इसी साख के दम पर आज भी 'एटक' और विशेषकर 'सीटू' अपने विश्वासघातों के बावजूद संगठित क्षेत्र में यूनियनों पर काबिज हैं। लेकिन इस भौतिक आधार के खिसकने के साथ ही (यानी निजीकरण की प्रक्रिया के सम्पूर्ण होने के साथ ही) इनके अस्तित्व का आधार भी खिसक जायेगा। सच कहा जाये तो, नेहरू के 'पब्लिक सेक्टर' का राग अलापने के पीछे अपने अस्तित्व की यही चिन्ता ही मुख्य है।

बहरहाल, मूल चर्चा पर लौटें। पब्लिक सेक्टर पूंजीवाद चार दशकों के विकास में कभी भी संकट मुक्त नहीं रहा। पब्लिक सेक्टर पूंजीवाद पूंजीवादी विकास का विशेष मजबूरी में पैदा हुआ एक विकृत रूप था, प्रतियोगिता का सापेक्षिक अभाव, पूंजी के प्रवाह पर रोक, आयात प्रतिबन्ध, कुल मिलाकर, 'जिसे इंस्पेक्टर राज' कहा जा रहा है—वे कारण थे, जिसने धीरे-धीरे एक नया संकट अन्दर ही अन्दर पलता रहा जो पूंजीवादी अर्थतंत्र के ठहराव के रूप में व्यक्त होता रहा। इसके साथ ही, 'पब्लिक सेक्टर' पूंजीवाद के लिए जरूरी नौकरशाही का अनुत्पादक बोझ और पूंजीवादी राजनीति की मजबूरियों से पैदा लोकरंजकतावाद (populism) अब धीरे-धीरे भारतीय निजी एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग के लिए असहय होने लगे। जब '90 के दशक की शुरुआत में यह आन्तरिक संकट भुगतान सन्तुलन के संकट के रूप में अपने चरम पर पहुंचा, तब बदली विश्व परिस्थितियों के संघात ने वे नयी विवशताएं और आवश्यकताएं पैदा कीं, जिनके कारण उदारीकरण-निजीकरण के मौजूदा नये दौर की शुरुआत हुई। इस पूरी प्रक्रिया की विस्तृत चर्चा के बजाय कि '60, '70 और '80 के दशकों में देशी राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद का संकट किन-किन आर्थिक-राजनीतिक- सामाजिक संकटों के रूप में सतह पर आता रहा, हम संक्षेप में आज के उन संकटों की चर्चा करेंगे जो भारतीय पूंजीवाद और विश्व पूंजीवाद के अन्तकारी रोग बन चुके हैं और जिनके कारण देशी-विदेशी पूंजी भारतीय बीमा बाजार पर लार टपका रहे हैं।

जो भी पूंजी के संचलन के बुनियादी तर्क से थोड़ा बहुत भी परिचित है वह यह बात आसानी से समझ सकता है (संसद में बैठे वामपंथी भी यह आसान बात समझते हैं, लेकिन वे समझदार नासमझ हैं) कि पूंजी के जीवित रहने की यह शर्त है कि न केवल मुनाफे के परिमाण में लगातार बढ़ोत्तरी होती रहे वरन् उसकी दर भी बढ़नी चाहिए इसीलिए, पूंजीपति हमेशा निवेश के नये-नये क्षेत्रों और उन्नत तकनोलाजी के जरिये उत्पादकता बढ़ाने की फिराक में रहते हैं। चार दशकों में पब्लिक सेक्टर द्वारा उपलब्ध करायी गयी बुनियादी एवं अवरचनागत सुविधाओं का लाभ उठाते हुए

देशी पूंजीपति जनता को लूटकर मालामाल होने के बाद अब 'पब्लिक सेक्टर' का लबादा उन्हें बोझ महसूस होने लगा और वे उन क्षेत्रों पर भी काबिज होन के लिए बेचैन हो उठे जो अबतक पब्लिक सेक्टर के मातहत थे। देशी पूंजीपति वर्ग के लिए पब्लिक सेक्टर का ढांचा अपना महत्व खोकर अपने विपरीत में बदल गया, जिसे विश्रृंखलित कर ही देशी पूंजीवाद अपनी उमर बढ़ाने का प्रयास कर सकता है।

मुनाफे की दर कैसे बढ़ायी जाये, यही चिन्ता भारतीय पूंजीवाद की है, जिसके लिए वह पूंजी और तकनोलाजी की कमी को पूरा करने के लिए अपने साम्राज्यवादी बड़े बिरादरों की ओर हाथ बढ़ाने और कुछ हद तक बांह ऐंठवाने को मजबूर है। मुनाफे की दर बढ़ाने की यही चिन्ता बड़े बिरादरों की भी है, लेकिन उनकी मजबूरियां दूसरी हैं—छोटे बिरादर का संकट पूंजी की कमी का संकट है लेकिन बड़े बिरादर का संकट पूंजी के अम्बार का संकट है। संकट का स्वरूप अलग-अलग होते हुए भी चिन्ताएं एक हैं संकट की अन्तर्वस्तु एक है।

विश्व पूंजीवाद का पेट भीम का पेट है जिसके मुनाफे की भूख कभी शान्त नहीं हो सकती।

इसी भूख को शान्त करने के उपायों का नाम है—भूमण्डलीकरण की नीतियां। विश्व पूंजीवाद के विश्वव्यापी संकट को दूर करने के उपायों के सवाल पर विश्व भर के पूंजीपतियों की आमसहमति दीख रही है। भारत का शासक पूंजीपति वर्ग भी तीसरी दुनिया के अपने तमाम बिरादरों के साथ साम्राज्यवादी देशों के पूंजीपतियों के जूनियर पार्टनर बनकर भूमण्डलीकरण की आर्थिक नीतियों को लागू कराने के लिए उतावला है। यह उसकी आज की आवश्यकता और विवशता है।

बीमा क्षेत्र के उदारीकरण और निजीकरण के प्रति भारतीय पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवादी देशों के वित्तीय शहंशाहों की बेचैनी और आतुरता अपने संकटों को दूर करने की इसी बदहवासी की उपज है। आज विश्व भर में पूंजीवादी उद्योग जगत में पसरी मन्दी को लोगों की क्रयशक्ति बढ़ाकर नये सिरे से उत्पादक गतिविधियों में निवेश के पुराने क्लासिकी तरीकों से दूर करने के बारे में सोचना भी असम्भव होता जा रहा है। कारण कि वित्तीय पूंजी आज औद्योगिक पूंजी के स्थान पर आसीन होकर विश्व पूंजीवादी अर्थतंत्र की नियंत्रणकारी शक्ति (Commanding Force) बन चुकी है। आज दुनिया के पैमाने पर पूंजीवादी आर्थिक क्रियाकलाप मुख्यत: इसी परजीवी और ह्रासमान वित्तीय पूंजी के मुख्यत: अनुत्पादक कारोबारों पर निर्भर हो चुका है। आज विश्व पूंजीवाद मुख्यत: अनुत्पादक क्षेत्रों—सट्टाबाजार, सेवाक्षेत्र, सूचना व मनोरंजन उद्योग और बीमा आदि अनुत्पादक क्षेत्रों में निवेश को बढ़ाकर ही अपने संकटों से निजात पाने का मार्ग तलाश रही है।

इनमें भी बीमा क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें निवेश के द्वारा दोतरफा लाभ कमाया जा सकता है। पालिसीधारकों के प्रीमियम के पैसों को सट्टा बाजार और अन्य क्षेत्रों में निवेश कर प्रत्यक्ष लूट द्वारा और नयी-नयी पालिसियों द्वारा विभिन्न उपभोक्ता मालों की बिक्री बढ़ाकर परोक्ष लूट द्वारा। इसमें यदि निजी कम्पनियों द्वारा बीमा पालिसीधारकों के दावों को शातिराना ढंग से खारिज करने की धोखाधड़ियों को भी जोड़ दिया जाये तो इस लूट के परिमाण को समझा जा सकता है।

अमेरिका सहित तमाम यूरोपीय देशों और जापान की निजी बीमा कम्पनियों द्वारा पालिसीधारकों के साथ की जाने वाली धोखाधड़ियां आज इतनी जगजाहिर हो चुकी हैं कि इन देशों में बीमा एजेण्टों को देखते ही लोग उन्हें ''दुरदुराने लगते हैं'' (बी.बी. सी. ने पश्चिमी दुनिया के बीमा कारोबार पर प्रसारित एक फीचर में इसी शब्दावली का इस्तेमाल किया था।) अपने देशों में चौपट हो चुकी साख से बीमा कम्पनियों का तेजी से दिवाला पिटता जा रहा है। हालत यह है कि हाल के कुछ वर्षों में अकेले अमेरिका की 300 बीमा कम्पनियों का दिवाला पिट चुका है। इसलिए, विशेष रूप से इन देशों के पूंजीपतियों की लालची निगाहें भारत के विशाल बीमा बाजार पर टिकी हुई हैं। बीमा क्षेत्र में निवेश के इस महत्व को देखते हुए आसानी से समझा जा सकता है कि आखिर क्यों देशी-विदेशी पूंजीपतियों के लिए बीमा क्षेत्र 'हीरामन तोता' बना हुआ है।

विश्व पूंजीवाद के संकटों की आज यह प्रकृति है। वित्तीय पूंजी आज औद्योगिक पूंजी की नियंत्रणकारी शक्ति बन चुकी है। साम्राज्यवाद आज किसी देश के वित्तीय तंत्र पर काबिज होकर ही सबसे निर्णायक ढंग से उसके समूचे अर्थतंत्र पर नियंत्रण कायम कर सकता है। ऐसा करके वह किसी देश को बिना गुलाम बनाये या कठपुतली शासक बिठाये उस देश के मेहनतकश अवाम से अतिलाभ निचोड़ सकता है। यानी उपनिवेशवादी और नवउपनिवेशवादी लूट की प्रणाली से आगे बढ़कर आर्थिक नव औपनिवेशिक लूट की यह नयी कार्यप्रणाली आज के साम्राज्यवाद की अभिलाक्षणिकता बन चुकी है। वित्तीय-पूंजी की इस नयी कार्यप्रणाली में बीमा क्षेत्र का विशेष महत्व है।

बीमा क्षेत्र में विदेशी पूंजी निवेश को हरी झण्डी दिखाने के महत्व को समझने के लिए पूर्व अमेरिकी राजदूत **फ्रैंक वाइजनर** का एक बयान काबिलेगौर है—**''बीमा उद्योग अमेरिकी अर्थव्यवस्था का ध्वजपोत है। आप पहले इसे आने दीजिये, फिर देखिये, पूरा का पूरा बेड़ा अपनी पूरी ताकत के साथ इसके पीछे-पीछे आ जायेगा।''** अब ध्वजपोत को हरी झण्डी मिल चुकी है। और इसके आगे बढ़ते ही समूचा बेड़ा कूच कर देगा।

जाहिर है कि बीमा क्षेत्र का उदारीकरण आज के विश्व पूंजीवाद की समग्र रणनीति का एक प्रमुख अंग है। इसलिए इसके विरोध की रणनीति का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य क्या हो, यह एक अहम सवाल है। बीमा क्षेत्र का उदारीकरण साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी की जितनी आवश्यकता है उतनी ही देशी पूंजी की भी। इसलिए, आज पूंजीवाद की चौहद्दी के भीतर रहते हुए इसका विरोध किया ही नहीं जा सकता। पूंजी और श्रम आज विश्वव्यापी स्तर पर एक दूसरे के आमने-सामने खड़े हो चुके हैं। आज की दुनिया की यह नयी सच्चाई ही हमारे विरोध की रणनीति को निर्धारित करेगी।

इस सच्चाई को नजरअन्दाज कर संसदीय वामपंथी पार्टियां और उनसे जुड़े ट्रेडयूनियन नेतृत्व ने मेहनतकश अवाम के सामने विरोध का जो राजनीतिक परिप्रेक्ष्य रखा है वह पूंजीवाद की सीमाओं से आगे नहीं जाना चाहता। वह पूंजीवाद के उस पुराने दौर की बहाली चाहता है, जिसे बहाल करना स्वयं पूंजीवाद के बुनियादी आन्तरिक तर्क से मेल नहीं खाता। उनकी यह रणनीति इतिहास को पीछे की ओर ले जाने के अनैतिहासिक-अवैज्ञानिक तर्क की बुनियाद पर खड़ी है। चूंकि यह सम्भव ही नहीं है, इसलिए एक असम्भव लक्ष्य को सामने रखकर लड़ाई लड़ने की परिणति सिर्फ निराशा और हताशा में ही हो सकती है। निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों के विरुद्ध संघर्षों में पराजय-दर-पराजय से गुजरते हुए आज मेहनतकश अवाम एक गहरे पराजय बोध और हताशा-निराशा की इसी मन:स्थिति में खड़ा है। मेहनतकश अवाम को इस मुकाम पर लाकर देश के संसदीय वामपंथ ने विश्व पूंजीवाद की ऐतिहासिक सेवा की है।

संसदीय वामपंथ की इस घुटनाटेकू नीति की चर्चा के बाद अब कुछ शब्द नीयत के बारे में भी।

यदि इनकी नीयत में खोट नहीं रही होती तो विरोध के नाम पर महज कुछेक भारत बन्द, कुछेक हड़तालों और हस्ताक्षर अभियान आदि आनुष्ठानिक रस्मी कवायदों की जगह संघर्ष की एक समग्र, व्यापक और दूरगामी रणनीति बनाकर दीर्घकालिक संघर्ष का कार्यक्रम इन्होंने बनाया होता और बीमाकर्मियों के संघर्ष को उदारीकरण की मार से ग्रस्त देश के अन्य क्षेत्रों के मेहनतकश वर्गों और व्यापक जनता के संघर्षों से जोड़ने की दिशा में आगे बढ़ते। लेकिन, जब श्रमिक वर्ग का

नाम लेकर पूंजी की सेवा करने की बदनीयती हो तो भला यह क्यों किया जायेगा?

दूसरे, लम्बे समय से सिर्फ वेतन-बोनस-एरियर-भत्ता की लड़ाई में उलझाये जाने के कारण बीमा कर्मी और इनकी यूनियनों के शिकंजे में फंसे मेहनतकशों के दूसरे तबके भी, राजनीतिक संघर्षों को अपने अस्तित्व का संघर्ष बनाकर लड़ने के बजाय ठंडी दुनियादारी के ढंग से संघर्षों के इन अनुष्ठानों में शामिल होते रहे हैं।

लेकिन तस्वीर का यह सिर्फ एक पहलू है, जो तात्कालिक रूप से अधिक प्रभावी दीख रहा है। यह स्थिति बहुत दिनों तक बनी नहीं रह सकती। देश के मेहनतकश अवाम की मन:स्थिति उस सेना जैसी है जो अपने सेनापतियों के विश्वासघात से मिली पराजय के कारण सदमे की शिकार है, फिलहाली तौर पर हतोत्साहित है, लेकिन उसके अन्दर इस स्थिति को बदलने की बेचैनी और अकुलाहट भी है, रास्ते की तलाश की छटपटाहट भी है। यदि सही विकल्प और ठोस रणनीति और रणकौशल उसे मिले तो नये सिरे से उठ खड़े होने में देर नहीं लगेगी। ईमानदार बीमाकर्मी भी इसी मन:स्थिति में आज खड़े हैं।

आज के मजदूर आन्दोलन को मौजूदा पतन से बाहर निकालने के लिए जरूरी है कि मजदूर वर्ग के बीच भूमण्डलीकरण की नीतियों के विरुद्ध संघर्ष का सही राजनीतिक परिप्रेक्ष्य रखा जाये। भूमण्डलीकरण की नीतियों का विकल्प पुराने 'पब्लिक सेक्टर' की बहाली नहीं हो सकता। आज मुनाफे और बाजार पर टिकी समूची पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली, शासन प्रणाली और सामाजिक ढांचे को ही सवालों के घेरे में खड़ा करना होगा। यानी, समूची पूंजीवादी जीवन प्रणाली को ही चुनौती देनी होगी।

निजी स्वामित्व की बुनियाद पर खड़े अराजक उत्पादन तंत्र का विकल्प राजकीय पूंजीवाद का ढांचा नहीं वरन् उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व की बुनियाद पर खड़ा समाजवादी ढांचा ही हो सकता है।

इस क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य को सामने रखकर ही आज भूमण्डलीकरण की नीतियों के विरोध में नये सिरे से मेहनतकश अवाम को गोलबन्द और संगठित करने की एक दीर्घकालिक ठोस रणनीति बनायी जा सकती है। बेशक, इस क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य को सामने रखकर तात्कालिक संघर्ष के मुद्दे के रूप में आई.आर.ए. बिल का विरोध, और लम्बे संघर्षों द्वारा अर्जित अधिकारों की एक-एक इंच हिफाजत करना प्रमुख तात्कालिक मुद्दा होगा, जिसे अपने अस्तित्व की शर्त बनाकर लड़ना होगा। बीमा क्षेत्र में कार्यरत जागरूक, ईमानदार और मौजूदा ट्रेड यूनियन नेतृत्व की गद्दारियों से क्षुब्ध ट्रेड यूनियन कर्मी साथियों को संघर्ष के इस क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य को आत्मसात करते हुए अपने अन्दर की निराशा से उबरना होगा। आम बीमाकर्मियों के बीच प्रचार और आन्दोलन की कार्रवाइयों को नये सिरे से संगठित करना होगा।

—ललित सती

भारतीय पूंजीवादी राजनीति : दलदल में फंसा हाथी

देश की पूंजीवादी राजनीति और संसदीय जनतंत्र की हालत दलदल में फंसे हुए हाथी जैसी हो गयी है। इस दलदल से निकलने का कोई भी प्रयास उसे दलदल में और अधिक गहरे धंसा दे रहा है। विष्णु भागवत प्रकरण के बहाने देश की सुरक्षा के प्रति जयललिता की ''चिन्ताओं'' से सत्ता के गलियारों में शुरू हुई कुत्ताघसीटी के एक और अध्याय का समापन बारहवीं लोकसभा के भंग होने पर हुआ। नतीजा यह कि तेरह महीनों के भीतर एक और चुनाव। और इसके साथ ही सत्ता की कुत्ताघसीटी का एक और नया अध्याय भी शुरू!

सदी के इस अन्तिम दशक की शुरुआत में उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के साथ शुरू हुआ पूंजीवादी राजनीति के संकटों का यह अभूतपूर्व दौर कैसे और किस रूप में जाकर थमेगा, इस बारे में पूंजीवादी राजनीति के चिन्तित सिद्धान्तकार और राजनीतिज्ञ कोई भी कारगर फार्मूला नहीं निकाल पा रहे हैं और मजबूरन उन्हें यह घोषणा करके ही सन्तुष्ट होना पड़ रहा है कि गठबन्धन सरकारों का एक स्थायी दौर शुरू हो चुका है और इस वास्तविकता की सीमाओं के भीतर ही राजनीतिक स्थिरता के फार्मूले खोजे जाने चाहिए।

देश के शीर्ष पूंजीपतियों के प्रतिनिधि भी इस राजनीतिक अस्थिरता को एक स्थायी वास्तविकता मानकर अपने राजनीतिक प्रतिनिधियों से अपीलें जारी कर रहे हैं कि कोई ऐसी व्यवस्था विकसित की जाये जिससे राजनीतिक अस्थिरता के दौर में भी ''सुधारों'' की जारी प्रक्रिया बाधित न होने पाये। अपनी इस चिन्ता को लिये-दिये वे इस दिशा में एड़ी-चोटी का पसीना एक किये दे रहे हैं कि सरकार किसी भी रंग की हो, भगवा से लेकर ''लाल'' तक, चाहे कामचलाऊ हो या मुकम्मल, ऐसी व्यवस्था हर हालत में बननी ही चाहिए। अपने राजनीतिक ''प्रबन्धकों'' को वे यह हिदायत बार-बार दे रहे हैं कि उनके आर्थिक एजेण्डे की प्राथमिकताएं क्या-क्या होनी चाहिए। चुनाव के लिए चन्दा लेने पहुंचने वाली हर पार्टी से वे इस बात पर आश्वासन ले लेना चाहते हैं कि—(i) लम्बित बीमा विधेयक अविलम्ब पास हो (ii) दूसरे श्रम आयोग का अविलम्ब गठन हो तथा (iii) आयकर ढांचे में आगे का सुधार किया जाये। भारतीय उद्योग परिसंघ के नवनिर्वाचित राहुल बजाज आने वाली सरकार की आर्थिक कार्यसूची में इन्हीं तीन मुद्दों को शामिल करने की गारण्टी चाहते हैं।

देश के बड़े पूंजीपतियों के प्रतिनिधि के रूप में राहुल बजाज की अपने राजनीतिक प्रतिनिधियों से की जानी वाली ये अपेक्षाएं भूमण्डलीकरण के दौर की अर्थनीति और राजनीति के रिश्तों को बेहद सटीक ढंग से व्यक्त करती हैं। लेकिन पूंजीपति वर्ग की आर्थिक-मजबूरियों-जरूरतों से पैदा होने वाली अर्थनीति के साथ कदम से कदम मिलाकर चाहते हुए भी पूंजीवादी राजनीति चल नहीं पाती है। पूंजीवादी राजनीति के अपने अलग संकट हैं, अपनी अलग मजबूरियां हैं। भूमण्डलीकरण की अर्थनीति और आज की पूंजीवादी राजनीति—दोनों संकटों की एक ही जमीन से पैदा हो रहे हैं—यह एक सचाई है, लेकिन यह भी उसी सचाई का दूसरा पहलू है कि उनके बीच पूर्ण एकरूपता नहीं कायम हो पा रही है, फलत: संकट भी नये-नये रूप धारण करता जा रहा है।

1991 में पब्लिक सेक्टर पूंजीवाद के ढांचे के जिस भीषण संकट से नरसिंह राव-मनमोहन सिंह की नयी आर्थिक नीतियों की शुरुआत होती है उसका एक जरूरी तकाजा यह भी था पूंजीवादी राजनीति के अबतक चले आ रहे लोकरंजकतावादी मुखौटे को निर्णायक रूप से उतार फेंका जाये। हालांकि, इस दिशा में शुरुआत 1980 में ही हो चुकी थी, जब इन्दिरा गांधी ने 'स्थिरता' के नारे पर चुनाव लड़ा और जीता था। लेकिन, एक दशक बाद यह निर्णायक मुकाम पर आ पहुंचा। चन्द्रशेखर का ''पेट पर पट्टी बांधने'' का मुहावरा अगली सरकार के पहले बजट में चरितार्थ हुआ जब नयी औद्योगिक नीति की घोषणा के साथ ही मनमोहनी बजट में गरीबों का 'मन मोहने वाले' जुमले तो फिर भी बरकरार रहे, लेकिन फण्ड-बैंक की नुस्खा-निर्देशित नीतियों पर चलते हुए सब्सिडियों मे कटौती और ''लोक कल्याणकारी' योजनाओं के लिए धन-आवण्टन में कंजूसी की शुरुआत हुई। इसके साथ ही,

छंटनी-तालाबन्दी-निजीकरण, मंहगाई-बेरोजगारी का दौर जैसे-जैसे आगे बढ़ता गया, घपलों-घोटालों-भ्रष्टाचार के नये-नये कारनामों का जैसे-जैसे भाण्डा फूटता गया, वैसे-वैसे कांग्रेस की अलोकप्रियता भी अभूतपूर्व दौर में पहुंची। लेकिन, दूसरी ओर, चूंकि नयी आर्थिक नीति को समूचे पूंजीपति वर्ग की आमसहमति की नीतियों के रूप में लागू किया जा रहा था इसलिए दिखावटी विरोध के बावजूद कई राज्यों में विपक्षी दलों की सरकारें भी उन्हीं नीतियों को मुस्तैदी से लागू करने के कारण शासित राज्यों में अलोकप्रिय होती जा रही थीं। इसी दौरान भारतीय जनता पार्टी शुरू में कांग्रेस की आर्थिक नीतियों को संसद में भरपूर समर्थन देते हुए सड़कों पर बाबरी मस्जिद-रामजन्म भूमि प्रकरण को हवा देते हुए एक ओर बुनियादी मुद्दों से जनता का ध्यान हटाती रही दूसरी ओर इस धार्मिक जुनून के सहारे और उन्हीं नीतियों की देन घोटाला-भ्रष्टाचार के मुद्दों को उछालकर अपना हिन्दू वोट-बैंक सुदृढ़ करती रही। इसी सिक्के के दूसरे पहलू के रूप में धर्मनिरपेक्षता का ढिंढ़ोरा पीटते हुए और मुसलमानों-पिछड़ों के मसीहाओं की मुद्रा में मुलायम-लालू और संसदबाज वामपंथी इन वर्गों के बीच अपना जनाधार बनाने का खेल खेलते रहे। इधर कांशीराम-मायावती भी कांग्रेस के दलितों के बीच परम्परागत वोट-बैंक को पहले ही खिसका चुके थे।

जब धार्मिक जुनून ने बाबरी मस्जिद ढहा दिया और इस मामले में नरसिंहराव सरकार की भूमिका जब उजागर हुई तो कांग्रेस का परम्परागत मुस्लिम वोट-बैंक पूरी तरह छिटककर ''धर्मनिरपेक्षता के चैम्पियनों'' की गोद में जा गिरा और बाबरी-मस्जिद ध्वंस के ''शौर्य'' प्रदर्शन से भाजपा का हिन्दू वोट-बैंक ठोस हो गया। इस समूची पृष्ठभूमि में 1996 में सम्पन्न लोकसभा चुनाव के बाद जो राजनीतिक परिदृश्य उभरा वह अप्रत्याशित नहीं था। राजनीतिक अस्थिरता का एक नया अध्याय। त्रिशंकु संसद!

काफी मशक्कत और जोड़-तोड़ के बाद वाजपेयी सरकार की शपथ, फिर तेरह दिनों बाद पतन, गुजराल सरकार का आना और उसका पतन। लोकसभा का फिर नया चुनाव। यह कहानी दुहराने की जरूरत नहीं।

इस चुनाव के बाद भी बैताल उसी डाल पर जा बैठा। भाजपा को पहले से ज्यादा सीटें तो मिलीं लेकिन अकेले सरकार बनाने की स्थिति में फिर भी नहीं। सत्ता के गलियारों में लगभग एक पखवारे तक चली कुत्ताघसीटी के बाद बड़ी मुश्किलों से बनी अठारह दली गठबन्धन वाली वाजपेयी सरकार। लेकिन पहले दिन से ही गठबन्धन के दलों के रूठने-मनाने का सिलसिला जो शुरू हुआ वह अन्ततः 13 महीनों में ही अपनी अन्तिम परिणति तक पहुंच गया। वाजपेयी सरकार को गिराने के लिए विपक्षी दलों की जो अवसरवादी एकजुटता तात्कालिक रूप से कायम हुई थी, वह सरकार गिरते ही बिखर गयी। इस बार जत्थेदार कामरेड हरकिशन सुरजीत का छल-नियोजन और आरजू-मिन्नत भी अपने अस्तित्व के संकट से जूझते मुलायम सिंह को रजामंद न कर सका उल्टे कांग्रेस को समर्थन देने के लिए हामी भरने के पाप की कालिख चेहरे पर पुत गयी जो उनकी पार्टी को कितना नुकसान पहुंचायेगी, यह चुनाव परिणाम आने पर ही पता चल सकेगा।

और, अब आज का मंजर सामने है। चुनावी दंगल की सम्भावित तिथि की घोषणा हो चुकी है। सभी पहलवान ताल भी ठोंक रहे हैं, हुंकार भी भर रहे हैं, लेकिन दुर्भाग्य यह कि किसी के पास भी कोई धोबिया पाट जैसा दांव नहीं है, जो सबको चित्त कर दे।

आगामी चुनावों में किन-किन नारों के साथ ये चुनावी मल्ल मैदान में उतरेंगे, इसकी आधिकारिक घोषणा तो चुनावी तिथियां निकट आने पर होगी, लेकिन चुनावी गठबन्धनों के लिए जो कवायदें हो रही हैं और चुनावी गणित में अलग-अलग पार्टियां और गठबन्धन आज जहां खड़े हैं, यह पूर्वानुमान लगाना कठिन नहीं है। कुछ पार्टियों ने अभी ही कुछ स्पष्ट संकेत दे दिये हैं।

एक चीज तय है कि अगले चुनाव में किसी भी रूप में विनाशकारी आर्थिक नीतियां प्रमुख मुद्दा नहीं बनने जा रही हैं क्योंकि इन पर सबकी आम सहमति है। कम से कम सत्ता-संघर्ष के दो प्रमुख दावेदारों—कांग्रेस और भाजपा के बारे में किसी को कोई भ्रम नहीं हो सकता। इस मसले पर कांग्रेस ने सबसे अधिक वफादारी और बेहिचक ढंग से शासक वर्गों का नमक अदा किया है। और भाजपा ने भी तेरह महीने में जो वफादारी दिखायी है उसके बाद वह इस लायक नहीं बची है कि जनता के सामने स्वदेशी जैसे किसी दिखावटी नारे को भी उछाल सके।

कांग्रेस के पास नेहरू परिवार की बैसाखी और स्थिरता के मंत्रजाप के अलावा कोई नया चुनावी मंत्र नहीं बचा है। कांग्रेस के चुनाव-प्रबन्धक इस बार प्रियंका गांधी के ग्लैमर को भी भुनाने के बारे में गम्भीरता से सोच रहे हैं, इसका संकेत वे दे चुके हैं। इसके अतिरिक्त, वे उत्तर प्रदेश में मुसलमानों के वोट बैंक को दुबारा हासिल करने के लिए ''भाजपा से मिलीभगत कर धर्मनिरपेक्ष सरकार न बनने देने वाले'' मुलायम सिंह के खिलाफ आक्रामक तेवर अख्तियार कर भरपूर प्रयास करेगी। साथ ही, दक्षिण के राज्यों में अन्तिम समय पर कुछ लाभजनक गंठजोड़ की सम्भावना भी बन सकती है।

भाजपा के पास अपना हिन्दू वोट बैंक है, जिसे वह सरकार की ''शहादत'' से सहानुभूति की लहर पैदा कर बचाये रखने की कोशिश करेगी। साथ ही, वह और घटिया स्तर पर उतरकर ''स्वदेशी प्रधानमंत्री बनाम विदेशी प्रधानमंत्री'' का नारा भी उछाल सकती है। हालांकि, इसकी औपचारिक घोषणा अभी नहीं हुई है, लेकिन अगिया बैताल साध्वी उमा भारती व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रपति भवन के समक्ष आत्मदाह करने की धमकी तक दे चुकी हैं। सोनिया के आगमन के बाद प्रधानमंत्री की कुर्सी पाने का आखिरी मौका भी हाथ से जाता देखकर शरद पवार के इस मुद्दे को लेकर अलग होने से भाजपा का काम आसान हो गया है। भाजपा इस सच को बखूबी जानती है कि वह किसी भी रूप में अकेले सरकार नहीं बना सकती, इसलिए वह अपने पुराने गठबन्धन के बचे हुए दलों को बचाये रखने के साथ ही, नये दलों को जोड़ने की भरपूर कोशिश करेगी।

देशव्यापी स्तर पर इन्हीं दो पार्टियों के बीच मुख्य मुकाबला होगा। क्योकि राष्ट्रीय मोर्चे के विघटन के बाद अथक प्रयासों के बावजूद कोई तीसरा मोर्चा अपना निश्चित रूपरंग ही नहीं बना पा रहा है। पहले ही दुर्दिन में चल रहे जनता दल को एक और बड़ा झटका उसके एक मजबूत स्तम्भ रामविलास पासवान की इस घोषणा से मिला है कि वे बिहार में लालू को हराने के लिए भाजपा से भी मोर्चा बना सकते हैं। कर्नाटक, उड़ीसा, महाराष्ट्र में अपनी बची-खुची जमीन पर पूरी कोशिश कर जनता दल दहाई भी शायद ही पार सके।

उधर, कांग्रेस को सत्तासीन कराने के चक्कर में मुलायम से बिछड़ गये लालू पुनः गांठ जोड़ने का संकेत दे चुके हैं, इससे दोनों पार्टियों के सांसदों की संख्या में तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा लेकिन चुनाव परिणामों के बाद सरकार बनाने की प्रक्रिया में भले ही गुणाभाग में यह मेल कुछ असर दिखाये। उ.प्र. में मुलायम की कांग्रेस विरोधी रणनीति से जो उलटा दांव लग गया है, उसे देखते हुए ऐसा भी हो सकता है, कि उनकी पहले की कुछ सीटों पर बसपा या कांग्रेस कब्जा कर ले, या मुस्लिम वोटों की इस खींचातानी में भाजपा को भी कुछ हद तक लाभ मिल सकता है। वाम मोर्चा अधिक से अधिक अपने प्रदर्शन को दुहरायेगी ही। शरद पवार की पार्टी महाराष्ट्र से बाहर कुछ खास कर पाएगी, इसमें संदेह ही है।

कुल मिलाकर, आगामी लोकसभा चुनाव में यही राजनीतिक परिदृश्य उभरकर सामने आ रहा है। घृणित अवसरवादी जोड़-तोड़, जाति, क्षेत्र, धर्म, भाषा के वही विनाशकारी हथकण्डे, धनबल, बाहुबल का नंगा नाच, सस्ते, लोकप्रियतावादी लटके-झटके—आज की पूंजीवादी राजनीति का यही जुगुप्सापूर्ण चित्र है। इस चित्र में पतन और

अश्लीलता के कितने और रंग भरे जायेंगे, इसकी कल्पना से ही उबकाई आती है।

चुनाव पूर्व का यह परिदृश्य पूरी तरह यही संकेत दे रहा है कि फिर त्रिशंकु संसद अस्तित्व में आयेगी। किसी चमत्कार के घटित होने की सम्भावना भी अब नहीं है। बहुतेरे राजनीतिक विश्लेषक और कई नेता खुद भी यही भविष्यवाणी कर रहे हैं। चुनाव पूर्व की कुत्ताघसीटी का एक अध्याय परिणाम आने पर खत्म होगा और फिर नया अध्याय शुरू होगा। राजनीतक असिथरता आज पूंजीवादी राजनीति की स्थायी नियति बन चुकी है। हाथी दलदल में और गहरे धंसता जायेगा।

भारतीय पूंजीवादी राजनीति की यह विडम्बना भूमण्डलीकरण के दौर की विडम्बना है। आर्थिक संकट राजनीतिक संकट को जन्म दे रहा है और राजनीतिक संकट नये आर्थिक संकटों का कारण बनेगा। यह इतिहास का प्रमाणित सच है कि संकट के समय पूंजीवादी शासकों के आपसी कलह-विग्रह भी बढ़ जाते हैं। नीतियों पर एका के बावजूद यह राजनीतिक उठापटक इसी का द्योतक है। और यह सिलसिला ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जायेगा त्यों-त्यों इस दुष्चक्र से बाहर निकलना और मुश्किल होता जायेगा। इन परिस्थितियों में इस सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि संसदीय जनतंत्र के मौजूदा स्वरूप को ही त्याग देने के लिए शासक वर्ग मजबूर हो जाये। वह किन विकल्पों को आजमायेगा, इस बारे में आज एकदम ठीक-ठीक तो नहीं कहा जा सकता लेकिन इतना निश्चित है कि शासक वर्गों के संकटों की कीमत जनता अन्ततः जनता को ही चुकानी है। जनता पर अपना नागपाश वे और अधिक जकड़ते ही जायेंगे।

देश को और देश की जनता को इस दुश्चक्र से मुक्ति दिलाने में सक्षम क्रान्तिकारी शक्तियों का दुर्भाग्य यह है कि अपनी कमजोरियों के कारण इस समूचे राजनीतिक परिदृश्य पर उनकी उपस्थिति भी दर्ज नहीं हो पा रही है। वे अभी दूर हाशिये पर ही खड़ी हैं जबकि शासक वर्गों का संकट भी दिन-ब-दिन गहराता ही जा रहा है और जनता की दुश्वारियां भी बढ़ती ही जा रही हैं।

क्रान्तिकारी शिविर के अन्दर यदि मौजूदा परिस्थितियां अपने गम्भीर आत्मालोचन, कमियों-कमजोरियों की गम्भीर जांच-पड़ताल की प्रक्रिया को तेज कर सकें। तो इससे बेहतर कुछ भी न होगा और इसे करना ही होगा जिससे बर्फ पिघल सके क्योंकि केवल तभी उस भाग्य से पीछा छुड़ाने की दिशा में तेजी से आगे बढ़ा जा सकेगा जिसकी गिरफ्त में देश की जनता फंसी हुई है।

—अरविन्द
20.5.99

वाजपेयी सरकार के तेरह महीने : जो जख्म मिले हैं उनकी टीस लम्बे समय तक महसूस होती रहेगी

लोकसभा में विश्वास प्रस्ताव पर बहस का जवाब देते हुए अटल बिहारी वाजपेयी ने ठीक ही कहा था कि ''उनकी सरकार ने काल के कपाल पर जो छाप छोड़ी है वह अमिट है, उसे कभी मिटाया नहीं जा सकेगा।'' वक्तव्य में निहित शब्दाडम्बर को हटा दिया जाये तो वाजपेयी काफी हद तक सच का बयान कर रहे थे। तेरह महीनों में उदारीकरण-निजीकरण की विनाशयात्रा में जनता को जो जख्म मिले हैं उनकी टीस लम्बे समय तक महसूस होती रहेगी।

वाजपेयी सरकार ऐसे समय में सत्तारूढ़ हुई थी, जब देश के शासक पूंजीपति वर्ग को ऐसी ही सरकार की जरूरत थी जो भूमण्डलीकरण की आर्थिक नीतियों को अधिक निस्संकोच ढंग से लागू करे और राजनीतिक गरज से पैदा होने वाले लोकरंजकतावादी आग्रहों से कम से कम संचालित हो। इस सरकार ने शासक वर्गों की इन जरूरतों का पूरा-पूरा ख्याल रखा। साथ ही, अपने चरित्र के अनुरूप देश के सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने को अपने विचारधारात्मक रंग में रंगने का कोई भी प्रयास उसने उठा नहीं रखा। देश के आर्थिक-राजनीतिक, सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में जो छाप इस अल्प अवधि में ही, इस सरकार ने छोड़ी है, उसे मिटाना आसान न होगा।

उदारीकरण-निजीकरण की विनाशयात्रा में नये-नये मील के पत्थर

वाजपेयी सरकार ने इस अवधि में जो दो बजट प्रस्तुत किये और जो अहम नीतिगत फैसले लिये, वे उदारीकरण-निजीकरण की विनाशयात्रा के नये मील के पत्थर थे।

सरकार के वित्तमंत्री यशवन्त सिन्हा ने जो दो बजट पेश किये वे मनमोहन सिंह के बजटों और चिदम्बरम के ''ड्रीम बजट'' के अगले विस्तार तो थे ही साथ ही इसने उदारीकरण-निजीकरण की प्रक्रिया को एक नयी मंजिल में भी पहुंचा दिया। पहले की बजट में बीमा क्षेत्र को विदेशी-देशी पूंजी के लिए खोल देने की निर्णायक घोषणा कर दी गयी और रक्षा क्षेत्र को छोड़कर वित्तीय एवं औद्योगिक पुनर्गठन बोर्ड (बी.आई.एफ.आर) के अन्तर्गत ''विचाराधीन'' सार्वजनिक इकाइयों के 74 प्रतिशत शेयरों को बेच देने का फैसला लेकर मौत का परवाना काट दिया गया।

देशभर से बीमा कर्मियों के जबर्दस्त विरोध के कारण चूंकि बीमा नियामक प्राधिकरण विधेयक (आई.आर.ए.बिल) संसद में पास कराना निरापद नहीं था, इसलिए उसे संसद की संयुक्त प्रवर समिति के हवाले कर सरकार को उसे दुबारा ''संशोधित'' रूप में पेश करने का इन्तजार करना पड़ा था। सरकार गिरने के पहले समिति के महत्वहीन संशोधनों वाली सिफारिशों को कैबिनेट ने मंजूरी दे दी थी, जिसे अब संसद में पास करने की औपचारिकता से गुजरना था कि इसी बीच सरकार ही गिर गयी।

दूसरे बजट में, जिसे सरकार गिरने के बाद सभी पार्टियों ने मिलकर पास कर दिया, पेटेण्ट बिल में संशोधन को मंजूरी देने के साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र के विनिवेश को अमल की अगली मंजिल में पहुंचा दिया गया। इस बजट में पांचवे वेतन आयोग की सिफारिशों से सरकार पर बढ़े बोझ का रोना रोते हुए सरकारी तंत्र का आकार कम करने का जो संकेत दिया गया था उसका सीधा अर्थ यही था कि भविष्य में सरकारी कर्मियों की संख्या में भारी कमी की जायेगी। हालांकि, लोकप्रियतावादी हथकण्डा अख्तियार करते हुए बजट में सचिव स्तर के सिर्फ चार पदों को कम करने की हास्यास्पद घोषणा की गयी थी। इस बजट में शासक वर्गों के संकट को दूर करने के लिए मध्य वर्ग की जेबों पर भी हाथ साफ करने की कुछ योजनाएं घोषित की गयी थीं। इनमें सरकारी कर्मचारियों के भविष्यनिधि खाते में जमा धन पर ब्याज दरों में कटौती और मध्यवर्ग के एक नये हिस्से को आयकर संजाल में फंसाना शामिल था जबकि, कारपोरेट टैक्स को ज्यों का त्यों रखा गया था।

खुले साधारण लाइसेंस (ओ.जी.एल.) के तहत आयात की जाने वाली वस्तुओं की सूची बढ़ाकर और कुछ अन्य नये कदमों के जरिये आयात के उदारीकरण को भी अगली मंजिल में पहुंचा दिया गया और निर्यात को प्रोत्साहित करने के नाम पर निर्यातकों को कई तरह की छूटें देकर (इनमें कई श्रम कानूनों से भी छूटें शामिल हैं) उन्हें और मुनाफा निचोड़ने का अवसर मुहैया कराया गया।

देशी-विदेशी पूंजीपतियों की सेवा में प्रस्तुत इन दोनों बजटों में गरीब मेहनतकश आबादी के नाम पर चलाये जाने वाली ''कल्याणकारी योजनाओं'' के खर्चों में मात्रात्मक रूप से जो भी बढ़ोत्तरी दिखायी गयी हो (आंकड़ों की बाजीगरी द्वारा) लेकिन यदि मंहगाई और मुद्रास्फीति के प्रभाव को इसमें जोड़ दें तो व्यवहारत: कमी कर दी गयी। दूसरे बजट में तो वे जुमले भी लगभग अनुपस्थित थे, जिनका बजट में एक अनुष्ठान के रूप में गरीबों के नाम पर मंत्रजाप किया जाता है।

यशवन्त सिन्हा ने वित्तमंत्री के रूप में पहले ही बयान से अपने आका पूंजीपतियों के मन से ''स्वदेशी'' के चुनावी नारे से पैदा हुई आशंकाओं को दूर कर दिया था और पहले बजट के बाद तो वे उनके ''प्रिंस चार्मिंग'' ही बन गये। देशी-विदेशी पूंजी के प्रति यह सरकार कितनी वफादार है, इसे सरकार गिरने के बाद भारतीय उद्योग परिसंघ के वार्षिक अधिवेशन में वाजपेयी द्वारा दिये गये भाषण से समझा जा सकता है। वाजपेयी ने पूंजीपतियों को आश्वस्त करते हुए घोषणा की थी कि ''हम अपने अधूरे कामों को पूरा करने के लिए वापस लौटेंगे।''

वाजपेयी सरकार द्वारा देशी-विदेशी पूंजी की सेवा में लिये गये नीतिगत फैसलों के नतीजे तात्कालिक रूप से छंटनी-तालाबन्दी-बेरोजगारी और तेजी से बढ़ती महंगाई (प्याज प्रकरण में जो अपने असली रूप में दिखा) के रूप में सामने आ ही रहे हैं, लेकिन इनके दूरगामी नतीजे और भी विनाशकारी होने वाले हैं। विशेष रूप से पेटेण्ट संशोधन विधेयक।

सरकार विदेशी पूंजीपतियों की सेवा के लिए कितनी आतुर थी, इसका अन्दाज पेटेण्ट बिल में संशोधन के लिए उसकी आतुरता से समझा जा सकता है। संसद में पारित न होने पर उसने इसके लिए अध्यादेश तक जारी किया, जिसे बाद में कांग्रेस के सहयोग से पारित किया गया। इस संशोधित विधेयक को अब अमेरिका और यूरोपीय संघ ने भी अपनी स्वीकृति दे दी है।

संशोधित पेटेण्ट विधेयक जिसमें प्रक्रिया पेटेण्ट के स्थान पर उत्पाद पेटेण्ट की व्यवस्था लागू की गयी है। इसे क्रमश: 2005 तक पूर्ण रूप से लागू कर देना है। इस संक्रमणकालीन अवधि के लिए विदेशी दवा एवं कृषि रसायन कम्पनियों को अनन्य विपणन अधिकार (एक्सक्लूसिव मार्केटिंग राइट्स) दिये गये हैं। इसका परिणाम यह तो होगा ही कि विदेशी दवा एवं रसायन कम्पनियां उत्पाद पेटेण्ट से प्राप्त एकाधिकार के कारण मनमाना कीमत पर दवाएं बेचकर अकूत मुनाफा कमायेंगी, साथ ही यह भी होगा कि वे देश की गरीब आबादी पर नयी-नयी दवाओं का परीक्षण कर उन्हें 'गिनीपिग' बना देंगे। कृषि का पूरा ढांचा बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा उत्पादित निर्वंश बीजों (टर्मिनेटर सीड्स) और कीटनाशी एवं खरपतवारनाशी रसायनों की मुहताज बन जायेगा। इन क्षेत्रों में होने वाले देशी अनुसंधान-शोध इन निगमों की भेंट चढ़ जायेंगे और देश के वैज्ञानिक, रसायनज्ञ, पादप-प्रजनक आदि वैज्ञानिक मेधा पहले से अधिक तेजी के साथ इन निगमों द्वारा प्रदत्त आकर्षक सुविधाओं की ओर उन्मुख होंगी। बहुराष्ट्रीय निगमें मुनाफे की इस हवस में धीरे-धीरे देश की जैवविविधता पर भी न केवल कब्जा जमाते जायेंगे वरन जैव-विविधता को जो हानि पहुंचेगी उसकी भरपाई भविष्य के समाजों में भी शायद नामुमकिन हो।

नरसिंह राव सरकार से शुरू होकर उदारीकरण-निजीकरण की विनाशयात्रा में मौजूदा सरकार ने जो मील का पत्थर गाड़े हैं उनसे न केवल देश की मेहनतकश जनता पर विपत्तियों के नये-नये पहाड़ एक-एक करके टूट रहे हैं, वरन् वे प्रकृति को भी विनाश की ओर लिये जा रहे हैं।

अन्धराष्ट्रवाद का जुनून पैदा करने की कुचेष्टाएं और सड़कों पर फासिस्ट नंगनाच

आर्थिक क्षेत्र में उठाये गये इन कदमों के साथ कदम मिलाते हुए वाजपेयी सरकार ने पोखरण परमाणु परीक्षण और अग्नि मिसाइलों के परीक्षण द्वारा शासक पूंजीपति वर्ग की विस्तारवादी महत्वाकांक्षाओं को प्रकट करने के साथ ही विश्वव्यापी पूंजी की लूट में अपने हिस्से को बढ़ाने के लिए उसकी राजनीतिक आजादी का प्रदर्शन भी किया। इन परीक्षणों के यही प्रमुख कारण थे। और शासक वर्ग की कोई भी अन्य पार्टी इस काम को अंजाम देती, लेकिन वाजपेयी सरकार ने जिस ढंग से इनके द्वारा अन्धराष्ट्रवादी भावनाओं को भड़काने की कोशिश की वह अन्दाज एक फासिस्ट अन्दाज था। राष्ट्र की सुरक्षा पर काल्पनिक खतरों का हौव्वा खड़ाकर जनता की बुनियादी समस्याओं से ध्यान हटाना आम तौर पर सभी पूंजीवादी शासकों और विशेष रूप से फासिस्टों की शासन-शैली का एक प्रमुख अंग है।

बहुतेरे लोगों को वाजपेयी की लाहौर बस यात्रा का मर्म नहीं समझ में आया और बहुतेरे इसे लोकप्रियतावादी स्टण्ट से आगे नहीं देख पाये जबकि यह उसी विस्तारवादी मंसूबे की दूसरी अभिव्यक्ति थी जिसकी एक अभिव्यक्ति इन परीक्षणों के रूप में सामने आयी थी। भारतीय शासक पूंजीपति वर्ग की रणनीति यह है कि यह तीसरी दुनिया के देशों पर, और विशेष रूप से दक्षिण एशिया के देशों पर अपना दबदबा जहां तक सम्भव हो बनाये और इसके लिए राजनीतिक-कूटनीतिक सैन्य मिशनों का सहारा ले। साथ ही, साम्राज्यवादी देशों के साथ सौदेबाजी में इनको साथ लेकर चलने की कोशिश भी करे। बहुप्रचारित लाहौर घोषणापत्र का एक प्रमुख बिन्दु विश्व व्यापार संगठन के साथ वार्ताओं में एक दूसरे को विश्वास में लेने का भी था। इसलिए, परमाणु परीक्षण, लाहौर बस-यात्रा और पुन: अग्नि का परीक्षण एक ही सिक्के के अलग-अलग पहलू हैं। उग्रवादी राष्ट्रवादी भंगिमा और उदार मैत्री-प्रदर्शन—दोनों के जरिए एक ही मकसद पूरा हो रहा है—भारतीय पूंजी की विस्तारवादी महत्वाकांक्षा। लेकिन, वाजपेयी सरकार का दुर्भाग्य यह कि जनता की बढ़ती मुसीबतों के आगे यह अन्धराष्ट्रवादी जुनून बहुत दिन तक हावी नहीं रह सका।

सत्ता में बैठी वाजपेयी सरकार के इन कारनामों के समान्तर संघ परिवार के अन्य मुखौटे ज्यादा खुले ढंग से सड़कों पर साम्प्रदायिक फासीवाद का नंगनाच करते रहे। पाकिस्तानी क्रिकेट टीम के भारत दौरे को लेकर शिवसैनिकों के उत्पाद और पूरे देश में ईसाइयों व अन्य अल्पसंख्यक समुदायों पर होने वाले अत्याचार—जिसका वीभत्सतम रूप ईसाई मिशनरी और उसके दो बच्चों को जिन्दा जलाने के रूप में सामने आया—आदि घटनाओं पर सरकार से जो तनातनी सामने आयी उससे किसी को इस भ्रम में नहीं आना चाहिए कि भाजपा अपने मुखौटे को उदार बनाना चाहती है। संघ परिवार की ये सभी भंगिमाएं एक समग्र रणनीति का अंग है—उसे सरकार में बैठे वाजपेयी के उदार मुखौटे की भी जरूरत है, सड़कों पर नंगनाच करने वाले खूंखार चेहरे की भी जरूरत है और इनमें आपस में टकराने से भी वह विचलित नहीं है। संघ परिवार अपने तरकश में सभी तीरों को एक साथ रखे रहना चाहता है। परिस्थिति अनुसार, जब जो उपयोगी होगा उसको वह अपनी फासिस्ट प्रत्यंचा पर चढ़ा लेगा। तेरह महीनों के कार्यकाल में साम्प्रदायिक दंगे न होने की उपलब्धि को गिनाने का मतलब भी यह है कि हम सरकार में न होंगे तब दंगे होंगे।

अकादमिक एवं सरकारी सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों तथा मीडिया के फासिस्टीकरण की कुचेष्टाएं

इन घोर जनविरोधी आर्थिक-राजनीतिक कदमों के साथ-साथ वाजपेयी सरकार ने अकादमिक-शैक्षिक संस्थाओं, सरकारी सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों एवं मीडिया को अपनी फासिस्ट विचारधारा एवं संस्कृति के रंग में रंग देने की कोई भी कोशिश उठा नहीं रखी। इस सांस्कृतिक अभियान की शुरुआत इन जगहों पर संघ काडर के विश्वसनीय लोगों की तैनाती से होती है। पहले

भी ये संस्थान मुख्यत: शासक वर्गों की विचारधारा और संस्कृति के पोषक ही थे, परन्तु फिर भी उनमें एक हद तक राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा अर्जित सकारात्मक मूल्य बचे हुए थे—विशेष रूप से भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद (आई.सी.एच.आर.) व राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.), जिन पर अकादमिक मार्क्सवादी या उदारवादी बुर्जुआ तत्वों का प्रभुत्व था। इन तत्वों ने भारतीय इतिहास के प्रति पुनरुत्थानवादी साम्प्रदायिक दृष्टि के खिलाफ संघर्ष कर इतिहासलेखन में प्रगतिशील एवं जनपरक दृष्टिकोण से कुछ महत्वपूर्ण अकादमिक कार्य किये थे और इन संस्थाओं में अपने प्रभाव के दम पर विश्वविद्यालयों-कालेजों व स्कूल स्तर पर भी, एक सीमित हद तक, वैज्ञानिक एवं तर्कपरक पाठ्यक्रमों को लागू कराने में सफलता पायी थी। संघ परिवार ने इसके महत्व को बखूबी समझते हुए इनपर अपना कब्जा जमाना एक जरूरी एजेण्डा बनाया था। इसी पर अमल करते हुए राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय (विशेष रूप से हिन्दी) समाचारपत्रों में व्यापक प्रचार अभियान चलाकर (इस अभियान में अरुण शौरी ने संघ परिवार की बड़ी सेवा की) इन संस्थाओं—विशेष रूप से भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद पर कब्जा जमाये ''कम्युनिस्टों'' पर विषवमन किया और अन्तत: उसके ढांचे में तोड़फोड़ कर अपने वफादारों की तैनाती की।

इसी के अगले क्रम में कई विश्वविद्यालयों में संघ काडर के लोगों की भरती हुई। उच्च शिक्षा और माध्यमिक-प्राथमिक शिक्षा के ''राष्ट्रीकरण'' ''भारतीयकरण'' और ''आध्यात्मीकरण'' के नाम पर केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्री मुरली मनोहर जोशी ने शिक्षामंत्रियों के सम्मेलन में अपना एजेण्डा थोपना चाहा, जो अन्य दलों के शिक्षामंत्रियों के विरोध के कारण सफल नहीं हो सका। 'वन्देमातरम' को लेकर विवाद शुरू करने के पीछे भी यही कुचेष्टा थी। उत्तरप्रदेश में स्कूलों में प्रार्थना के दौरान सरस्वती के चित्र को सामने रखकर प्रदर्शन करना अनिवार्य बनाने के प्रश्न पर उठे विवाद और आपसी अन्तरविरोधों के कारण प्राथमिक शिक्षामंत्री को इस्तीफा देना पड़ा था। शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण की मुहिम भी अभूतपूर्व रफ्तार से साथ ही चलती रही।

इसी प्रकार मीडिया में भी सरकार ने व्यापक स्तर पर संघी घुसपैठ की कोई कोशिश हाथ से निकलने नहीं दी। यहां तक कि संघी भोंपू 'पांचजन्य' पर और उसके आनुषंगिक छात्र संगठन अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के पचास वर्ष पूरे होने पर दूरदर्शन से विशेष कार्यक्रम तक प्रसारित करवाये। कुल मिलाकर तेरह महीनों में वाजपेयी सरकार ने देश के सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने को हिन्दू-फासिस्ट साम्प्रदायिक रंग में रंगने के हर अवसर का, हर माध्यम का उपयोग किया। कहने की जरूरत नहीं कि इनकी छापों का समाज पर जो प्रभाव पड़ा होगा, वह सत्ता में न रहने पर भी फासिज्म को खाद-पानी देते रहेंगे।

देश भर में जनतांत्रिक अधिकारों एवं क्रान्तिकारी संघर्षों के दमन-उत्पीड़न के नये-नये कीर्तिमान

अपने फासिस्ट चरित्र के अनुरूप भाजपा शासन की छत्रछाया में देशभर में अधिकारों को जितना और जिस ढंग से दमन किया गया, वह भी एक कीर्तिमान ही है।

''नक्सलवाद और उग्रवाद की समस्या'' से निबटने के नाम पर गृहमंत्री लाल कृष्ण आडवाणी गृहमंत्रालय के अधिकारियों और वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों से बिहार, आन्ध्र, महाराष्ट्र, समीपवर्ती मध्यप्रदेश, उड़ीसा आदि राज्यों में जनसंघर्षों को कुचलने के तौर-तरीकों पर लगातार विचार-विमर्श करते रहे। आडवाणी ने इन क्षेत्रों में चल रहे क्रान्तिकारी जनसंघर्षों को अपराध और आन्तरिक सुरक्षा के लिए खतरा बताते हुए इन अधिकारियों के साथ मिलकर दमन की रणनीति तैयारी की जो एक संयुक्त समन्वय समिति (ज्वाइण्ट कोआर्डिनेशन सेण्टर) के रूप में अस्तित्व में आयी। जे.सी.सी. बनने के बाद इन क्षेत्रों में फर्जी मुठभेड़ों, फर्जी गिरफ्तारियों हिरासत में मौतों, और जनसंघर्षों में हमदर्दों की व्यापक उत्पीड़न अभूतपूर्व रूप में बढ़ गया है।

भाजपा और सहयोगी दलों द्वारा शासित प्रदेशों में स्थितियां भयंकरतम है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग तक को यह कहना पड़ा है कि मानवाधिकारों के हनन के मामले में महाराष्ट्र अव्वल है और उत्तरप्रदेश दूसरे नम्बर पर है। उत्तरप्रदेश में तो जब से कल्याणसिंह सरकार ने सत्ता सम्भाली है, तब से माफियाओं की सफाया नीति के तहत 300 से भी अधिक निर्दोष लोग फर्जी मुठभेड़ों में मारे जा चुके हैं। इनमें से अधिकांशत: दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यक थे। हालात ऐसे है कि लगता है कि ''आधी रात की दस्तकों'' की वापसी सी हो गयी है। अली मियां के घर रात को छापा एवं तलाशी तथा गोरखपुर से प्रकाशित छात्रों-नौजवानों के क्रान्तिकारी पाक्षिक 'आह्वान कैम्पस टाइम्स' कार्यालय पर सादी वर्दीधारी पुलिस अधिकारी के नेतृत्व में बलपूर्वक गेट खुलवाकर छापा एवं तलाशी की घटनाएं जनतांत्रिक अधिकारों के हनन की फासिस्ट कुचेष्टाओं के उदाहरणमात्र हैं।

भाजपाई शासन के इन तेरह महीनों में जनता चतुर्दिक शासन की मार से आक्रान्त रही है। ऊपर के संक्षिप्त विवरण से ही यह स्पष्ट है। समाज के जीवन पर उसने निस्सन्देह गहरी छाप छोड़ी है। लेकिन, ''काल'' अपने ''कपाल पर'' छाप छोड़ने का लम्बे समय तक मौका देता ही रहेगा, यह सोचना वाजपेयी का भ्रम ही होगा।

सभी फासिस्ट ऐसे भ्रमों के शिकार रहते हैं। तेजी से बदलते देश और दुनिया के हालात जनता की चेतना का तेजी से क्रान्तिकारीकरण करते जा रहे हैं और जनता की वास्तविक नेतृत्वकारी शक्तियों का बिखराव भी कोई स्थायी नियति नहीं है। इन हालात के दबाव में उनके एकीकरण की प्रक्रिया को भी गति मिल रही है। यह जितनी जल्दी होगी, जनता को मिले जख्मों को उतनी ही जल्दी भरा जा सकेगा। क्योंकि एकमात्र क्रान्तिकारी शक्तियां ही इसमें सक्षम हैं।

—ओमप्रकाश
20.5.99

यूगोस्लाविया पर नाटो की बमबारी : रक्तपिपासु साम्राज्यवाद की ''मानवतावादी'' जंग

यह टिप्पणी लिखे जाने तक यूगोस्लाविया पर अमेरिकी कमान में 'नाटो' की बमबारी 49वें दिन भी जारी है। साम्राज्यवादी दैत्य की रक्तपिपासा एक हजार से भी अधिक आम नागरिकों को लीलने के बाद भी शान्त नहीं हुई है। अपनी ''मानवतावादी'' जंग में यह दैत्य अभी कितने यूगोस्लावियाई नागरिकों को निगलेगा, यह कहना फिलहाल मुश्किल है।

कोसावा के अल्बानियाई अल्पसंख्यकों के खिलाफ ''बर्बर अत्याचार'' करने वाले ''शैतान'' यूगोस्लावियाई राष्ट्रपति स्लोवोदान मिलोसेविच को कुछेक हवाई हमलों के बाद ही शान्ति वार्ता की मेज पर ला पटकने की शेखी बघारने वाले 'नाटो' के जनरल हजारों बमों को गिराने के बाद भी अपने मिशन में कामयाब नहीं हो सके हैं।

संकट के समय अपनी जनता की एकजुटता से मजबूती पाकर यूगोस्लावियाई राष्ट्रपति ने जिस प्रतिरोध क्षमता का प्रदर्शन किया है उससे पश्चिमी साम्राज्यवादी आक्रान्ताओं के अन्दर धीरे-धीरे हताशा घर करने लगी है। यह हताशा नाटो जनरलों और बिल क्लिंटन के इन बयानों से जाहिर हो रही है कि वे मिलोसेविच को ''पीस डालेंगे'' और

यूगोस्लावियाई सैन्य प्रतिरोध क्षमता को ''मटियामेट'' कर देंगे। यह इस चीज से भी प्रकट हो रही है कि यूगोस्लावियाई राष्ट्रपति को शान्ति वार्ता की मेज पर लाने के लिए रूस और संयुक्त राष्ट्र संघ की मध्यस्थता के लिए भी वे अब मन बना रहे हैं।

साम्राज्यवादी अपने दम्भ में हमेशा ही जनता की प्रतिरोध क्षमता का आकलन करने में मुंह की खाते रहे हैं। अपनी उन्नत 'हाईटेक' युद्धक-प्रणाली के दम पर आक्रान्ताओं ने सोचा था कि यूगोस्लावियाई की पिछड़ी हुई सैन्य प्रणाली को वे चुटकियों में ध्वस्त कर देंगे। लेकिन महज सैन्य प्रणालियों से उन्नत या पिछड़े होने के आधार पर लड़ाइयां नहीं जीती जा सकती। अपनी आदत के अनुसार साम्राज्यवादी इतिहास का यह सबक बार-बार भूलते रहे हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध में रूसी जनता के हाथों पराजय, कोरियाई युद्ध में पराजय और बहादुर वियतनामी जनता के हाथों अपने मानमर्दन के सबक और उपनिवेशों-नवउपनिवेशों में जनता के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों एवं इराक के ताजा अनुभवों के सबकों को अपनी 'हाई टेक' युद्धक प्रणाली के दम्भ में वे भूल चुके हें। सिर्फ एक सबक याद है—जमीनी युद्ध में मत उतरो। क्योंकि इस युद्ध में उतरने का मतलब है—एक और वियतनाम, एक और अफगानिस्तान। इसीलिए, बार-बार जमीनी लड़ाई में उतरने की गीदड़ भभकी के बाद भी वे साहस नहीं जुटा पा रहे हैं और कायरतापूर्ण हवाई हमलों के जरिये ही अपने ''मानवतावादी मिशन'' को पूरा करने को मजबूर हो रहे हैं।

यूगोस्लावियाई जनता ने जिस एकजुटता का प्रदर्शन करते हुए ''मानव ढाल'' बनाकर अपने पुलों व अन्य महत्वपूर्ण अवरचनागत तंत्र (इन्फ्रास्ट्रक्चरल सिस्टम) की सुरक्षा की है, उससे यह चीज एक बार फिर प्रमाणित होती है कि किसी देश की सुरक्षा के लिए सबसे अहम चीज उस देश की जनता की एकजुटता की भावना होती है। यह हो सकता है कि युगोस्लाविया के महत्वपूर्ण सैन्य व ठिकानों और उसके सभी बुनियादी एवं अवरचनागत तंत्र को 'नाटो' जनरल तहस-नहस कर दें लेकिन यूगोस्लावियाई जनता कभी भी साम्राज्यवादियों की अधीनता को अन्तिम रूप में स्वीकार नहीं कर सकती, चाहे इसके लिए कितनी ही कुर्बानियां क्यों न देनी पड़े।

बाल्कन की कीमती भूसम्पदा पर ललचायी निगाहें

कोई भी जनतंत्र प्रेमी व्यक्ति आज की दुनिया में कोसोवो के अल्पसंख्यक अल्बानियाई मूल के लोगों के खिलाफ सर्बियाई अन्धराष्ट्रवादी कार्रवाई का समर्थन नहीं कर सकता। सर्बियाई सेनाएं और पुलिस कोसोवो में जो कर रही है, उसकी जितनी भी भर्त्सना की जाये वह कम है। लेकिन पीड़ित अल्पसंख्यकों का उद्धारक बनकर अमेरिकी कमान में 'नाटो' जो खूनी कार्रवाईयां कर रहा है, उसके घोषित 'मानवतावादी सरोकारों' से इसका कुछ भी लेना-देना नहीं है।

यूगोस्लावियाई के खिलाफ अमेरिका के साथ फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन भी नाटो की कमान में युद्ध में शामिल हैं और फ्रांस-जापान सहित यूरोपीय संघ के अन्य पश्चिमी देशों की भी अलग-अलग अंशों में सहमति है। इऔर इस अर्थ में समूचे पश्चिमी साम्राज्यवाद का बहुत कुछ दांव पर लगा हुआ है, लेकिन सबसे अधिक दांव पर अमेरिकी साम्राज्यवाद लगा हुआ है। इस मायने में, सही तो यह है कि युद्ध अकेले अमेरिका लड़ रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ सहित तमाम अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं और राष्ट्रों की सम्प्रभुता को अक्षुण्ण रखने सम्बन्धी तमाम सन्धियों की धज्जियां उड़ाते हुए अमेरिका द्वारा शुरू किये गये इस युद्ध के पीछे सर्वप्रमुख कारण बाल्कन क्षेत्र के भूगर्भ में दबी अकूत सम्पदा है जिस पर अमेरिका सहित सभी पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों और रूस एवं जापान के मुनाफाखोरों की लालची निगाहें टिकी हुई हैं। साथ ही कैस्पियन सागर के तेल भण्डार पर भी इनकी लार टपकती रहती है। असाध्य आर्थिक संकटों में फंसे अमेरिका, यूरोप की बड़ी ताकतों और रूस, जापान इसे संजीवनी बूटी के रूप में देख रहे हैं। विशेष रूप से पूंजी के अम्बार के संकट से ग्रस्त अमेरिका के लिए यह निवेश का एक अत्यधिक सम्भावना सम्पन्न क्षेत्र है।

यूगोस्लाविया के 'स्तारी टिंग खदान' के विशालकाय क्षेत्र में धरती के नीचे सीसा, जिंक, सोने और चांदी के अयस्क विपुल परिमाण से भरे पड़े हैं। खदान के निवेशक नोबाक ब्जेलिक के अनुसार ''इन अयस्कों में सीसे और जिंक का प्रतिशत 30 प्रतिशत से भी ज्यादा है। कोसोवो की लड़ाई इन खदानों के लिए है, और किसी चीज के लिये नहीं। यह सर्बिया का कुवैत है—कोसोवो का दिल है। हम फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड, ग्रीस, स्वीडन, चेक गणराज्य, रूस और बेल्जियम, ... न्यूयार्क की एक फर्म को भी, जिसका नाम बताने से मैं बचना चाहूंगा, निर्यात करते हैं। इसके अतिरिक्त, कोसोवो में 17 अरब टन कोयले का सुरक्षित भण्डार है। स्वाभाविक रूप से अल्बानियाई इसे अपने लिए चाहते हैं।''

स्तारी खदान में भण्डार गृहों और प्रगलन संयंत्रों (स्मेल्टिंग प्लाण्ट्स) के अतिरिक्त 17 धातु शोधन संयंत्र स्थल (मेटल ट्रीटमेण्ट साइट्स, कई माल यार्ड, रेलवे लाइनें, विद्युत संयंत्र और देश का सबसे बड़ा बैटरी संयंत्र स्थित है। सिर्फ पिछले तीन सालों में इस क्षेत्र से 25,38,124 टन अशोधित सीसा और जिंक उत्खनन हुआ है, 286,502 टन सान्द्र (कन्सेन्ट्रेटड) सीसा और जिंक तथा 139,789 टन शुद्ध सीसा, जिंक, कैडमियम, चांदी और सोना उत्पादित हो चुका है। इस क्षेत्र में स्थित ट्रेप्का खदान काम्प्लेक्स जो बाल्कन क्षेत्र की सर्वाधिक मूल्यवान भूसम्पदा है (इसकी कीमत लगभग 5 अरब डालर आंकी गयी है), से अकेले यूगोस्लाविया ने करोड़ों अरब डालर कमाये हैं।

बाल्कन स्थित भूसम्पदा के इसी महत्व को देखते हुए 1947 में जब नाजियों ने बाल्कन पर कब्जा किया तो कोसोवो की राजधानी प्रिस्टीना को तो इटली को दे दिया लेकिन ट्रेप्का खदान पर अपना कब्जा बनाये रखा, जहां से वे अपने शस्त्रों के लिए खनिज और बैटरियां ढो-ढोकर ले जाते रहे। यूगोस्लाविया पर जारी बमबारी में, नाटो के युद्धविमान सैन्य ठिकानों के साथ-साथ इस समूचे खनिज उत्पादन तंत्र को विशेष रूप से अपने हमलों का निशाना बनाये हुए हैं।

यह आसानी से समझा जा सकता है कि यूगोस्लावियाई राष्ट्रपति स्लोवोदान मिलोसेविच के कोसोवो प्रेम और तथाकथित जातीय सफाये के पीछे और साम्राज्यवादी डाकुओं के ''मानवतावाद'' के पीछे छुपा असली मकसद क्या है? अमेरिका साम्राज्यवाद ने युद्ध में उतरने से पहले युगोस्लाविया पर कई दांव लगाये, जो मिलोसेविच की दृढ़ता के चलते निष्फल हो गये। जाहिर है, मिलोसेविच की यह दृढ़ता भी अपने ''कुवैत'' को, ''कोसोवो के दिल'' को खो देने की अस्तित्व-रक्षा से ही पैदा हुई है। निस्सन्देह, वह भी एक पूंजीवादी शासक हैं और इसीलिए सर्बियाई पूंजीपति वर्ग के मुनाफे की रक्षा के लिए अल्बानियाई अल्पसंख्यकों का उत्पीड़न करने और सर्ब जनता का भी शोषण-दोहन करने के मामले में किसी संशय के शिकर नहीं हैं। यह अलग बात है कि सर्ब जनता की प्रिस्टीना के प्रति जो भावनाएं हैं जैसी मुसलमानों में मक्का-मदीना के प्रति और यहूदियों में यरूशलम के प्रति है और आटोमन साम्राज्य के खिलाफ संघर्षों के इतिहास स्मृतियों ने उसे अपने पूंजीवादी शासक के साथ एकजुट कर दिया है और मिलोसेविच सद्दाम हुसैन की तरह साम्राज्यवाद विरोध के एक प्रतीक बनते नजर आ रहे हैं।

सैन्य अभियान में उतरने के पूर्व अमेरिका ने एक और कोसोवो के उत्पीड़ित अल्पसंख्यक अल्बानियाई लोगों के अगुवा तत्वों से सी.आई. ए. के माध्यम से सम्पर्क स्थापित कर, कोसोवो लिबरेशन आर्मी (के.एल.ए.) के गठन में प्रत्यक्ष भौतिक मदद कर (इसमें भारी पैमाने पर शस्त्रों की आपूर्ति, प्रत्यक्ष आर्थिक सहयोग और सैन्य

प्रशिक्षण शामिल हैं), सर्ब सेनाओं द्वारा अल्बानियाई लोगों के उत्पीड़न के प्रति मानवतावादी ढकोसले बाजी शुरू की थी और दूसरी ओर कूटनीतिक प्रयासों से यूगोस्लाविया को 'नाटो' में शामिल कराने के लिए अपनी समस्त कपट-विद्या का इस्तेमाल किया। प्रत्यक्ष अमेरिकी सहयोग से बल पाकर के.एल.ए. ने भी मुक्ति के नाम पर वही खूनी खेल शुरू किया जो निकारागुआ में कोंट्रा विद्रोहियों ने किया था। कोसोवो में सर्बों की सामूहिक हत्याएं, घरों-फसलों को आग लगाने, भारी पैमाने पर बलात्कार आदि का वही सिलसिला शुरू हुआ, जिसके कारण भारी पैमाने पर सर्बी का उसी तरह कोसोवो से पलायन हुआ था, जिस तरह आज अल्बानियाई जनता का हो रहा है। इसके बावजूद, अमेरिकी यूगोस्लाविया को 'नाटो' में शामिल कराने के लिए रजामन्द न कर सका। इसके साथ ही कोसोवो में सर्ब सेनाओं और पुलिस द्वारा अल्बानियाई लोगों के उत्पीड़न की कार्रवाईयां भी तेज होती गयीं और मुनाफाखोरों के वर्चस्व की इस लड़ाई में दोनों ओर से आम जनता पीसी जाती रही। अन्ततः जब अन्य कई कूटनीतिक चालों के बावजूद अमेरिका अपने मकसद में कामयाब होता नजर नहीं आया और पोलैण्ड, चेक गणराज्य एवं हंगरी के भी 'नाटो' में शामिल होने की रजामन्दी के बावजूद मिलोसेविच ने हां नहीं की तो अमेरिका के सामने खुला खूनी खेलने के अलावा कोई चारा नहीं था।

नयी विश्व-व्यवस्था की दरकती बुनियाद

जाहिर है, कि बाल्कन क्षेत्र में अमेरिकी कमान में 'नाटो' के नंगनाच के पीछे प्रमुख आर्थिक एवं भू-राजनीतिक कारण यही है। इस सवाल पर सभी 'नाटो' देश अमेरिका के साथ खड़े हैं। लेकिन, अमेरिका यूगोस्लाविया में अपनी 'हाई टेक' संहारक क्षमता के इस प्रदर्शन के जरिये एक साथ कई मकसद हासिल करना चाहता है। वह यूरोपीय संघ के अपने बिरादरों की एकजुटता से भयभीत है। एकीकृत यूरोपीय मुद्रा यूरो के प्रचलन के बाद, विशेष रूप से अमेरिका को अपने 'महाबली' के ताज पर खतरे, जो सुदूर थे, धीरे-धीरे आसन्न होते नजर आने लगे हैं। फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी और साथ ही जापान के साथ उसके बीच-बीच में चलने वाले व्यापार-युद्ध इसी की अभिव्यक्तियां हैं। वह अपने इन पश्चिमी बिरादरों को भी यह सन्देश देना चाहता है कि अगर उसके ताज पर खतरा हुआ तो खैर नहीं। चूंकि, बाल्कन के मसले पर अमेरिका का साथ छोड़ना उनके लिए भी सम्भव नहीं, इसलिए वे भले ही नाटो कार्रवाई पर अमेरिका के साथ हैं, लेकिन वे इस अमेरिकी संकेत को भी भलीभांति समझ रहे हैं। इसकी प्रतिक्रिया फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी के अन्दर हो रही है, जहां शासक वर्गों में दरारें साफ नजर आ रही हैं।

अमेरिका इस विनाशलीला के जरिये दरिद्र रूस, चीन और तीसरी दुनिया के शासक वर्गों को यह सन्देश देना चाहता है कि वे ''नयी विश्व-व्यवस्था'' में उस ढंग से ढल जायें जैसा वह चाहता है, अन्यथा वे 'हाई-टेक' युद्ध के विनाश के लिए तैयार रहें।

इसका कारण यह है कि अमेरिकी पूंजी के सामने भीख का कटोरा लिये फिरने वाला विध्वस्त रूस भी बदले में अमेरिकी धुनों पर मनचाहे ढंग से नहीं नाच रहा है। तथाकथित यूरो-अटलांटिक सुरक्षा छतरी ('नाटो' का नया अर्थ विस्तार) के समान्तर यूगोस्लाविया अपने भूतपूर्व संघ के गणराज्यों के साथ इसे चुनौती देने की कोशिशों से बाज नहीं आ रहा है। हालांकि, अपने आन्तरिक संकटों के कारण फिलहाल वर्तमान युद्ध शुरू होने पर विश्वयुद्ध शुरू हो जाने की हास्यास्पद गीदड़भभकी देने और एक विदूषक बिचौलिये के रूप में बेलग्रेड से लेकर लन्दन-पेरिस-बर्लिन की परिक्रमा से अधिक कुछ कर नहीं पा रहा है, लेकिन अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों के अन्तरविरोधों का लाभ उठाने की हरसम्भव कोशिश करने में चूक भी नहीं रहा है। इसके साथ ही, चीन सहित तीसरी दुनिया के देश भी अपनी-अपनी क्षेत्रीय एकजुटताओं की कोशिशों के जरिये नयी विश्व व्यवस्था के पकवान में कंकड़ बने हुए हैं।

संक्षेप में, यह कि शीतयुद्ध के बाद परिदृश्य अमेरिका के मनोनुकूल निर्मित होता नहीं दीख रहा है। 'नयी विश्वव्यवस्था' का मार्ग निष्कंटक नहीं बन पा रहा है। यूगोस्लाविया में नाटो (अमेरिका) द्वारा रची जा रही विनाशलीला इसी बौखलाहट का नतीजा है। यह अमेरिका के साम्राज्यवादी वर्चस्व पर मंडराते खतरों से पैदा हुई बदहवासी का विस्फोट है। उसके कथित ''मानवतावादी सरोकारों'' से इसका कुछ भी लेना-देना नहीं है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समापन पर हिरोशिमा नागासाकी पर परमाणु बम गिराकर अमेरिकी साम्राज्यवाद ने अपनी ताजपोशी का ऐलान किया था और शीतयुद्धोत्तर काल में खाड़ी में रचे गये और बाल्कन में जारी विनाशलीला उसके इस डगमगाते ताज को बचाने की सनक की देन है।

अमेरिका के ये ''मानवतावादी सरोकार'' तुर्की शासकों द्वारा उत्पीड़ित कुर्दों के प्रति, पूर्वी तिमोरसी क्रिश्चियनों के प्रति, कोलम्बियाई अल्पसंख्यकों के प्रति क्यों नहीं पैदा होते जहां के उत्पीड़क शासकों पर उसका वरदहस्त हैं और सर्वोपरि तौर पर, अपने ही देश के अल्पसंख्यक नीग्रो लोगों, रेड इंडियनों और एशियाई मूल के लोगों के बारे में उसका क्या कहना है, जहां उनपर खुद राज्य की मशीनरी द्वारा जितना बर्बर दमन-उत्पीड़न और जातीय सफाया (एथनिक क्लीनजिंग) हो रहा है, उसकी मिसाल पूरी दुनिया में नहीं मिलेगी।

दुनिया में जनतंत्र की हिफाजत के नाम पर अमेरिका ने अल सल्वाडोर (1932), इण्डोनेशिया (1961) और चिली (1973) में, सोमालिया में, पनामा और ग्रेनाडा में जो नरसंहार किये थे, सम्प्रभुता की रक्षा के नाम पर खाड़ी में बर्बरता का जो नंगा नाच किया और पेरू सहित दुनिया भर के खूनी तानाशाहों की मदद करके जो अपराध करता आ रहा है, यूगोस्लाविया में भी वही हो रहा है। सिर्फ मुखौटे बदलते रहे हैं। कभी जनतंत्र का, कभी सम्प्रभुता की रक्षा का और कभी मानवाधिकार और मानवतावाद का।

यूगोस्लाविया में ''मानवता'' की रक्षा के नाम पर साम्राज्यवाद द्वारा छेड़ी गयी इस जंग में भी बार-बार ''गलती'' से और निशानों की ''चूक'' से सैन्य ठिकानों की जगह नागरिक ठिकानों पर बम गिर जा रहे हैं, जिनमें चीनी दूतावास सहित अन्य ''दुर्घटनाओं'' में अब तक एक हजार से भी अधिक लोगों की हत्यायें हो चुकी हैं। यह भी कोई नयी बात नहीं है। ऐसी ''गलतियां'', ''चूकें'' और दुर्घटनाएं पहले भी होती रही हैं। नागरिक ठिकाने हमेशा से साम्राज्यवादी हत्यारों के लिए सैन्य ठिकाने बनते रहे हैं।

इस युद्ध का परिणाम जो भी निकले, मिलोसेविच को शान्ति वार्ता की मेज पर तात्कालिक रूप से जो भी शर्तें मानने को मजबूर होना पड़े, लेकिन, इतना तय है कि इससे साम्राज्यवाद का संकट समाप्त होने से रहा। इस युद्ध के परिणाम के रूप में, लूट के माल के बंटवारे के लिए जो सिरफुटौवल शुरू होगी, वह मौजूदा साम्राज्यवाद के संकट को और गहरा बनायेगी तथा साथ ही नये-नये संकट भी पैदा होंगे। जब तक साम्राज्यवाद जिन्दा रहेगा, विश्व मानवता को स्थायी शान्ति मिल ही नहीं सकती।

लेकिन, यह भी तय है कि दुनिया की जनता के लिए साम्राज्यवाद की यह नयी बर्बरता भी कोई स्थायी नियति नहीं है। जनता के साम्राज्यवाद विरोधी अभियानों में आया हुआ तात्कालिक ठहराव कोई स्थायी पड़ाव नहीं है। परिस्थितियां तेजी से इस ठहराव को तोड़ने की दिशा में अग्रसर हैं। यह निर्णायक रूप से कब टूटेगा, इसका जवाब दुनिया की जनता के हरावलों को—क्रान्तिकारी शक्तियों को ही देना है।

—अरविन्द सिंह

20.5.99

‘आपरेशन एलाइड फोर्स की “गलतियां”, “चूकें” और पश्चिमी मीडिया के झूठ

यूगोस्लाविया पर नाटो की बमबारी में अब तक लगभग एक हजार से भी अधिक लोग मारे जा चुके हैं और हजारों घायल हैं। बमबारी से पेयजल प्रणाली, बिजली प्रणाली, संचार प्रणाली, रेलवे लाइन, सड़कें, पुल, टी.वी. स्टेशन, महत्वपूर्ण इमारतें और यहां तक कि अस्पतालों और स्वास्थ्य सुविधाओं को लगभग ध्वस्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त, बमबारी से वायुमण्डल में भारी परिमाण में जहरीली गैसों के फैल जाने से पर्यावरण पर और यूगोस्लावियाई जनता के स्वास्थ्य पर कितना भीषण असर पड़ रहा होगा, इसका ठीक-ठीक आकलन तो युद्ध खत्म होने के बाद ही हो सकेगा। लेकिन, ‘नाटो’ के फौजी अफसर और उनके राजनीतिक आका नागरिक ठिकानों और नागरिक सुविधाओं पर हुई बमबारी और इसमें हताहतों पर खेद प्रकट कर इन्हें महज “गलतियों” और “चूकों” को अंजाम देने में निर्द्वन्द्व होकर जुट जाते हैं।

उधर पश्चिमी मीडिया इस आपराधिक युद्ध के प्रति जनसमर्थन पैदा करने के लिए इन झूठों का सहारा लेने के साथ ही नये-नये झूठ गढ़ने में गोयबेल्स को भी मात कर गया लगता है। कुछ बानगी यहां प्रस्तुत है :

6 अप्रैल को कोसोवो की राजधानी प्रिस्टीनी के एक कस्बे में आधी रात के बाद लगभग आधे घण्टे में कुल बीस बम, और मिसाइलें दागी गयीं, जिसमें लगभग तीन दर्जन घर पूरी तरह ध्वस्त हो गये। साथ ही, केन्द्रीय डाकघर और सामाजिक सेवा का एक कार्यालय भी। लगभग एक दर्जन लोग मारे गये।

इसके बारे में ‘नाटो’ प्रवक्ता ने सी.एन.एन. पर एक भेंट में बताया कि यूगोस्लावियाई सेनाओं ने खुद यह सब किया है। जब इस झूठ का भाण्डा फूट गया तो दूसरा झूठ गढ़ा गया कि सिर्फ एक बम प्रिस्टीनी में घरों पर गिरा है, वह भी “निशाने की चूक” से।

यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड से लगभग 100 मील दक्षिण एक खदान क्षेत्र के रिहायशी इलाके में, जहां लगभग 20,000 खदानकर्मी रहते हैं, 6 अप्रैल को रात दस बजे बमवर्षक विमानों की गड़गड़ाहटों के बाद कई बम गिराये गये। इनमें से एक लेजर-निर्देशित बम एक अपार्टमेण्ट समूह पर गिरा। एक पश्चिमी रिपोर्टर ने इसके बारे में लिखा कि बिल्डिंग “ईंटों और टाइलों के धुएं में बदल गयी जिसमें मानव अंग और खून की बौछारें साफ नजर आ रही थीं।” स्थानीय अधिकारियों के अनुसार लगभग 12 लोग मारे गये और 50 से अधिक घायल हुए।

ब्रुसेल्स में नाटो के एयर कमाण्डर डेविड विल्बी ने इस घटना पर कहा : “यह सम्भव है कि हमारा कोई हथियार लक्ष्य से भटक गया हो। क्लिण्टन ने कहा कि इस तरह की “गलतियों” को अपरिहार्य मानकर चलना चाहिए।

12 अप्रैल को बेलग्रेड से एक ट्रेन दक्षिण दिशा में ग्रीस की ओर जा रही थी। ट्रेन जैसे ही जुज्ना मोरावा नदी के निकट पहुंचती है, एक एफ-15 विमान पर सवार दो पायलटों ने वीडियो कैमरे से निशाना लिया और एक 130 AGM बम सीधे रेलगाड़ी पर दाग दिया। यह देखने के बाद कि उन्होंने एक यात्री गाड़ी को निशाना बनाया है, पायलटों ने विमान का एक चक्कर लगाने के बाद पुन: एक बम गिराया। कम से कम 10 यात्री मारे गये और 16 गंभीर रूप से घायल हुए।

नाटो के जनरल वेस्ले क्लार्क की प्रतिक्रिया थी कि पयलट ने पुल को निशाना बनाया था और अपना “मिशन पूरा करने के बाद” लौट आया। ये पूछने पर कि ट्रेन पर दो बार क्यों बम गिराया गया, उन्होंने कहा कि यह एक “दुर्घटना” थी। पेण्टागान ने गर्व से घोषणा कि कि उन्होंने तीन सप्ताह के हमलों में 11 पुलों को ध्वस्त कर दिया है। उन्होंने बाल्कन में लोगों को एक दूसरे से अलग कर दिया है और इस दरिद्र पहाड़ी क्षेत्र में खाद्य सामग्री और अन्य जरूरी चीजों की भीषण कमी पैदा कर दी है।

इसी प्रकार 13 अप्रैल को अल्बानियाई शरणार्थियों के काफिले पर बमबारी से मरे लगभग 80 लोगों और इससे भी अधिक घायलों के बारे में ‘नाटो’ के प्रवक्ता ने बताया कि बेलग्रेड ने स्वयं यह हमला किया है। इस घटना के बारे में एक पश्चिमी रिपोर्टर पाल वाटसन ने लिखा कि उस दिन इतनी अधिक संख्या में नाटो के जहाज आसमान में मंडरा रहे थे कि “यह कैसे सम्भव है कि यूगोस्लाविया का कोई जेट विमान इन्हें भेदकर शरणार्थी काफिले पर हमला कर गया हो।”

9 मई को चीनी दूतावास पर मिसाइल गिरने का सारा दोष सी.आई. की गलत सूचनाओं और गलत दिशा निर्देशों के मत्थे मढ़कर अमेरिका और नाटो देशों ने इस “दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना” पर “खेद” प्रकट कर दिया।

ये कुछ उदाहरण मात्र हैं—साम्राज्यवादी रक्तपिपासा, सनक, हेकड़ी और झूठ गढ़ने की बेहयाई के। पश्चिमी मीडिया भी इस बर्बर अभियान में अपने शासकों के पूरी तरह साथ खड़ा होकर जनमत इसके पक्ष में करने में पूरी ताकत से लगा हुअ है। आइये, इसके भी कुछ उदाहरण देखें।

अधिकांश पश्चिमी टीवी कवरेज अल्बानियाई पलायन करते शरणार्थियों काफिले और उनके कष्टमय जीवन के चित्रों से भरे होते हैं। टीवी पर हवाई बमबारी के बाद आसमान के उठते धुओं, ज्वालाओं और गर्द-गुबार के चित्र भी दिखायी पड़ते हैं। परन्तु, भूलवश भी कुछ क्षणों के लिए ही सही तेलशोधक कारखानों, तेल भण्डारों, रासायनिक संयंत्रों पर बमबारी के बाद निकलने वाली जहरीली गैसों के दमघोंटू परिवेश और इनसे होने वाली मानवीय पीड़ा और मुसीबतों के चित्र टीवी पर्दे पर नहीं उभरते।

एक अमेरिकी टी.वी. चैनल पर जब खुद एक अमेरिकी टिप्पणीकार ने एक कार्यक्रम में यह प्रश्न उठाया कि ‘नाटो’ कुर्दों के मानव अधिकारों की रक्षा के लिए क्यों कुछ नहीं करता, जो कोसोवोवासियों जैसा ही उत्पीड़न सह रहे हैं तो कार्यक्रम के सूत्रधार ने बातचीत बीच में ही समाप्त कर दी।

साम्राज्यवादी सच से कितना घबराते हैं, इसका एक और उदाहरण देखिये। बेलग्रेड टी.वी. स्टेशन पर जब 22 अप्रैल को बम गिराये गये उसके ठीक पहले एक अमेरिकी अकादमीशियन द्वारा यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति स्लोबोदान मिलोसेविच का एक इण्टरव्यू प्रसारित किया जाने वाला था। ‘नाटो’ के अधिकारियों ने इसे खतरनाक प्रसारण समझकर प्रसारित होने से पूर्व ही उड़ा दिया। न केवल ट्रांसमिशन नेटवर्क को उड़ाया गया, बल्कि स्टूडियो को भी ध्वस्त कर दिया गया, जिसमें 10 कर्मचारी मारे गये और कई घायल हुए। घायल कर्मचारियों से जब कुछ पत्रकारों ने पूछा कि ‘नाटो’ सेनाओं द्वारा इसे उड़ा देने की धमकी के बावजूद वे क्यों ड्यूटी पर आये थे, तो उन्होंने जवाब दिया कि वे सोचते थे कि वे सिर्फ ट्रांसमिशन टावर उड़ाया जायेगा। ये अभागे कर्मचारी शायद साम्राज्यवादियों की रक्तपिपासा से अनभिज्ञ थे।

टी.वी. स्टेशन को उड़ाये जाने के बारे में नाटो अधिकारियों ने बया दिया कि यह मिलोसेविच की युद्ध-मशीन का एक महत्वपूर्ण अंग था—यानी एक फौजी ठिकाना था। यह वही हत्यारा तर्क था, जिसके आधार पर जर्मनी-जापान के कई शहरों पर बम गिराये गये थे। उस समय यह तर्क दिया गया था कि यह आबादी युद्ध-सामग्री के उत्पादन में सहयोग कर रही थी।

साम्राज्यवादी अपनी खूंरेजी में किसी भी हद तक जा सकते हैं, कोई भी तर्क गढ़ सकते हैं। वे अपने इस हत्यारे तर्क को विस्तार देते हुए बच्चों को भी “सैन्य” बना सकते हैं, क्योंकि वे युद्ध मोर्चे पर लड़ने वाले अपने पिताओं को खुशियां प्रदान करते हैं। इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए शायद पेयजल प्रणाली को यूगोस्लाविया में निशाना बनाया गया है, क्योंकि मिलोसेविच के सैनिक पानी भी पीते हैं। और शायद इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए वे गर्भवती मांओं की हत्याएं भी करते हैं क्योंकि उनके गर्भ में भविष्य के सैनिक पल रहे होते हैं।

(‘रिवोल्यूशनरी वर्कर’ और ‘टाइम्स आफ इण्डिया’ में प्रकाशित सामग्री के आधार पर)

प्रकाशन सिर्फ व्यवसाय नहीं, देश के सांस्कृतिक और शैक्षिक विकास में भागीदारी भी है

मध्यकालीन भारत में इतिहासलेखन धर्म और राज्य का स्वरूप

सतीशचंद

अनुवादक : एन.ए.खां 'शाहिद'

सतीशचंद्र : जानेमाने इतिहासकार हैं। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफेसर रह चुके हैं। विश्व विद्यालय अनुदान आयोग के उपाध्यक्ष और फिर अध्यक्ष रहे (1972-81) हैं। उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, दिल्ली और राजस्थान विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया है।

इस पुस्तक का प्रस्थान बिंदु इतिहास लेखन का विकेंद्रण है। यही इसका मूल विषय भी है। इसमें यह बताने की कोशिश की गई है कि औपनिवेशिक ऐतिहासिक मानसिकता से मुक्ति के संदर्भ में संसार की सभी जातियों को अपना इतिहास स्वयं लिखना चाहिए। भारत में इसलामी शासकों का चरित्र एक जैसा नहीं रहा है। उनमें भिन्नता और विविधता रही है। भारतीय इतिहास के इस महत्वपूर्ण काल को समझने के लिए इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है। इसलिए पुस्तक में भारत में विभिन्न प्रकार के इसलामी राज्य, मसलन रूढ़िवादी, नरमपंथी, उदार और धर्मनिरपेक्षत राज्यों की स्थापना और उनके विकास पर भी विचार किया गया है।

कपड़े की पक्की जिल्द, डिमाई 8 *vo*, पृ. 192 + viii मूल्य : रु. 225.00

भारतीय राजनीति में गरमपंथ की चुनौती

अमलेश त्रिपाठी

अनुवादक : नवलकिशोर प्रसाद सिन्हा

अमलेश त्रिपाठी भारतीय इतिहास के जानेमाने इतिहासकार, कलकत्ता विश्वविद्यालय में मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय इतिहास के प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष रहे हैं। इनकी अन्य महत्वपूर्ण पुस्तक *ट्रेड एंड फाइनांस इन बंगाल प्रेसिडेंसी* है।

यह एक विचारधारा की कहानी है जो राजनीतिक होने के साथ-साथ धार्मिक भी है। पहली बार यह पुस्तक उस विराट बहस को सही और व्यापक संदर्भ में पेश करने की कोशिश करती है जिसका श्रीगणेश पूर्व और पश्चिम के बीच बहस से हुआ था और राजा राममोहन राय इस बहस के पुरोधा थे। राजनीति में इन दोनों चिंतन धाराओं का प्रतिनिधित्व नरमपंथियों और गरमपंथियों ने किया था। इसी क्रम में टैगोर, तिलक, बिपिन चंद्र पाल, लाजपत राय और अरविंद घोष के बहिष्कार, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज संबंधी विचारों का यहां खुलासा किया गया है।

कपड़े की पक्की जिल्द, डिमाई 8 *vo*, पृ. 275 + xii मूल्य : रु. 295.00

वर्ग विश्लेषण और सामाजिक अनुसंधान

गगलील्मो कारचेदी

अनुवादक : कृष्णकांत मिश्र

गगलील्मो कारचेदी अमरीका के प्रसिद्ध समाजविज्ञानी हैं। समाज और उसमें होने वाली वर्गीय संरचना को लेकर इन्होंने कई शोध पत्र तथा पुस्तकें लिखी हैं।

मार्क्सवादी चिंतन में सामाजिक जीवन के विवेचन में वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका है क्योंकि वहां इसको महत्वपूर्ण कोटि का दर्जा हासिल है। लेकिन सामाजिक अनुसंधान के लिए इतना महत्वपूर्ण होने के बावजूद समाजशास्त्रियों, राजनीतिशास्त्रियों और अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों ने इसकी अकसर उपेक्षा की और लगता है कि दार्शनिकों ने तो इसे पूरी तरह उपेक्षित रखा है। यह पुस्तक इस कमी को पूरा करने की महत्वपूर्ण कोशिश है।

कपड़े की पक्की जिल्द, डिमाई 8 *vo*, पृ. 325 + viii मूल्य : रु. 350.00

विज्ञान की सामाजिक भूमिका

जे.डी. बरनाल

अनुवादक : चंद्रभूषण

जॉन डेस्मोंड बरनाल का जन्म आयरलैंड में हुआ था लेकिन शिक्षा इंगलैंड में हुई। उन्होंने कैंब्रिज विश्वविद्यालय के इमैनुएल कॉलेज में भौतिकी का अध्ययन किया। प्रोफेसर बरनाल ने सामान्य लोगों के लिए अनेक पुस्तकें लिखी हैं। जिनमें उल्लेखनीय हैं : *दि वर्ल्ड, दि फ्लेश एंड दि डेविल; सोशल फंकशन आफ साइंस; फ्रीडम आफ नेसेसिटी; दि फिजिकल बेसिस आफ लाइफ; साइंस एंड इंडस्ट्री इन दि नाइनटींथ सेंचुरी, वर्ल्ड विदाउट वार* तथा चार खंडों में प्रकाशित *साइंस इन हिस्ट्री।*

पिछले कुछ दशकों के दौरान विश्व में जो घटनाएं घटी हैं, उनके भयावह नतीजों को देखते हुए यह जरूरी हो गया है कि विज्ञान और समाज के आपसी रिश्तों की सावधानी से समीक्षा की जाए। लोग पहले मानते थे कि वैज्ञानिक खोजों के नतीजों के चलते मानव जीवन-स्तर और गुणवत्ता में धीरे-धीरे सुधार होगा। एक सीमा तक ऐसा हुआ भी है। लेकिन इसी दौर में विश्व के लोगों ने दो महायुद्धों की विभीषिका भी झेली है। समूची दुनिया को विश्वव्यापी संकट से गुजरना पड़ा है। पुस्तक में कुछ ऐसे उपायों की ओर इशारा भी किया गया है जिनको अपनाने से विनाशकारी उपयोगों से हटाकर विज्ञान का रचनात्मक इस्तेमाल किया जा सकता है।

कपड़े की पक्की जिल्द, डिमाई 8 *vo*, पृ. 450 (लगभग) (प्रकाश्य)

सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार

अंतोनियो ग्राम्शी

अनुवादक : कृष्णकांत मिश्र

अंतोनियो ग्राम्शी की गिनती असाधारण प्रतिभा के वामपंथी दार्शनिक चिंतकों में होती है। ग्राम्शी ने अपने जीवन का लंबा समय इटली की जेलों में बिताया था। फासीवादी सरकार ने उन पर तरह-तरह के अभियोग लगा कर उन्हें जेल में डाल दिया था। उनके लेखन में जो कुछ महत्वपूर्ण है, उसका अधिकांश जेल में ही लिखा गया था।

यह पुस्तक अंग्रेजी में प्रकाशित अंतोनियो ग्राम्शी की प्रसिद्ध रचना *सेलेक्शन्स फ्राम दि प्रिजन नोट बुक्स* का हिंदी अनुवाद है। इसमें ग्राम्शी के चिंतन की लगभग सारी बुनियादी बातों का सामावेश हैं। पुस्तक को पढ़ते समय ग्राम्शी के सांस्कृतिक और राजनीतिक सरोकारों से पाठक का सामना होता है। ये सरोकार उनके संपूर्ण चिंतन के बुनियादी सरोकार हैं।

कपड़े की पक्की जिल्द, डिमाई 8 *vo*, पृ. 450 (लगभग) (प्रकाश्य)

भारतीय सामंतवाद

द्विजेंद्रनारायण झा

अनुवादक : आदित्यनारायण सिंह

द्विजेंद्रनारायण झा ने पटना विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में 1975 तक अध्यापन किया है। इस समय वे दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में प्रोफेसर हैं।

प्राचीन भारत की सामंती सामाजिक संरचना देशी-विदेशी इतिहासकारों के बीच जीवंत बहस का विषय रही है। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि यह पूरी बहस अंग्रेजी में चली है और इस बहस ने हिंदीभाषी इलाकों के छात्रों और इतिहास के अध्यापकों के बीच कोई हरकत पैदा नहीं की है। पुस्तक में सामंती व्यवस्था में भारतीय समाज के संक्रमण; सामंती समाज के संरचनात्मक स्वरूप; उसके अंतर्विरोधों और कला, साहित्य और धर्म आदि क्षेत्रों में इससे जुड़ी विचारधाराओं के विकास को रेखांकित किया गया है।

कपड़े की पक्की जिल्द, डिमाई 8 *vo*, पृ. 475 (लगभग) (प्रकाश्य)

विस्तृत जानकारी के लिए लिखें
ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, जी-82, विजय चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092

स्वर्णिम अतीत, स्वर्णिम भविष्य

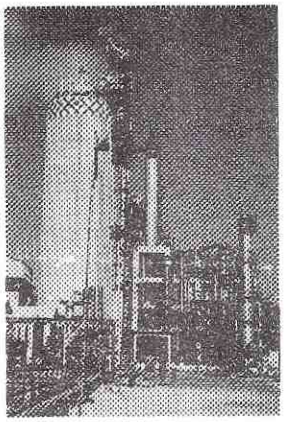

सपना जो साकार हुआ।

उर्वरक उद्योग का मुख्य उद्देश्य, भारत को उर्वरक उत्पादन के क्षेत्र में आत्म–निर्भर बनाना था। फसल उत्पादन बढ़ाने के लिए आव यक पोषक तत्वों की सही समय पर तथा वांछित मात्रा में उपलब्धता सुनिश्चित करने के उद्देश्य से 1967 में इफको की स्थापना हुई ! इफको के चार अत्याधुनिक संयंत्र गुजरात में कलोल व कांडला तथा उत्तर प्रदेश में फूलपुर व आंवला में कार्यरत हैं। इतना ही नहीं, इफको ने विश्व में सबसे बड़ी उर्वरक उत्पादक संस्था बनने के लिए अपनी ''विज़न फॉर टुमारो'' योजना को कार्यरूप देना आरम्भ कर दिया है। इफको ने सहकारिता के विकास में सदैव उत्कृष्ट भूमिका निभाई है। गुणवत्तायुक्त उर्वरकों की आपूर्ति से लाखों किसानों को हर वर्ष भरपूर फसल का लाभ प्राप्त हो रहा है तथा भूमि की उर्वरा शक्ति भी बरकरार रखी जा सकी है।

इफको सही अर्थों में भारतीय किसानों का तथा सहकारिता का गौरव है।

इफको

इंडियन फारमर्स फर्टिलाइजर कोआपरेटिव लिमिटेड
34, नेहरू प्लेस, नई दिल्ली–110 019

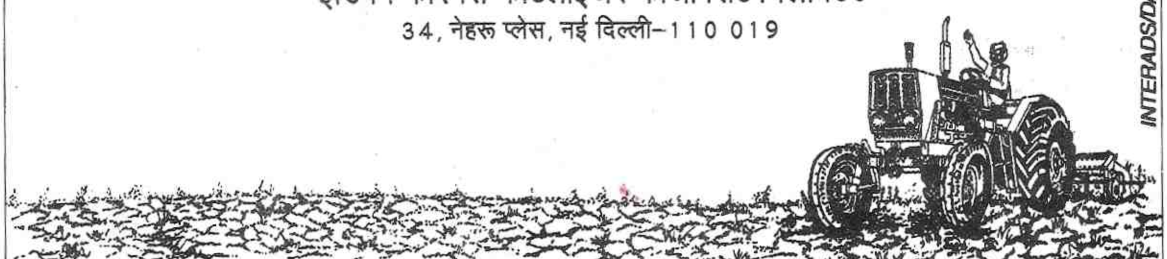

INTERADS/D/98

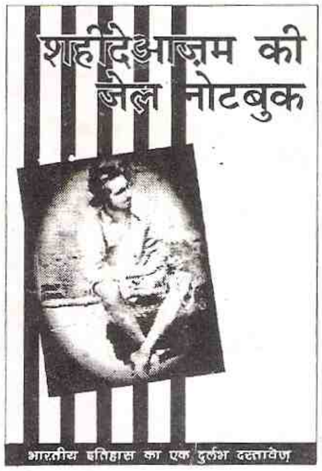

शहीदेआजम भगतसिंह की जेल नोटबुक

एक महान विचारयात्रा का दुर्लभ साक्ष्य

भारतीय इतिहास का एक दुर्लभ दस्तावेज

हिन्दी में पहली बार प्रकाशित

पृष्ठ : 200, मूल्य : 50 रुपए (पेपरबैक) 100 रुपए (हार्डबैक)

परिकल्पना की दो नई प्रस्तुतियां

अब इंसाफ होने वाला है
उर्दू की प्रगतिशील कहानियों का प्रतिनिधि चयन
सम्पादन एवं अनुवाद : *शकील सिद्दीकी*
पृष्ठ 240 मूल्य : 75 रु. (पेपरबैक) 150 रु. (सजिल्द)

मध्यवर्ग का शोकगीत
हान्स माग्नुस एंत्सेंसबर्गर की कविताएं
सम्पादन एवं अनुवाद : *सुरेश सलिल*
पृष्ठ 72 मूल्य : 25 रु. (पेपरबैक) 50 रु. (सजिल्द)

परिकल्पना की अन्य पुस्तकें

दुर्ग द्वार पर दस्तक
कात्यायनी
(द्वितीय संशोधित संस्करण)
पृष्ठ 152, मूल्य : 50 रु. (पे.बै.) 120 रु. (हा.बै.)

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट : इकहत्तर कविताएं और तीस छोटी कहानियां
मूल जर्मन से अनुवाद : *मोहन थपलियाल*
(द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण)
पृष्ठ 148, मूल्य: 60 रु. (पे.बै.), 125 रु.(हा.बै.)

लहू है कि तब भी गाता है
पाश
(पाश के सभी संग्रहों से चयनित प्रतिनिधि कविताओं का संकलन)
संपादन : *चमनलाल व कात्यायनी*
पृष्ठ176, मूल्य: 75 रु. (पे.बै.), 150 रु.(हा.बै.)

क्रान्ति का विज्ञान
लेनी वुल्फ
पृष्ठ 36 मूल्य : 10 रुपये

विचारों की सान पर
भगतसिंह और उनके साथियों के चुने हुए दस्तावेज़, पत्र और वक्तव्य
सम्पादक : *सत्यम वर्मा*
पृष्ठ 104 मूल्य : 20 रु.

समर तो शेष है
इप्टा के दौर से अबतक के चुनिन्दा क्रान्तिकारी समूहगीतों का अनन्य संकलन
सम्पादन : *सत्यम वर्मा व कात्यायनी*
पृष्ठ 144 मूल्य : 35 रु. (पे.बै.), 75 रु. (सजिल्द)

माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य
रेमण्ड लोट्टा के दो महत्वपूर्ण लम्बे लेखों का संकलन
सम्पादक : *विश्वनाथ मिश्र*
पृष्ठ 104, मूल्य : 25 रु. (पे.बै.). 50 रु. (सजिल्द)

राहुल फाउण्डेशन के प्रकाशन

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र
–कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स रु. 10.00

अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन
–एल्बर्ट रीस विलियम्स रु. 75.00

दायित्वबोध पुस्तिका श्रृंखला

अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं
–दीपायन बोस रु. 10.00

समाजवादी की समस्याएं, पूंजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति
–शशिप्रकाश रु. 12.00

क्यों माओवाद
– शशिप्रकाश रु. 10.00

बिगुल पुस्तिका श्रृंखला

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा
– वी. आई. लेनिन रु. 5.00

मकड़ा और मक्खी
– विल्हेल्म लीब्कनेख्त रु. 2.00

ट्रेड यूनियन काम के जनवादी तरीके
– सर्जी रोस्तोवस्की रु. 2.00

राजनीति अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (खण्ड-एक)
(पेपरबैक) रु. 60.00, (हार्डबैक) रु. 125

आगामी प्रकाशन

राजनीति अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (खण्ड-दो)
माओ त्से-तुङ की रचनाओं के उद्धरण
महान बहस • The Great Debate
Selected Readings from Chairman Mao Tse-Tung (हिन्दी व अंग्रेजी में)
महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति : चुने हुए दस्तावेज
Students' Marx – *by Edward Aveling*

परिकल्पना व राहुल फाउण्डेशन की पुस्तकों के मुख्य वितरक
जनचेतना
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर
लखनऊ-226 010 ✆ 308896